आत्मानुभूति

आत्मानुभूति

(परमतत्व अक्षरब्रह्म का साक्षात्कार)

प्रणेता

गिरीश कुमार चौबे "गोवर्द्धन"

"श्री प्रभुकृपा सहयोग"

३७ क्षपणक मार्ग, दशहरा मैदान

अवन्तिकापुरी (उज्जैन)

भारत ४५६०१०
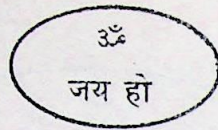
आत्मानुभूति

(परमतत्व अक्षरब्रह्म का साक्षात्कार)

प्रकाशकाधिन -सुरक्षित

प्रथम संस्करण

रामनवमी सम्वत् - २०५२

दिनांक ९-४-१९९५ रविवार

भेंट - ११० रुपये (डाक व्यय अलग)

प्रकाशक :

गायत्री प्रकाशन

१५ पत्रकार कालोनी रतलाम ४५७००१

दूरभाष २२५९७

संयोजन -

सेठिया ग्राफिक्स, रतलाम

मुद्रक :

छाजेड प्रिंटरी प्रा. लि.

स्टेशन रोड रतलाम (म.प्र.)

सम्पर्क :

अक्षर अनुसंधान

"श्री प्रभुकृपा सहयोग" ३७ क्षपणक मार्ग, दशहरा मैदान

अवन्तिकापुरी (उज्जैन) भारत ४५६०१० दूरभाष - २९८९२

ॐ
जय हो

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

अनुवाद -

जिनकी आकृति अतिशय शान्त होकर स्वयं ही शान्तस्वरूप हैं, जो शेषनाग की शय्या पर विश्राम किये हुए हैं, जिनकी नाभि कमल के समान है, जो देवताओं के स्वामी (ईश) हैं, जो इस समस्त विश्व (सृष्टि) के आधार हैं, जो आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त और अन्तरहित हैं, जिनका वर्ण जल से परिपूरित मेघ के समान श्याम है, जिनके सभी अंग अति सुन्दर और शुभ चिह्नों से युक्त हैं। जिनके नेत्र कमल के समान सुन्दर (कमल - सुन्दरता और निर्लिप्तता का प्रतीक है) और जो साधकों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं उन जन्म - मरण रूप संसारभय का नाश करने वाले सम्पूर्ण लोकों के स्वामी लक्ष्मीपति भगवान विष्णु की मैं वन्दना करता हूँ।
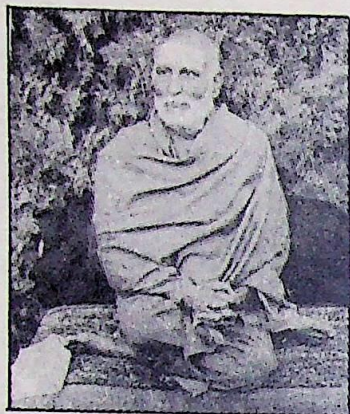
"ॐ नारायण"

शक्तिपाताचार्य, परम्पूज्य सद्गुरुदेव
१०८ स्वामी शिवोम् तीर्थजी महाराज

आशीर्वचन

देव दुर्लभ मानव देह धारण करने का उच्चतम लक्ष्य इसी जीवन में आत्म-साक्षात्कार कर ब्रह्ममय हो जाना है। आत्म-साक्षात्कार या परम् तत्व, पर ब्रह्म परमात्मा से सामुयुज्य सामीप्य प्राप्त कर उनके चरणों में इस जीव भाव का तिरोहण होकर ब्रह्मभाव का जागरण ही मुक्ति साद्दश्या है। इस मुक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिये प्राचीन काल से ही हमारे देश में ऋषि मुनियों ने, व स्वयं परम् प्रभु ने अवतार धारण करके मनुष्य देह में आकर मानव समाज का मार्गदर्शन किया है। हमारे वेद, उपनिषद्, दर्शन व पुराण इस परा विद्या के ज्ञान भण्डार ही हैं। जिस प्रकार भीष्म ने अपनी मृत्यु का रहस्य स्वयं ही बताया था, इसी प्रकार उस परम् तत्व ने अपने प्रागट्य व साक्षात्कार का रहस्य स्वयं ही इन अपौरुषेय ग्रन्थों में प्रकट किया है तथा भक्तों के हृदय से भक्तिमयी काव्य धारा के रूप में प्रस्फुटित किया है।

उस परम् तत्व ने अपने पास आने के लिये किसी एक ही मार्ग का उल्लेख कहीं नहीं किया अपितु नानाविध मनुष्यों के लिये अपनी-अपनी प्रकृति अनुसार नाना प्रकार के मार्ग बता दिये हैं। जिसे जो मार्ग सुगम प्रतीत हो उसका अनुसरण करके उस तक पहुँचा जा सकता है। इसी आधार पर हमारे यहाँ साधना की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हुई। इन साधना पद्धतियों में, ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग, जप यज्ञ, तप यज्ञ, आदि प्रमुख मानी जाती है। विभिन्न दर्शन ग्रंथों में व श्रीमद् भगवद्गीता में इनका वर्णन सूत्र रूप में हैं।

इन सब विधियों के अतिरिक्त हम इन ग्रंथों में व वेदों में "नाद ब्रह्म" का उल्लेख भी पाते हैं। नाद अर्थात् 'शब्द' अर्थात् 'अक्षर'। इस अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार भी परम् तत्व सायुज्य का एक राजमार्ग है जो अत्यन्त सरल, व सुगम है। इसका प्रागट्य इस ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक किया गया है। कवि व गायक भक्त अपनी उच्च अवस्था में नाद ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त कर उस परमानन्द को प्राप्त कर लेते हैं व उसी में डूबे रहते

हैं। परवर्ती काल में जितने भी भक्त साधक हुए हैं उन्होंने भजनों के माध्यम से ही अपने उपास्यदेव की भक्ति की व इसी जीवन में उपास्य देव का साक्षात्कार किया।

प्रत्येक व्यक्ति तो उस स्तर का गायक व कवि नहीं हो सकता तो फिर क्या यह मार्ग केवल कुछ विशेष लोगों के लिये ही है ? यह एक प्रश्न चिन्ह इस पर था जिसे श्री गिरीशकुमार जी चौबे ने उठा दिया है। यह राजमार्ग सर्व सुलभ है और साधक थोड़े से यत्न से ही इसका अनुगामी हो सकता है।

परम तत्व ब्रह्म का स्वरूप ''अक्षर ब्रह्म'' ही है। इसे गुरु नानक देवजी ने ''एक औंकार सतिनाम'' कहकर प्रगट कर दिया है। इससे पूर्व भी श्रीमदभगवद गीता में भगवान वासुदेव ने ओंकार को अपना स्वरूप बताया है। यह ओंकार ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में गुंजायमान होकर इसे गतिवान बनाये हुवे है। ''यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'' अनुसार हमारे इस मानव देह में भी यह 'अक्षर ब्रह्म' सतत् अहर्निश गुंजायमान होकर इस देह को शव से शिव बनाये हुवे है। श्वास प्रश्वास में प्राणों के आवागमन के साथ ही इस नाद्ब्रह्म का प्रवाह भी बना हुआ है। यह क्रिया स्वत: ही सतत् हो रही है। इसमें साधक को कुछ करना नहीं पड़ता केवल उससे अपने मन को जोड़कर द्दष्टाभाव अपना कर उस नाद् ब्रह्म का साक्षात्कार करना होता है।

सद्गुरु से प्राप्त चैतन्य मंत्र का जप करना इसी मार्ग का अनुसरण है। सद्गुरु व्यक्ति की प्रकृति अनुसार मंत्र चुनकर प्रदान कर देते हैं। वही मंत्र सद्गुरु की कृपा से व साधक की श्रद्धा विश्वास व सतत् साधना से उसे अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार करा देता है।

स्वयं जपो व सुनो इस अजपा जप के सरल मार्ग से होकर शब्द के उत्पत्ति स्थान अर्थात् ''अक्षर ब्रह्म'' के राजप्रदसाद में प्रवेश करके उससे साक्षात्कार कर लेने की सरल, सहज व अनुभूत विधि इस ग्रन्थ में प्रस्तुत कर दी गई है जो निश्चित ही आत्म कल्याण में रत साधकों के लिये अत्यन्त लाभ दायक सिद्ध होगी।

यह एक ऐसा मार्ग है जिसे सभी धर्मों के लोग अपने अपने विश्वास के अनुसार अपना कर आत्मानुभूति कर सकते हैं। जैसे उल्टा नाम जपकर श्री वाल्मिकि ब्रह्ममय या ब्रह्म ही हो गये थे।

देश काल, व धर्मों के कृत्रिम बंधनों को दूर कर सभी मनुष्यों को 'अक्षर ब्रह्म' का सच्चा ज्ञाता बना देने की प्रेरणा यह ग्रंथ देवे ऐसी गुरु महाराज कृपा करें।

इति

स्वामी शिवोम तीर्थ
नारायण कुटी, सन्यास आश्रम, देवास

।। श्री सद्गुरुभ्यो नमः ।।

आत्योपदेशक सद्गुरुदेव
श्री माखनलालजी जोशी

आशीर्वचन

मेरा मुझमें कुछ नहीं, ज़ो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे हे मोर ।।

साधक, ध्येय प्राप्ति हेतु साधना के मार्ग में अग्रसर होता है। अभ्यास काल में मार्ग में,, कई अबूझ बातें, विषम स्थितियाँ, आती है। इस पुस्तक में उनमें से कुछ का विवेचन किया गया है।

ध्येय के बारे में विस्तृत टीका है। आध्यात्म के मार्ग पर चलने वाले जिज्ञासु, साधकों के लिये, यह मार्ग-दर्शन करें एवं साधक लाभान्वित हो सकेगा, ऐसा विश्वास है।

माखनलाल जोशी
खाचरौद

ॐ

आशीर्वचन

ऋषिवर सद्गुरु देव
श्री प्रेमनारायणजी उपाध्याय, शाजापुर

परम चैतन्य के लीला विकास के क्रीड़ा - विलास को समझने - बूझने वाली महान् आत्माओं (जैसे भगवान श्रीराम कृष्णदेव, गुरू नानक, संत कबीर, महर्षि रमण, योगी अरविन्द इत्यादि की परम्परा में) का प्रादुर्भाव आवश्यकतानुसार सैकड़ों हजारों वर्षों में लाखों - करोड़ों व्यक्तियों में से किसी एकाध व्यक्ति के रूप में होता है जिनके वचनामृत से क्रिया - कलापों, से अज्ञानान्धकार में डूबी हुई आत्माओं को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होकर अखण्ड दिव्य आनन्द में निमग्न होने का सौभाग्य प्राप्त होता है ।

सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा के परम चैतन्य स्वरूप का अंश प्राणी मात्र में 'आत्मा' रूप से उस परम पिता के समस्त गुण - सम्पदा - विभूति - वैभव एवं शक्ति से सम्पन्न होने पर भी वह उसकी इच्छा शक्ति से उसकी ही चिन्माया की महाशक्ति से अनुप्रेरित हो षड् विकारयुत् क्षण भंगुर भौतिक निकाय (स्थुल प्रकृति के उपादान स्वरुप पंच भूतात्मक मनुष्य शरीर में या अन्य यौनियों के स्थुल शरीर) में मन - बुद्धि अहंकार से संयुक्त हो अपने परमानन्द मय मूल चैतन्य स्वरूप को भूलकर शब्द - रूप - रस- गंध स्पर्श की रस धाराओं में प्रवृत्त हो पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं पंच कर्मेन्द्रियों के माध्यम से विषयोपभोग में रत रहता हुआ तथा प्रकृति के उपादान स्वरूप पंचकोशात्मक मानव शरीर में तादात्म्य होने से अपने आप को परम चैतन्य से पृथक अस्तित्व वाला 'जीवात्मा'

मानकर तथा उसकी नश्वरता में अपने जन्म और अपनी मृत्यु का अभास पाता हुआ कर्तृत्व बोध से ग्रस्त हो कर्मो के दुर्निवार बन्ध में बन्ध कर बारम्बार जन्म लेता हुआ व मृत्यु प्राप्त करता हुआ कर्मो के फलानुसार सुख - दुःख भोगता हुआ सुखी - दुःखी बना रहता है ।

जीव मात्र में प्राण चेतना का उर्ध्वमुखी होना उसका सहज व स्वाभाविक रूप हैं परन्तु वही उर्ध्वमुखी प्राण - चेतना उस परम चैतन्य की योगमाया की प्रबल शक्ति के प्रभाव से अधोमुखी होकर उपरोक्तानुसार जन्म - जन्मान्तरों तक संसार - सागर के अथाह जल में डुबकी लगाती रहती है और दुःखी होने पर त्राण पाने की इच्छा से उस परम चैतन्य की सर्वव्यापी सर्व शक्तिमान प्रबल सत्ता को (चाहे वह साकार हो या निराकार हो) तथा अपने से पृथक मान आर्त होकर उद्धार हेतु पुकारती है तब वह परम सत्ता सूक्ष्म रूप में तत्व ज्ञान के बोध के रूप में अथवा स्थूल रूप में दैवी शक्ति सम्पन्न गुरु रूप में अवतरित होकर उसके मारे बन्धनों को काट - कूट कर उसका उद्धार करती है उसके लिए मुक्ति के द्वार प्रशस्त करती है और उसे अपने मूल रूप का बोध कराकर उसमें उसे अधिष्ठित करती है ।

सन्त सद्गुरु अपने जन्म - जन्मान्तरों के संचित पुण्यों के फलस्वरूप या अपनी साधना एवम् तपस्या की शक्ति के फलस्वरूप या उस परम पिता परमात्मा की असीम कृपा के फलस्वरूप पहले स्वयं शब्द - रूप - रस - गन्ध - स्पर्श की रसधाराओं के माध्यम से प्राप्त विषयोपभोग से निवृत्त होता है फिर स्वयं की मन-बुद्धि-अहंकार से युक्त जीवात्मा की सीमित शक्तियों का व उसकी तुच्छता का उसे बोध होता है । पश्चात जब वह अपने मूल स्वरूप को परम चैतन्य के अंशभूत आत्म स्वरूप को तथा उसके वैभव, शक्ति, ऐश्वर्य को पहचान लेता है तब वह सहज ही प्रकृति के उपादान स्वरूप कारण-शरीर-जन्य समस्त बन्धनों को काट - कूट कर विदेह जनक के समान निसङ्ग भाव से जीवन - मुक्त की भांति निर्भय हो संसार में विचरण करता है और अज्ञान के अंधकार में डुबे हुए आर्त व जिज्ञासु प्राणियों के लिए मुक्ति का द्वार खोल देता है ।

आयुष्मान चिरंजीव गिरीश चौबे भी ऐसी ही दैवी शक्ति सम्पन्न विरल

मुक्त आत्माओं में से एक गृहस्थ सन्तों की परम्परा में मुक्त आत्मा हैं - जिन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी एवम् भूतपूर्व विधायक श्री प्रभुदयालजी चौबे जो एक महान कर्मयोगी, सेवाव्रती एवम् सात्विक वृत्ति के संत सद्‌गृहस्थ हैं के श्रीगौड़ ब्राह्मण समाज के एक उच्च कुल में ग्राम माचलपुर तहसील जीरापुर जिला राजगढ़ (ब्यावरा) म. प्र. में माघ सुदी २ संवत् २००५ को माताश्री पूज्या अ.सौ. केसरदेवी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया। बचपन से ही इनमें दैवी शक्ति का आभास लोगों को मिलता रहता था। आज भी दिव्य आत्माओं से उनका सम्पर्क समय - समय पर होता रहता है। साधना की उच्चतम उपलब्धि निर्विकल्प समाधि में उनकी पूर्ण गति है यही कारण है कि वे आत्म बोध के आनन्द सिन्धु में निमग्न रहकर उस परम चैतन्य के लीला विकास के क्रीड़ा विलास को समझने में समर्थ हैं, कर्त्तत्व बोध के प्रति निःसङ्ग हैं व कर्मो के बन्धन से मुक्त होकर अनासक्त कर्मयोगी की भाँति संसार में विचरण कर रहे हैं एवं प्रभुकृपा से अपने तत्व ज्ञान के बोध से प्राणीमात्र के लिये मुक्ति का द्वार खोलने में तत्पर हैं।

आयुष्मान चिरञ्जीव गिरीश चौबे ने अपने ग्रन्थ "आत्मानुभूति" में जिस प्रकार मन का सर्वांगीण विश्लेषण करते हुए मन के स्वरूप, कार्य, गुण एवम् मन की पञ्च कोशस्थ अवस्थाओं का भोग व मोक्ष के कारक होने से उसके उभयात्मक स्वरूप का विवेचन किया है वह अद्वितीय है अनुपम है अद्भुत है। इसके मनन से प्राण चेतना का उर्ध्वमुखी यात्रा पथ आत्म साक्षात्कार प्राप्त करने हेतु अत्यन्त सुगम व बोधगम्य हो गया है।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ में शब्द ब्रह्म की भी विस्तृत व्याख्या हुई है जिसमें वाक् शक्ति के विभिन्न स्वरूपों का - परा, पश्यन्ति, मध्यमा एवम् वैखरी का विशद् वर्णन है - विशेषकर परावाक् का। दस आधार जो "एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" के लिए आधार बने हुए हैं परावाक् अर्थात् परमतत्व का पूर्ण परिचय है यह एक नवीन दृष्टिकोण की दर्शनशास्त्र में स्थापना है। पश्यन्ति वाक् का वर्णन एवम् मध्यमा वाक् का परिचय अभी तक अज्ञात ही था, जो इस ग्रन्थ में प्रगट हुआ है। यह सर्वथा नवीन स्थापना है जो विद्वजनों के लिए परिशीलन का विषय है। वाक्‌शक्ति के चारों स्वरूपों का पूर्ण परिचय एक साथ

आज तक किसी आर्षग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। यह उस अक्षर तत्व का ही पूर्ण परिचय है जो परमतत्व अक्षर ब्रह्म की अनुकम्पा से ही अभिव्यक्त हुआ है।

अध्यात्म के क्षेत्र में अभी तक इनके द्वारा जितने भी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है उनमें मात्र चिन्तन का चरमोत्कृष्ट रूप ही परिलक्षित नहीं होता है अपितु वे स्वानुभूति की उष्मा से महिमा मण्डित भी हैं। अन्य ग्रन्थों में जिन अनुभूति परक उपलब्धियों को सूत्र-रूप में ऋषियों और महर्षियों ने अभिव्यक्त किया है उनके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन श्री चौबे ने अत्यन्त सहज भाव से सरलतापूर्वक किया है एवम् उन बिखरे से लगने वाले सूत्रों को एक पूर्ण विचार में पिरोकंर प्रस्तुत किया है। विशेषकर महर्षि पतञ्जली के क्रियायोग के सूंत्र की व्याख्या आत्मतत्व के जिज्ञासु सभी साधकों के लिये अनुशीलन योग्य है।

अन्त में मैं इस ग्रन्थ के प्रणेता ऋषिकल्प गिरीश चौबे के ऋषित्व को प्रणाम करते हुए परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे इसी प्रकार सतयुग की पुनरावृत्ति से प्रारम्भ होने वाले नये युग की प्रभात वेला में अपनी वाणी द्वारा, वर्ण विन्यास एवम् शब्द शक्ति द्वारा तथा अपनी आत्मशक्ति द्वारा विश्व के कल्याण की कामना से आत्मबोध का पाञ्चजन्य फूंककर मानवमात्र को अपने स्व स्वरूप का शिव स्वरूप का बोध कराते रहें और उसे अपने स्व स्वरूप में शिव स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित कर पुण्यार्जन करते रहें। मेरा हार्दिक शुभाशिर्वाद तथा ईश्वर की अपार अनुकम्पा उनके पवित्र जीवन को उत्तरोत्तर दिव्य बनाती रहे।

इति शुभम्।

प्रेमनारायण शिवप्रसाद उपाध्याय

ग्राम पाडल्यामाताजी

ते. सारंगपुर जि. राजगढ़ (ब्या.)

जीवन में प्रथम कानून का छात्र होने से अनुभव में आयी जीवन की आपाधापी ने स्वयं को अन्तर्मुखी बनाने का कार्य किया और सहज ही चिंतना का प्रवेश दर्शन के क्षेत्र में हो गया। परिणामस्वरूप कर्म और उसके फल की चिंतन श्रृंखला में सर्वप्रथम कार्य और कारण का सिद्धान्त समझ में आया। प्रगट जगत में व्याप्त घटनाक्रम के संधारण कर्ता इन दो मूल सिद्धान्त 'कर्म और उसके फल' तथा 'कार्य एवं कारण' सिद्धान्त के बोध ने प्रगट जगत के नियामक स्वरूप प्रकृति देवी की शरण लेने को मजबूर कर दिया। इसमें पूज्य पिता का चिंतन और आचरण सहायक तथा पथ प्रदर्शक बना साथ ही पूजनीया माता का जीवन एवं निर्देशन कर्म तथा धर्म के प्रति आस्था का आधार बना। जगत नियन्ता शक्ति प्रकृति देवी की शरण में जाते ही समर्पण भाव को अपना लेने पर जब वह अनुभव होने लगा कि पग-पग पर ही उसका नियन्त्रण कार्य और संरक्षण चल रहा है तो यह अनुभव ही जगत के संधारणकर्ता परम तत्व से जुड़ने का कारण बन गया। इस बीच मनोमय विनोद में ही ध्वनि कंपन को सुनने और उसे पकड़ लेने के प्रयास में, सहज रूप में आराधना के दौरान सेंधवा के **राजराजेश्वर मंदिर** में हुई प्रणव ध्वनि के साक्षात्कार की प्रथम अनुभूति ने जीवन में नया परिवर्तन का कारण बनकर सम्पूर्ण चिन्तन की दिशा ही बदल दी। पग-पग पर शरणागति और उसके साथ कार्य कारण की विशद श्रृंखला की रहस्यानुभूति ने बुद्धि को स्वयमेव ही विश्लेषणात्मक तथा गणवेषणात्मक बना दिया।

चिंतन और जीवन बोध यात्रा के इस क्रम में परम तत्व का सानिध्य मिला प्रेरणापुरुष बनकर सदगुरु के रूप में जो परिवार से जुड़े होकर अपनी सादगी, बौद्धिक सम्पन्नता और आध्यात्मिक अनुभवों की विपुलता के कारण वरेण्य बने हुए हैं परिवार तथा समाज में भी। मिलने और चर्चा करने पर सहज ही आत्मबोध की प्रेरणा देनेवाले ऋषि रूप गुरुदेव श्री प्रेमनारायण जी उपाध्याय वर्तमान निवासी शाजापुर (मध्यप्रदेश) के आध्यात्मिक अनुभवों की गुरुता एवं गूढ़ता ने और उनके परमेश्वर तथा परमाशक्ति के जगत नियन्ता सम्बन्धी प्रत्यक्ष बोध और विचारों ने उत्प्रेरणा का कार्य किया। शिव स्वरूप को जानने का, कल्याणकारी गंगा के अस्तित्व को जानने का अवसर मिला।

इस बीच परम तत्व की कृपा से ही इन्दौर के सेवाकाल (१९७९ से १९८३) में सद्‌गुरु रूप (स्वर्गीय) श्री संतोष जी 'दादा', निवासी तिलकनगर इन्दौर का सानिध्य एवं आध्यात्मिक मार्गदर्शन मिला तथा प्रथम उपदेश जननी शक्ति के प्रति मातृभाव का मिला साथ ही स्व-स्वरूप का परिचय मिला जो अविस्मरणीय होकर जीवन से जुड़ गया। इसके साथ ही स्वर्गीय 'दादा' श्री संतोष कुमारजी जोशी की अनुकम्पा से उनके साथ देवास स्थित 'नारायण कुटी' में विराजित संत शिवोमतीर्थ जी महाराज का आशीर्वाद, कृपा दृष्टि और मौन वरदहस्त योगेश्वर शिव रूप में मिला जो साधना का आधार बना।

इस बोध यात्रा के क्रम में कर्म से जुड़े रहकर हो रही दिव्य अनुभूतियों के बीच मार्गदशक के रूप में स्वयं माँ आल्हादिनी शक्ति या, वह आत्म तत्व स्वयं ही पार्थिव देहधारी गुरु तत्व बनकर 'आपुन आवइ ताहि पहिं'' (श्रीरामचरितमानस १/१५९ ख) की भांति द्वार पर चले आये। सद्‌गुरुदेव श्री माखनलालजी जोशी द्वारा स्व प्रेरणा से ही 'आत्मविज्ञान' अर्थात् सोऽहम् विज्ञान' का उपदेश दिया गया। नित्य ही हो रही दिव्य अनुभूतियों को विराम मिला। 'सोऽहम्' आत्मविज्ञान साधना को अपनाते हुए प्रथम अनुभूति हुई नन्ही डोंगी द्वारा शांत समुद्र में यात्रा करने की, मानों सातों ही समुद्र शांत हो गये हों और नन्हीं सी डोंगी द्वारा यात्रा करते हुए अकेली ही इस समुची धरा का ओर छोर या कोना दर कोना देखा जा सकता हो। ध्रुवान्त तक यात्रा करते हुए कालान्तर में द्वितीय अनुभूति हुई अपनी जननी से वार्ता करते हुए घोष स्वर में 'सोऽहम्' नाद श्रवण की जो नाभि केन्द्र से उठता हुआ और गूँजता हुआ सर्वत्र ही व्याप्त सुनाई दिया। प्रथम श्रवण विस्मयकारक रहा जिसने श्रवण बोध को ही शंका से या भ्रांति से बांध दिया, तत्काल ही पुनः हुई आवृत्ति ने मन को अभिभूत कर दिया साथ ही जननी और जगत जननी के प्रति शरणागत भी। 'सोऽहम्' रूपी आत्म विज्ञान की साधना में नन्हीं डोंगी द्वारा अकेले ही की जा रही यात्रा के क्रम में सहज ही प्राचीन खेल 'कबड्डी' का आध्यात्मिक और दार्शनिक रहस्य जानने को मिला। विस्मयाभिभूत कर देने वाले इस खेल रहस्य में सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्य को अर्थात् कल्प के आरम्भ से कल्प के अन्त तक की गाथा जानने को मिली। इस खेल में सृष्टि क्रम का सम्पूर्ण रहस्य प्रतिबोधात्मक रूप में बंधा हुआ ज्ञात होने पर सहज ही अन्य भारतीय खेलों के रहस्य को जानने की जिज्ञासा हुई। परम तत्व या माँ भगवती उमा की कृपा से जानने को मिले अन्य प्राचीन खेल ''खो-खो'' और ''गुल्ली-डंडा'' के रहस्यों ने स्वयं को भावविह्वल कर दिया और उस जगत नियन्ता शक्ति के प्रति नतमस्तक भी। 'क' 'ख' 'ग' की वर्णक्रम श्रृंखला में गूंथा गया यह रहस्य मूल सूत्रधार तक खींच ले गया और उसने प्रणवाक्षर की मात्राओं से बंधे हुए खेल के अखाड़े में पहुँचा दिया। प्रणवाक्षर ॐ की तीनों ही मात्राओं से बंधे हुए खेल 'अ' से अंगमर्दन जो कि अखाड़े

का प्राण होकर कुश्ती रूप में जाना जाता है, 'उ' से उठक-बैठक जो प्राणतत्व की गतिशीलता का और संधारण तत्व का बोध कराता है तथा 'म' से मलखम्ब के रहस्य ने दिव्यानुभूति से भर दिया। मलखम्ब से जुड़ी 'मुद्गल' के छोटेपन में पिरोये गये विराट तत्व और अहंकार के बोध ने सम्पूर्ण दर्शन सिद्धान्तों को प्रगट कर दिया जो 'क' 'ख' 'ग' की वर्णमाला रूपी खेलों के साथ 'अ' 'उ' 'म' रूपी सूत्र में पिरोया गया है प्रणवाक्षर की चतुर्थ मात्रा प्लुत स्वर रूपी इस सनातन शाश्वत और अविनाशी जगत को तथा स्वयं परमतत्व को प्रतिबोधात्मक रूप में जान लेने के लिये साक्षात्कार कर लेने के लिये या परम तत्व के सृष्टि संरचना के सम्पूर्ण रहस्य को जान लेने के लिये, जिसे सामान्य रूप से जान लेना उपनिषदवाणी में अप्राप्त या असंभव कहा गया है-

''नायमात्मा प्रवचनेनलभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।'' एवं
''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात् ॥''
(मुण्डकोपनिषद ३/२/३ व ४)

तथा इसे प्राप्त कर लेने का मार्ग 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' (कठोपनिषद १/३/१४) बताया गया है। यह छुरे की तीक्ष्ण धार के समान अगमनीय मार्ग ही इन खेलों में आत्म तत्व को या परम तत्व को सहज रूप में प्रगट करने वाला हो गया है। भारतीय खेलों के रहस्य ने प्राचीन ऋषियों के आश्रम में 'समावर्तन' संस्कार समय दिये जाने वाले 'दीक्षा ज्ञान' के रहस्य का बोध कराया जो श्रुत परम्परा आधार पर 'वामनीय विद्या' या 'वारूणी विद्या' के नाम से पिता-पुत्र या गुरु शिष्य परम्परा में दिया जाता रहा है। दीक्षा ज्ञान की यह अनुभूति करवाई परम तत्व द्वारा स्वयं धारण किये गये अपने प्रतिरूपों के द्वारा जो इन खेलों में प्रगट हुआ है। इस अनुभूति क्रम का यह प्रथम प्रस्तुतिकरण है।

खेलों के रहस्य के साथ-साथ हुए हस्तामलक बोध पर आधारित परम तत्व या अक्षर ब्रह्म जिसे आत्म तत्व कहा गया है को जानने का यह विवेचन 'स्वान्त: शान्ताय सुखाय च' स्वयं को ही शिक्षित कर लेने के लिये लिखा गया है जो परम तत्व की साक्षात् उपस्थिति में ही प्रगट हो गया है सहज रूप में। स्वयं को शिक्षित कर लेना ही ऐकमेव स्वार्थ है हमारा इसमें, और यदि हम अनुभव करने के उपरान्त भी अपने सर्वरूप स्वयं स्वरूप को इसकी जानकारी नहीं देते हैं तो फिर यह हमारी स्वार्थ पूर्ति नहीं होगी और न ही यह कार्य स्वान्त: सुखाय रह जावेगा 'न च शान्ताय' ही। अत: देव कृपा से पूर्ण हुआ यह प्रथम प्रयास देव रूप सर्वभूत हाथों में प्रस्तुत है।

इस वर्णन को हमारे द्वारा सहज तथा सुगम बनाने का प्रयास किया गया है और यदि कहीं कुछ छूटा है तो यह हमारी लेखनी की असमर्थता है और है हमारा असामर्थ्य।

हम विज्ञजन पाठक वृंद से प्रार्थना करते हैं कि वे, जो छूट गया है, वह हमें बतावेंगे इस महान् कार्य की पूर्णता के लिये। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया वर्णन सहज रूप से बोधगम्य हो सके अत: प्रत्येक खण्ड के स्वरूप को स्वतन्त्र बनाने का प्रयास किया गया है चन्द्र कलाओं की भांति। इसमें कहीं पुनरूक्ति दोष आया है- तो इस सम्बन्ध में हम यह कहेंगे कि जिस प्रकार हाथ करघा द्वारा वस्त्र बुनते हुए एक ही सूत्र बार-बार एक स्थान पर आता है या बार-बार एक ही रंग का सूत्र आता है किन्तु वह वस्त्र के कलात्मक स्वरूप को तथा पूर्णता को प्रगट करने वाला होता है। एक जैसे फूल और आकृतियाँ ही वस्त्र की सुन्दरता और परिपूर्णता का कारण तथा आधार होती हैं, इस आधार पर यह दोष क्षम्य है।

यात्रा के क्रम में जिस प्रकार यह होता है कि हम लक्ष्य पर या मंजिल पर पहुँचकर मार्ग के अनुभव को स्मरण तो रखते हैं किन्तु अवसर मिलने पर सर्वप्रथम गन्तव्य स्थल का ही वर्णन करते हैं तथा अनुभव की गयी रसानुभूति से ही रसमय हो लेते हैं; फिर इसके उपरान्त ही सहजावस्था को प्राप्त कर मार्ग की अनुभूतियों का वर्णन करते हैं। इस सहज प्रक्रिया के अनुपालन में यह गन्तव्य-स्थल का विवरण ही प्रथम प्रगट हुआ है। मार्ग का अनुभव और स्वयं की मूर्खताओं से बचने का उपाय अर्थात् हमारे प्राचीन भारतीय खेलों के दार्शनिक रहस्यों एवं आध्यात्मिक सूत्रों की जानकारी अगले विचार खण्ड में प्रस्तुत की जा रही है। अपने स्वाभाविक स्वरूप आधार पर ही आगामी विचारखण्ड का 'स्वयंभू' नाम 'दीक्षाज्ञान' हो गया है और इसके साथ ही अपने सहज स्वरूप के आधार पर यह गुरुतत्व के प्रति समर्पित हो गया है।यह परम तत्व की बोधगम्यता को स्वत: स्फूर्त आधार पर प्रगट करने वाला है साथ ही इसके स्वयं प्रसूत नाम की सार्थकता को प्रगट करता है। प्रस्तुत किये जा रहे इस विचार खण्ड का नाम आरम्भ में ''शब्द स्वरूप का साक्षात्कार'' रखा गया था किन्तु अपनी पूर्णता के साथ बदलकर यह स्वयमेव ही अक्षर ब्रह्म से जुड़कर ''परम तत्व अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार'' हो गया है, तथा इसका संक्षिप्त रूप ''आत्मानुभूति'' ही मुखपृष्ठ पर प्रकट हुआ है। हमारे विचार से यह उस परम तत्व को जान लेने या अपने आत्म तत्व का बोध प्राप्त कर लेने के लिये अपने विषय की संपूर्ण संहिता है मानवमात्र के लिये।

उस परमात्म तत्व या अपने आत्म स्वरूप को जान लेने के लिये उस जगदीश्वर की कृपा से ही इस ग्रन्थ में अप्रगट वाक अर्थात् 'मध्यमावाक्' का स्वरूप प्रगट हुआ है। जिसे जान लेने के अवश्यसंभावी परिणामों का वर्णन करते हुए उपनिषदवाणी में, भविष्यवाणी करते हुए कहा गया है कि:-

यदा चर्मदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा:।
तदा देवमविज्ञाय दु:खस्यान्तो भविष्यति ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद ६/२०)

अर्थात् ''जब मानव गण आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे तब उन परमदेव परमात्मा को बिना जाने भी दु:ख समुदाय का अन्त हो जावेगा।'' यह मध्यमा वाक् वैखरी वाक द्वारा अनुभव किये जाने वाले बाह्य आकाश की भांति ही चिदाकाश की अनुभूति कराने वाला है जो 'दृश्य आकाश' को चमड़े की भाँति समेट लेना है या लपेट लेना है। यह युग परिवर्तन का संकेत है और इस संधिकाल में ही यह रहस्य प्रगट हो गया है हमारे लिये उस परमात्म तत्व की कृपा से ही। इस ग्रन्थ में पश्यंती वाक का स्वरूप भी उजागर हुआ है जिसके बारे में उपनिषद वाणी हमें बताती है कि-

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यास्मिन देवा अधि विश्वे विषेदु: ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/८)

अर्थात् ''ऋचाऐं जो ज्ञान से परिपूर्ण होकर अक्षर ब्रह्म का पूर्ण बोध कराती हैं। वे इस विश्व में समस्त आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं, उनमें सभी दैवी शक्तियाँ निहित हैं (निवास करती हैं)। जो इनको नहीं जानता उनके लिये ये ऋचाऐं अर्थात् शब्द ज्ञान क्या करेगा? जो ज्ञान रूपी ऋचा को जान लेते हैं, वे इसमें ही स्थित हो जाते हैं।'' यह परम तत्व की महती कृपा है हमारे लिये।

इस ग्रन्थ के लिये प्रकट हुए विचारों के लिपि रूप का टंकण कार्य कराये जाने के दौरान ही उस परम प्रभु को जान लेने के लिये उस ईशान पुरुष की अनुकम्पा से हमारे प्राचीन संस्कृत वाङमय में ब्रह्मर्षियों द्वारा अपनायी गयी सूत्र शब्दावली, अर्थात् उस परम तत्व के सृष्टि रूप विस्तार का, 'एकोऽहम् बहुस्याम' हो जाने का रहस्य बोध प्रगट कर देने के लिये उपयोग की गयी सूत्र रूप शब्दावली का प्रागट्य या प्रत्यक्ष बोध प्राप्त हुआ है। इस सूत्र रूप शब्दावली या पदावली का उपयोग किया जाकर 'एष: गूढ़ात्मा न प्रकाशते' की आधार भूमि पर हमारे प्राचीन महर्षियों और वेद के रचयिता ऋषि स्वयं ब्रह्मा द्वारा उस एकमेव परमात्मा का सृष्टि रूप हमारे वेद ग्रंथों, उपनिषद वाणी तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रगट किया गया है जिसे जान लेना इस सूत्र शब्दावली के आधार पर दिन के उजाले की भांति संभव हो जाता है जो हमारी प्राचीन मान्यताओं को 'मध्यान्हकालीन सूर्य' की भाँति प्रगट करता हुआ सभी संशयों को छिन्न भिन्न कर देता है। देव कृपा से उद्भूत हुए इन विचारों को विवशता के वशीभूत होकर ही इस ग्रन्थ के साथ पृथक से लघुग्रन्थ रूप में प्रकाशित किया गया है, जिसमें कि उस परम पुरुष का सृष्टिरूपी लीला-क्रीड़ा-विलास सहज रूप में अपनी अभिव्यक्ति पा गया है उस परम तत्व जगदीश्वर की कृपा से ही। इस लघु ग्रन्थ में प्रगट हुए विचारों की उपयोगिता का कार्य हम अपने अग्रज शिक्षाविदों को सौंपते हैं जो प्रगट रूप में समाज के तथा शिक्षा जगत के नियन्ता तथा पथ प्रदर्शक बने हुए हैं इस भारतभूमि पर सम्पूर्ण विश्व की मानवता के लिये। यदि वे इन्हें सार्थक पाते हैं तो यह यात्रामार्ग

की पूर्णता है हमारे लिये । अस्तु ।

यह कार्य दैवी कृपा से दिनांक ३०-४-९४ को आरम्भ होकर दिनांक १७-१-९५ को पूर्ण हुआ है, अत: सर्वप्रथम हम अपने देहधारी माता-पिता एवं पार्थिव देहधारी ''गुरुत्रय:'' को साष्टांग भूमि प्रणिपात् नमन करते हुए तथा लेखनी के प्रवाह को खोलने के लिये की गयी प्रार्थना तथा प्रतिज्ञा के फलस्वरूप इसे प्रत्येक जीव के लिये निर्धारित परम तत्व के क्रियात्मक प्रतिनिधि नियन्ता स्वरूप हमारी राशि के स्वामी देवाधिदेव शनिदेव अर्थात् स्वयं कालपुरुष के चरणों में अर्पित करते हैं । दर्शन और आध्यात्म के गूढ़ रहस्यों के प्रभारी देव स्वयं अपनी कृपा को स्वीकार करें । इस समस्त कार्य का श्रेय हम अपनी जीवन सहचरी के प्रति समर्पित करते हैं जिनके सहयोगमय सानिध्य में यह कार्य संभव हो सका है अनेक जन्मों के बाद इस एक जन्म में । प्रकृति रूपा वे इसे स्वीकार करें ।

इस ग्रन्थ की पूर्णता के कार्य में उस परम तत्व के प्रति हम आभारी हैं जो 'एकदेव' के रूप में जाना जाता है और पूजा जाता है सभी के द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में । और अभारी हैं श्री राजेशकुमार शर्मा, निवासी हरसोदन, अवंतिकापुरी क्षेत्र, उज्जैन के जिन्होंने लगातार पाँच-पाँच या छ:-छ: घण्टे एकासन में बैठकर इस ग्रंथ के टंकण कार्य को पूर्णता प्रदान की है तथा आभारी हैं डॉ मुरलीधर कमलाकान्त चान्दनीवाला रतलाम के जिन्होंने ग्रन्थ के निर्दोष मुद्रण में मार्गदर्शन दिया है और आभारी हैं श्री रमेशचन्द्रजी श्रोत्रिय, गायत्री मुद्रणालय रतलाम के जिनके सहयोग से यह कार्य मूर्त रूप धारण कर सहज ही प्रगट हो गया है आज के इस दिव्य मुहूर्त में । और हम आभारी हैं गीता प्रेस गोरखपुर के प्रति जिनके द्वारा भोर के उजाले की पूर्व बेला में हमारे उपनिषदादि दर्शन ग्रंथों एवं अन्यान्य धर्मग्रंथों को सस्ते मूल्य पर सर्वसुलभ कराया गया है, जिनकी मदद से ही यह कार्य पूर्ण हो सका है । अन्त में हम मानवता के मार्गदर्शक महानसंत परमहंस श्री रामकृष्णदेव को स्मरण करते हुए समर्पित भाव से इस बंगला कहावत को स्मरण करते हुए कहेंगें- ''तोमार इच्छा पूर्ण हउक करूणामय स्वामी।''

हरि ॐ तत्सत् ।

ॐ शान्ति: !! शान्ति: !! शान्ति: !!

श्री चरणों में सेवक
गिरीशकुमार चौबै 'गोवर्द्धन'

रामनवमी विक्रम संवत् २०५२
रविवार दिनांक, ९ अप्रेल १९९५
'श्री प्रभुकृपा सहयोग'
३७, श्रपणकमार्ग, दशहरा मैदान 'अ' योजना
अवन्तिकापुरी (उज्जैन)-४५६०१०
भारत

आत्मीय निवेदन

हम जानते हैं कि प्राचीन काल में हमारे ऋषि गण समाज को दिशा दर्शन देते थे। वे जीवन समृद्धि के साथ ही आध्यात्मिक समृद्धि युक्त, शक्ति सम्पन्न उन्नत मानव समाज की रचना का महत् कार्य भी करते थे। उन ऋषि-मुनियों द्वारा रचित, शास्त्रों का पूर्ण मूल्यांकन आज भी समाज नहीं कर पाया है व अंधों के हाथी की भांति कई विद्वानों ने उसकी व्याख्यायें अपने-अपने दृष्टिकोण से की है व कर रहें हैं।

हम यह भी जानते हैं कि वेद, पुराण, उपनिषद व उसके बाद भगवान् शंकराचार्य, गुरुनानक देव, संत कबीर, तुलसी, सूरदास, रविदास, नामदेव, रसखान, मीराबाई, स्वामी विवेकानन्द, बुद्ध, महावीर आदि भक्त योगियों द्वारा रचित-रचनायें भी अपोरुषेय ही हैं। ये वाणियाँ भी भक्तों के हृदय से भगवद्कृपा प्रसाद के रुप में ही प्रकट हुई हैं। इसी कारण सम्पूर्ण समाज इन वाणियों का आदर करते हुए उन्हें हृदयगंम करता है। इन वाणियों में बहुत से शब्द सूत्र रूप में हैं। जिनकी व्याख्या विद्वान लोग बुद्धि के बल से विद्यालयों-महाविद्यालयों आदि में तथा प्रवचनकार व संत अपने-प्रवचनों के माध्यम से व्याख्या करते हैं। किन्तु कुछ साधक ऐसे भी हो जाते हैं जो साधना करते हुये पूर्ववर्ती रचनाकारों के समकक्ष ही हो जाते हैं। वे उन रहस्यों को पूर्ण रूप में प्रकट करने में समर्थ हो जाते हैं जो इन रचनाओं में सूत्र रूप में समावेशित किये गये हैं।

श्री गिरीशकुमार जी चौबे 'गोवर्धन' पूर्ववर्ती ऋषि परम्परा के ही मूर्तिमंत प्रतीक है। ऋषि-मुनी भी गृहस्थ जीवन जीते हुए साधना करते थे व उसकी उपलब्धियों से समाज को समृद्ध बनाते थे। अपनी आजीविका वे शिक्षण कार्य, पशु पालन जैसे अपने ही साधनों से चलाते थे। आज की बदली हुई स्थितियों में आजीविका के साधनों में परिवर्तन हुआ है। फिर भी सांसारिक कर्म करते हुए भी साधना व उपलब्धि प्राप्त करना, पथ प्रदर्शन ही है।

आपने-अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करके समाज को उन रहस्यों से अवगत कराने का प्रयास किया है जो हमारे वेदों, उपनिषदों व अन्य धर्म शास्त्रों में समाये हुए हैं। इससे मानव समाज के ज्ञान भण्डार में वृद्धि तो होगी ही, साथ ही हम लोग भी उस ज्ञान सम्पदा के ज्ञाता हो जाने पर उसके सच्चे उत्तराधिकारी होने का गर्व महसूस कर सकेंगे। इस प्रगटित वाणी में ''अहं''का विसर्जन होकर ''हम'' शब्द आया है। यह हमारे सब के लिये भी अहंकार के विसर्जन का कारण बने। इति

रमेश श्रोत्रिय

प्रकाशक

आत्मानुभूति

(परम्तत्व अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार)

अनुक्रमणिका

यत्पादपङ्कजपरागसुरागयोगी
वृन्दैर्जितं भवभयं जितकालचक्रैः ।
यन्नामकीर्तनपरा जितदुःखशोका
देवास्तमेव शरणं सततं प्रपद्ये ।

(अध्यात्म रामायण- १/६/७५)

जिनके चरण - कमल - पराग के रसिक, काल - चक्र को जीतने वाले योगिजनों ने संसार भय को जीत लिया है तथा जिनके नाम - कीर्तन में लगे रहकर देवगण दुःख और शोक को जीत लेते हैं, उन आपकी (श्री रघुनाथजी की) मैं निरन्तर शरण ग्रहण करता हूँ ।

❋ समपर्ण ❋
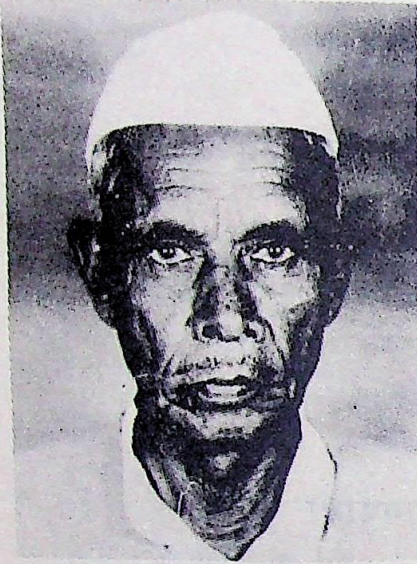
पूज्यपिता श्री प्रभुदयालजी चौबे

पूर्व विधायक व स्वतंत्रता संग्राम सेनानी

पूज्यनीया माताजी

श्रीमती केशर देवी चौबे
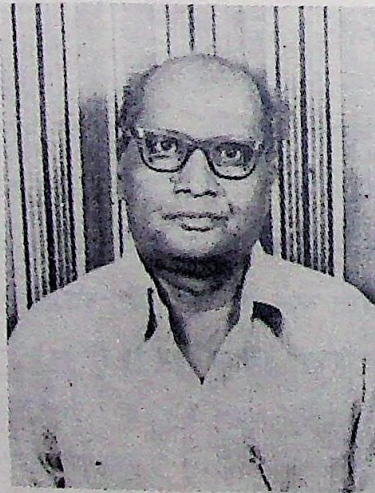
सद्गुरू स्व. श्री संतोष कुमारजी जोशी, इन्दौर

॥ ॐ ॥

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥

अनुवाद -

जो चन्द्रमा, बर्फ और कुंद के फूल के हार के समान धवल हैं, जो शुभ्र वस्त्र पहनती हैं, जिनके हाथ में उत्तम वीणा सुशोभित हैं, जो श्वेत कमलासन पर विराजित हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव जिनकी सदा स्तुति करते हैं और जो सब प्रकार की जड़ता का हरण कर लेती हैं, वे भगवती सरस्वती देवी मेरा पालन करें ।

पाठ विधि अर्थात् साक्षात्कार कैसे करें ?

यह विचार संग्रह युगों-युगों से चली आ रही ज्ञान परंपरा और उसको प्रगट करने वाले ग्रन्थों के रहते हुए परम तत्व की कृपा से प्रसूत (प्रकट) हुआ है। यह समस्त मानव समुदाय को अपने स्वरूप का बोध कराने वाला तथा परमपिता जिसे भारतीय दर्शन में - ''अक्षर ब्रह्म'' या ''परम तत्व'' कहा गया है उसका तात्विक बोध प्राप्त कर लेने की पात्रता हेतु अग्रसर करने वाला है। साथ ही यह समर्पित भाव को अपना लेने वाले साधक के लिए परमतत्व का तात्विक बोध प्राप्त कर लेने में सहायक है।

इस ग्रन्थ के पठन-पाठन की और इसमें समाहित गूढ़ रहस्यों के प्रगटन की आवश्यक शर्त और माँ भगवती शारदा तथा परम तत्व का ही निर्देश है कि यदि पाठक चाहता है कि आत्म जगत् के रहस्य स्वतः ही उसके हृदय और मस्तिष्क में स्फूर्त हों तो आवश्यक है कि वह सबसे पहले अपने स्वयं के ही प्रमुख धर्म ग्रन्थ का पाठ आद्योपान्त कर लें और फिर इस ग्रन्थ का अध्ययन करें एवं इसमें प्रकट हुए तथ्य एवं गूढ़ रहस्यों की सहायता से धर्म के तात्विक रहस्य को समझने और आत्मसात् करने का प्रयास करे। ज्ञान की देवी माँ भगवती शारदा उसके हृदय को उसी प्रकार आलोकित करेगी जिस प्रकार कि भगवान आदित्य देव इस जगत को प्रकाशवान् करते हैं। इस प्रकार साधक इस ग्रन्थ का अध्ययन करता हुआ तथा इसकी मदद से अपने ही धर्म ग्रन्थ के उन अंशों को समझे जो परमतत्व के या धर्म के प्रणेता परमात्मा के रहस्य को जिसे अक्षर ब्रह्म कहा गया हैं, तथा उसके पास पहुँचने और उसको प्राप्त कर लेने का मार्ग बताते हैं। इस प्रकार किया गया अध्ययन स्वतः ही पाठक की ईश्वर संबंधी धारणा को परिपक्व बनाएगा तथा वह जान सकेगा परम तत्व के उस रहस्य को जो सभी धर्म ग्रन्थों में समान रूप से समाया है एवं सभी धर्मानुयायियों की आराधना का विषय बना हुआ है, इस पृथ्वी पर।

भारत भूमि के वंशज - वैदिक धर्म के पालन करने वालों या सनातन धर्म के मार्ग पर चलने वालों या अन्य मतावलम्बियों के लिये आवश्यक है कि वे प्रथम परमात्मा के अक्षर रूप या जगत नियंता स्वरूप को प्रकट करने वाले संवाद ग्रन्थ श्रीमद भगवदगीता को पढ़ ले तथा बाद में विषय

की पूर्णता के लिए साकार ब्रह्म रूप श्रीराम की जीवन गाथा का वर्णन करने वाले किसी ग्रन्थ यथा श्रीरामचरितमानस या वाल्मिकीय रामायण या अध्यात्म रामायण या किसी अन्य रामायण ग्रन्थ का अध्ययन कर लेंगे तो यह ग्रन्थ पाठक के लिए वह आधार भूमि तैयार करने में सहायक होगा जहाँ खड़े रहकर वह उगते हुए सूरज की भाँति परम तत्व के अस्तित्व को हाथ में रखे गये आवलें की भाँति 'हस्तामलक' जान सकेगा।

यदि आप इन आवश्यकताओं का पालन करते हैं तो इस ग्रन्थ का अध्ययन आपके लिये स्वतः ही "एकलव्य" साधना का मार्ग बन जायेगा और यह आत्म तत्व या वह परमात्मा स्वयं ही आपका उपदेष्टा और अनुमंता अर्थात् मार्गदर्शक बन जावेगा पग-पग पर, ईश्वर तत्व का साक्षात्कार कर लेने या परमतत्व अक्षर ब्रह्म को जान लेने के लिए। अक्षर ब्रह्म परम तत्व को प्राप्त कर लेने अर्थात् अपने ही स्व-स्वरूप को जान लेने के लिये।

हरि ॐ तत् सत्।

शब्द और साक्षात्कार

मानव मात्र द्वारा उच्चारित किये जाने वाले शब्द की चार अवस्थाएं होती हैं। हम जो शब्द सुनते हैं या बोलते हैं यह शब्द रूप ध्वनि की चौथी अवस्था है। शब्द ध्वनि की पहली तीन अवस्थाएं अप्रगट अर्थात् गुप्त हैं। यह तीन अवस्थाएं हैं - शब्द ध्वनि की उत्पत्ति, विकास और स्वरूप ग्रहण की। चौथी अवस्था होती है प्रगटीकरण की। शब्द ध्वनि का प्रगटीकरण वागेन्द्रिय अर्थात् जिह्वा द्वारा होता है तथा पहली तीन अवस्थाएं क्रमशः मन, बुद्धि और अहं तत्व (आत्म तत्व) में जुड़ी हुई या इनसे संबंध रखने वाली होती हैं।

१.२ यदि हम शब्द ध्वनि के सम्बन्ध में मन, बुद्धि और आत्म तत्व के विभाजन को नहीं समझ पा रहे हैं तो आरंभ में हम कहेंगे कि उत्पत्ति, विकास और स्वरूप ग्रहण की यह तीनों ही अवस्थाएं अगोचर मन से जुड़ी हुई हैं या मन से संबंध रखने वाली हैं। अब हम क्रमशः इनकी व्याख्या के साथ - साथ इन्हें समझने का प्रयास करेंगे। यदि किसी सामान्य चेतना सम्पन्न व्यक्ति "क" से पूछा जावे कि वह कौन है ? या उसका नाम क्या है ? तो वह किञ्चित देरी किए बगैर उत्तर देता है कि 'मैं अमुक हूँ।' 'मेरा नाम अमुक है।' यह उत्तर देने के लिए उसे सोचने या विचार करने की आवश्यकता नहीं होती है और यदि उससे पूछा जावे कि किसी गणित या ज्यामिति या भौतिकी के प्रश्न का उत्तर क्या है ? तो हम पाते हैं कि वह तत्काल ही उत्तर नहीं देता है। वह विचार करता है, अपने भीतर स्थित ज्ञानकोष में प्रश्न का उत्तर खोजता है, सही उत्तर की शब्दावली का निर्धारण करता है और फिर उत्तर देता है। उत्तर देने में यह सभी क्रियाएं साथ-साथ चलती हैं। जिनका प्रगट रूप से हमें कोई बोध नहीं होता है। सामान्य चेतना युक्त व्यक्ति "क" के संबंध में कही गयी उपरोक्त सभी बातें हमारे और आपके अर्थात् सभी के लिए लागू होती है। यह मन द्वारा बुद्धि की सहायता से शब्दों की अवधारणा की जाकर प्रगट किया गया उत्तर होता है, जिसका मूल कारण या आधार अहं तत्व ही होता है। कभी-कभी हम एक या दो शब्दों में ही किसी विशद प्रश्न या समस्या का सटीक हल प्रगट कर देते हैं। क्या हम कह सकते हैं कि वाणी द्वारा शब्द प्रगट करने के पूर्व हमारे द्वारा कोई क्रिया की गई है ? हम किसी भी प्रकार

की प्रगट क्रिया का वर्णन करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। यह ही कारण है कि शब्द ध्वनि की प्रथम तीन अवस्थाएं अप्रगट कही गई हैं। किन्तु योगी, सद्गुरु, सन्त/या साधक लोग शब्द ध्वनि की इन तीनों ही अप्रगट अवस्थाओं का बोध प्राप्त कर लेने में सफल हो जाते हैं। वे इनका साक्षात्कार कर लेते हैं, जिसे अंतिम अवस्था में या अंततः शब्द ब्रह्म या नाद ब्रह्म या अक्षर ब्रह्म से साक्षात्कार करना कहा गया है।

१.३ (१) यह शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार किस प्रकार होता है, इस प्रक्रिया का हम किञ्चित वर्णन करने का प्रयास करेंगे एक उदाहरण की सहायता से। वह उदाहरण यह है कि जिस प्रकार हम किसी नाट्य सभागार में मंच के सामने बैठकर कोई नाटक देख रहे होते हैं, तो आरंभ में सामने केवल पर्दा नजर आता है तथा पर्दा हटते ही हम दृश्य को देखने में सफल हो जाते हैं। उसी प्रकार यह जिह्वा आवरण को हटाकर शब्द ध्वनि को प्रगट कर देती है, यह वागेन्द्रिय पर्दा हटाने का कार्य करती है और जिस प्रकार नाटक में पर्दा हटाया जाने के पूर्व सभी पात्र अपने-अपने अभिनय के अनुरूप, अपनी-अपनी अवस्थाओं को ग्रहण कर लेते हैं यथा - राजपुरूष सिंहासन पर विराजित हो जाता है, मंत्री तथा अन्य कर्मचारीगण एवं पात्र अपने-अपने अभिनय के अनुरूप अवस्थाओं को ग्रहण कर लेते हैं, उसी प्रकार शब्द ध्वनि की स्वरूप ग्रहण की प्रक्रिया या अवस्था होती है। प्रगट होने के पूर्व यह अपना स्वरूप ग्रहण कर लेती है और जिस प्रकार कोई-कोई दर्शक नाटक से जुड़े हुए व्यक्ति की मदद से पर्दे के भीतर या पर्दे के पीछे जाकर मंच का दृश्य देखने में समर्थ हो जाता है, फिर उसके लिए पर्दे के उठने और गिरने की अवस्था का कोई प्रभाव नहीं रहता है तथा वह प्रत्येक दृश्य को तथा उसकी तैयारी को अबाध रूप से देखने में समर्थ हो जाता है। उसी प्रकार साधक मन के भीतर प्रवेश करके शब्द-ध्वनि के इस स्वरूप ग्रहण की अवस्था को जानने में सफल हो जाते हैं तथा अभिव्यक्त होने के पूर्व की पूर्ण अवस्था को जान लेते हैं। वागेन्द्रिय जिह्वा का स्वामी मन है। यह मन वागेन्द्रिय से पूर्व है। जिस प्रकार नाट्य मञ्च का आंतरिक भाग प्रगट होने के पूर्व ही पूर्ण सज्जा प्राप्त कर लेता है और फिर दर्शकों के लिए पर्दा हटाया जाकर प्रगट हो जाता है, उसी प्रकार शब्द ध्वनि के प्रगटीकरण में वागेन्द्रिय या जिह्वा पर्दा हटाने का कार्य करती है, यह वाक् को अर्थात् शब्द ध्वनि को प्रगट कर देती है। जिह्वा द्वारा प्रगट हुआ वाक् श्रवण का या श्रवणेन्द्रिय कान का विषय होता है। यह प्रगट हुआ वाक् ही वैखरी-वाक् कहा जाता है। यह वैखरी-वाक् ही श्रवणेन्द्रिय कान का विषय होता है। वाक् या शब्द-ध्वनि के प्रगट होने के पूर्व की जो स्वरूप ग्रहण

की अवस्था होती है, वह नाट्य मंच की भाँति दृश्य के प्रगट होने के पूर्व की पूर्णावस्था प्राप्त कर लेने की या स्वरूप ग्रहण की अवस्था होती है, जिसका बोध प्राप्त करने वाला यह मन ही होता है। प्रगट होने के पूर्व की यह अवस्था ही - **''मध्यमा वाक्''** कही जाती है। यह मध्यमा वाक् की अवस्था होती है। एकल नाट्य मंच अर्थात् एकल द्रष्टा या श्रोता और एकल प्रस्तोता आधार पर यह व्यक्तिशः बोध का अनुभव का विषय होती है, व्यक्तिशः आधार होती है। यह शब्द ध्वनि की क्रमशः चौथी तथा तीसरी अवस्थाएं होती हैं तथा इन्हें ही भाषा शास्त्र में वैदिक वाङमय में वैंखरी वाक् तथा मध्यमा वाक् कहा गया है। प्रगट दृश्य और अप्रगट दृश्य में जो अन्तर होता है, वह ही अन्तर वैंखरी वाक् और मध्यमा वाक् में होता है। वाणी की इन दोनों ही अवस्थाओं के इस अन्तर को नाट्य सभा के मंच आधार पर सहज रूप से जाना जा सकता है।

१.३ (२) अब हम इसके पूर्व की दूसरे क्रम की अवस्था अर्थात् शब्द ध्वनि के विकास की अवस्था को समझने का प्रयास करेंगे। नाट्य मंच के आंतरिक दृश्य संयोजन की प्रक्रिया के आधार पर। किसी नाटक में जिस प्रकार हम उस नाटक के प्रस्तुतीकरण के पूर्व ही पात्रों का, उनके द्वारा पहने जाने वाले वस्त्रों का, धारण किये जाने वाले अस्त्र - शस्त्र या अन्य उपस्कर का और उनके द्वारा बोले जाने वाले संवादों या वाक्यांशों का निर्धारण करते हैं और यदि हम स्वयं नाटक में भाग ले रहे होते हैं या अभिनय कर रहे होते हैं, तो इस पूर्व निर्धारण या तैयारी को अर्थात् हम नाटक के लिये की जाने वाली स्वयं की तैयारी को तो जानते हैं किन्तु अन्य पात्र या पात्रों द्वारा की गई तैयारी को प्रत्यक्षतः जानने में असमर्थ होते हैं। हम केवल स्वअनुभव आधारित अनुमान के आधार पर ही अन्य पात्र या पात्रों की तैयारी का बोध प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हम नाटक की संपूर्ण तैयारी को जानकर भी नहीं जान पाते हैं या इसकी पूर्णता को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होते हैं। इसी प्रकार हम शब्द ध्वनि के विकास की अवस्था को मन के द्वारा जानकर भी नहीं जान पाते हैं, इसका तो केवल बोध ही प्राप्त कर सकते हैं। शब्द स्वरूप के विकास की अवस्था को इसी प्रकार जान लेना चाहिए। यह अवस्था उपनिषद् वाणी में किये गये वर्णन - ''मैं भली-भाँति जान गया हूँ ऐसा नहीं मानता और न ऐसा ही मानता हूँ कि मैं नहीं जानता'' (केनोपनिषद् २/२) के सदृश होती है।

१.३ (३) शब्द ध्वनि के विकास की अवस्था को स्पष्ट करने के लिए हम कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार नाटक में तैयारी की पूर्णता का बोध प्राप्त करके हम शान्त चित्त और स्थिर हो जाते हैं, उसी प्रकार शब्द ध्वनि के विकास की

यह दूसरी अवस्था चित्त में शान्ति के साथ ही आह्लाद को, प्रसन्नता को या आनन्द को जन्म देने वाली होती है। कभी - कभी यह आह्लाद बाह्य आचरण में प्रगट हो जाता है और हम उत्तर देने के पूर्व ही या बोलने के पूर्व ही खिल-खिलानें लगते हैं। यह प्रगट बोध होता है, ध्वनि के विकास की अवस्था का। किन्तु हम इस विकास या इसकी पूर्णता को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होते हैं। अप्रगट अवस्था में भी शब्द ध्वनि का यह विकास क्रम आह्लादकारी और आनंददायी होता है- **"आनन्दमयो अभ्यासात्"** (वेदान्त दर्शन १/१/१२)। जब हम किसी मन्त्र का जप करते हैं और शब्द ध्वनि के विकास की यह प्रक्रिया बार-बार दोहराते हैं तो आह्लाद का प्रगट आनंद हम अनुभव करते हैं, गूंगे के गूड़ की तरह। हम इसकी अनुभूति को बताने में असमर्थ होते हैं हम इसके अप्रगट रूप को बताने में असमर्थ होते हैं और प्रगट रूप को भी। किसी बात को अभिव्यक्त करने के पूर्व ही, प्रगट हुई खिल-खिलाहट का कारण हम बता नहीं सकते हैं या इसे प्रगट नहीं कर सकते। यह हमारी बौद्धिक क्षमता पर निर्भर होता है कि किसी बात पर कोई खिल-खिलाता है या हँसता है तो कोई धीर-गंभीर बना रहता है। आह्लाद का प्रगट होना और धीर-गंभीर बने रहना, यह निर्धारण करना बुद्धि का कार्य होता है। बुद्धि की अवस्था, स्वतंत्र अवस्था या स्वयं चेता अवस्था होती है। यदि हम राग या द्वेष से बंधे होते हैं तो आह्लाद की अनुभूति के क्षण क्षीण हो जाते हैं। हम निरपेक्ष रहकर ही स्वस्फूर्त आह्लाद या आनंद की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं। नाटक की तैयारी निरपेक्ष रूप से की जावे तो यह प्रत्येक पात्र के लिए आह्लादकारी और आनंददायी होती है, किन्तु जिस क्षण हम अपने अभिनय के चरित्र पर अन्य पात्रों की तुलना में विचार करने लगते हैं और दृश्य, स्थिति या चरित्र की न्यूनता या अधिकता पर विचार करते हैं, तो आनंददायी आह्लाद की अनुभूति समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार शब्दोच्चारण करते समय या किसी मंत्र का जप करते समय उद्विग्न मन आनंद की अनुभूति को या शब्द ध्वनि के प्रभाव को समाप्त करने वाला होता है। अतः इस शब्द ध्वनि के विकास की अवस्था की अनुभूति प्राप्त कर लेने के लिए शान्त एवं निर्मलचित्त बने रहने की आवश्यकता होती है। शब्द ध्वनि के विकास की इस अवस्था को ही **पश्यन्ती वाक्** कहा जाता है। इस अवस्था को स्वयं ही अनुभव किया जा सकता है, स्वयं ही इसका बोध प्राप्त किया जा सकता है, यह अभिव्यक्ति का विषय नहीं होती है। यह आनंद का विषय है, अभिव्यक्ति का नहीं। इस अवस्था को ही उपनिषद् वाणी में - वाणी की सीमा समाप्त हो जाना अर्थात् - **"यतो वाचो निवर्तन्ते"** कहा गया है। यह शब्द साक्षात्कार या आत्मस्वरूप के साक्षात्कार या अक्षर ब्रह्म का बोध प्राप्त कर लेने के पूर्व की अवस्था होती है। शब्द ध्वनि

के विकास को तथा बुद्धि से इसके संबंध को इसी प्रकार जान लेना चाहिए।

१.३ (४) अब हम शब्द ध्वनि की प्रथम अवस्था की चर्चा करेंगे। जिसे हमारे द्वारा उत्पत्ति बिन्दु कहा गया है। शब्द ध्वनि को मूल रूप में नाद कहा जाता है। इसकी प्रथम अवस्था क्या है ? इसे जान लेना संभव होता है किन्तु यथारूप अभिव्यक्त करना असंभव कार्य है, यह गूढ़ विषय है। यह अभिव्यक्ति का विषय नहीं, अनुभूति की सामग्री है, बोध की विषय वस्तु है। किसी नाटक में प्रथमावस्था या पूर्वावस्था वह कथानक होता है, जिसे हम अभिनय द्वारा प्रगट करते हैं। यह कथानक नाटक के आरंभ से लगाकर समाप्ति तक प्रगट होकर भी जिज्ञासा और विवेचना का विषय होता है अर्थात् जिस प्रकार कोई दृश्य मात्र देखकर हम नाटक के कथानक को नहीं जान सकते या उसका निर्धारण नहीं कर सकते, इसके लिए दृश्य श्रृंखला की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शब्द ध्वनि या नाद को जानने के लिये सतत् ध्वनि की या सतत् उच्चारण की आवश्यकता होती है और जिस प्रकार नाटक के किसी एक दृश्य को देखकर हम नाटक के कथानक या विषय को नहीं जानते हैं या उसे जान रहे होते हैं उसी प्रकार हम शब्द ध्वनि या नाद ध्वनि को सुनकर भी इसकी मूल अवस्था को नहीं जानते हैं या नहीं जानकर भी जान रहे होते हैं। यह है अंतिम छोर के पूर्व की द्वंद्व अवस्था का द्वैत वाद। यदि हम इस अवस्था को प्राप्त कर भ्रमित नहीं होते हैं, तो अंततः शब्द ध्वनि या नाद के उद्‌गम बिन्दु या उद्‌गम स्रोत का साक्षात्कार कर लेने में उसी प्रकार सफल हो जाते हैं जिस प्रकार की अंकुरण से पहले बीज का साक्षात्कार। हम उस उद्‌गम बिन्दु को जान लेते हैं जहाँ से शब्द ध्वनि या नाद की उत्पत्ति होती है। यह ही है शब्द ब्रह्म या नाद ब्रह्म का साक्षात्कार या कि परम तत्व अक्षर स्वरूप का बोध प्राप्त कर लेना। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिये हम कहेंगे कि जिस प्रकार हम नाटक को देखकर उसके प्रेरणा स्रोत को और नाटककार को जानते है, उसी प्रकार।

१.४ शब्द स्वरूप या नाद ब्रह्म अर्थात् परम तत्व के साकार स्वरूप ईश्वर तत्व का साक्षात्कार और साक्षात्कार करने की प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम पुनः अपने द्वारा अपनाये गये उदाहरण - "नाट्य शाला की दृश्यावली" के आधार पर ही इसकी सुगमता को प्रगट करना चाहेंगे। साक्षात्कार की यह सुगमता इस प्रकार कि - जब हम किसी नाट्य मंच पर यदि परंपरागत प्राचीन **भारतीय नाटक "राजा हरिश्चन्द्र"** देख रहे होते हैं, तो हमारी संतुष्टि या बोध प्राप्ति की भिन्न - भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। संतुष्टि की प्रथम श्रेणी में हम प्रकट दृश्य को देखकर ही संतुष्ट हो जाते हैं अर्थात् नाटक

का बोध प्राप्त कर लेते हैं। यह अवस्था मात्र मनोरंजन से जुड़ी होती है, चेतना के बाह्य धरातल का आधार लिये होती है। दूसरी श्रेणी में नाटक के पात्रों को पहचानने लगते हैं और उनके द्वारा किये जा रहे अभिनय को जानकर, अभिनयकर्ता पात्र से अपनी व्यक्तिगत संलग्नता या परिचय के आधार पर मूल पात्र को अच्छी तरह जानने लगते हैं। इस परिचय के आधार में बुद्धि विश्लेषण का आधार बनती है तथा अभिनय को देखकर हम मूल पात्र की चारित्रिक बारीकियों या विशेषताओं से उस अभिनय की तुलना या साम्यता करने लगते हैं। इस प्रकार हम पात्र से जुड़ने का प्रयास करते हैं, दूसरी अवस्था में। संतुष्टि की या बोध प्राप्त करने की तीसरी अवस्था में हम पात्र और उसके अभिनय से बौद्धिक आधार पर जुड़कर हम उस काल में पहुंच जाते हैं, जब यह कथानक घटित हुआ था। वर्तमान में रहते हुए भी हम कल्पना के धरातल पर उस काल से जुड़ जाते हैं और तात्कालिन परिवेश तथा परिस्थितियों एवं सामाजिक अवस्थाओं को जानने लगते हैं। संतुष्टि की चौथी अवस्था में हम देखे जा रहे अभिनय के माध्यम से स्वयं ही बुद्धि एवं चिन्तन की सीमाओं से आगे जाकर स्वयं को कथानक के साथ उस युग में उपस्थित पाकर समस्त घटनाक्रम को अपने नेत्रों के सामने वास्तविक रूप से घटता हुआ देखते हैं और इस प्रकार संपूर्ण नाटक की सत्यता को जान लेते हैं तथा इसे जानकर स्वयं ही आत्मविभोर हो जाते हैं तथा उसे अपनी आँखों के समक्ष घटता हुआ जानते हैं। यह वर्तमान में रहते हुए, वर्तमान को विस्मृत करके - "राजा हरिश्चन्द्र नाटक" के पात्रों के माध्यम से की गयी बोध यात्रा होती है। इसे और स्पष्ट करने के लिए हम कहेंगे कि यदि हम महात्मा गांधी की दाण्डी यात्रा से स्वयं को जोड़ लेते हैं तो स्वयं को - स्वतंत्रता आन्दोलन में जूझता हुआ पाते हैं और विदेशी कम्पनी के साम्राज्य का सामना पग-पग पर करते हुए पाते हैं वर्तमान जीवन में भी। इसी प्रकार हम साधना द्वारा शब्द ध्वनि या नाद की सहायता से परमतत्व का साक्षात्कार या आत्मतत्व का साक्षात्कार करने में सफल हो जाते हैं और जिस प्रकार सामने देखे जा रहे नाटक अर्थात् - "राजा हरिश्चन्द्र" के "जीवन-सत्य" का एकांश या सूक्ष्मांश देखकर हम उनके विराट स्वरूप को या संपूर्ण जीवन को जान लेते हैं तथा वर्तमान में देखे जा रहे इस सूक्ष्मांश या एकांश के आधार पर हम काल यात्रा करते हुए सतयुग में अर्थात् घटना के वास्तविक समय में पहुँच जाते हैं, तथा इसके अस्तित्व आधार पर हम इसे वर्तमान युग से लगाकर सतयुग तक अर्थात् कथानक के उत्पत्ति काल तक व्याप्त पाते हैं, उसी प्रकार उच्चारित की जा रही ध्वनि या नाद-ध्वनि को अपनाकर हम शब्द ब्रह्म का, अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार करने में सफल हो जाते हैं, जिसे उपनिषद् वाणी में कहा गया है -

"दुरात् सुदूरे तदिहान्तिके च" (मुण्डकोपनिषद् ३/१/७)

अर्थात् "वह दूर से भी दूर है और यहाँ अत्यन्त समीप में भी है" एवं कहा गया है -

"तदेजति तन्नेजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

(ईशावास्योपनिषद् - ५)

अर्थात् - "वे चलते हैं और नहीं भी चलते, वे दूर से भी दूर अर्थात् सबके अन्त में हैं और अत्यन्त समीप भी हैं। वे इस जगत के भीतर परिपूर्ण हैं और इस जगत के बाहर भी सर्वत्र ही व्याप्त हैं।"

१.५ जिस प्रकार नाटक से जुड़ा हुआ कोई भी पात्र हमें या आपको पर्दे के भीतर प्रवेश कराकर या पर्दे के पीछे बैठाकर नाटक की आंतरिक दृश्यावली को अबाध रूप से देखते रहने की अवस्था में लाकर नाटक के प्रस्तुतीकरण की प्रथम दो अवस्थाओं अर्थात् नाटक के प्रकटीकरण और स्वरूप ग्रहण का प्रत्यक्ष परिचय करने का अवसर उपलब्ध करा देता है, उसी प्रकार योगी या सद्‌गुरु संत, जिज्ञासु साधक को शब्द ध्वनि या नाद ध्वनि की प्रथम दो अवस्थाओं का, प्रगटीकरण तथा स्वरूप ग्रहण का प्रत्यक्ष बोध करा देते हैं, जिन्हें वैखरी वाणी तथा मध्यमा वाक् या मध्यमा वाणी कहा गया है और फिर जिस प्रकार हम नाटक के पर्दे के पीछे या भीतर बैठकर या उससे जुड़कर बाहर रहते हुए भी तीसरी और चौथी अवस्था का बोध स्वयं ही प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सद्‌गुरु संत (प्राचीन काल में योगी महर्षि) शब्द ध्वनि या वाक् की पश्यन्ती वाक् और परावाक् अवस्था का संकेत करके आपको स्वयं ही इनका साक्षात्कार कर लेने का मार्ग दिखा देते हैं, जिसे अपनाकर आप स्वयं ही परमतत्व का, आतमरूप ईश्वर का, शब्द ब्रह्म या नाद ब्रह्म का जिसे कि अक्षर ब्रह्म कहा गया है, उसका साक्षात्कार कर रहे होते हैं स्वयं की लगन और प्रयास से जिसे महर्षि पतञ्जलि द्वारा - **"तदा दृष्टः स्वरूपे-अवस्थानम्।"** (योग दर्शन १/३) अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित होकर स्वयं द्रष्टा हो जाना कहा गया है।

१.६ इस साक्षात्कार की अवस्था को और अधिक स्पष्ट करने के लिये तथा अंतिम अवस्था के पूर्व उपस्थित होने वाले भ्रम निवारण के लिये जिसे कि - **"द्विदल"** द्वारा प्रगट किया जाता है या जिसे **"द्वैत रूप"** कहा जाता है - इस अवस्था को पार करने के लिये हम कहेंगे कि जिस प्रकार हम किसी कमरे या मकान के भीतर बैठकर उसके किसी भाग में किसी वस्तु के गिरने के कारण उत्पन्न हुई ध्वनि को सुनकर उसके उत्पत्ति स्थान को और कारक दोनों

को जान लेने में समर्थ होते हैं कि कमरे के किस कोने में या मकान के किस भाग या कोने में कोई वस्तु गिरी है तथा ध्वनि के आधार हम यह भी निर्धारण कर लेते हैं, कि गिरने वाली वस्तु क्या है अर्थात् किस जगह कौन - सी वस्तु गिरी है; वह कौन-सी मुद्रा (सिक्का) है या कौन-सा बर्तन है, उसी प्रकार जब हम शांत और एकाग्रचित्त होकर शब्द ध्वनि के उत्पत्ति केन्द्र का अनुसंधान करते हैं, नाद बिन्दु का अनुसंधान करते हैं, तो इसके प्रेरणास्रोत और कारण को जानने में सफल हो जाते हैं।

१.७ शब्दानुसंधान के लिये या नाद ब्रह्म या शब्द ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये जिसे कि अक्षर ब्रह्म कहा गया है का बोध प्राप्त करने के लिये आरंभ में कोई बाहरी अवलंबन लेकर उसके सहारे भीतर उतरना होता है। फिर शान्त अवस्था को प्राप्त कर या चित्त की एकाग्रता से जुड़कर बाहरी अवलंबन का त्याग कर देना होता है और फिर भीतर निनादित होने वाले नाद को ही सुनना होता है। आरंभ की सूक्ष्मता में नाद की यह क्षीण ध्वनि ही सुनाई देगी, यह सतत् ध्वनि होती है, जिसे कि अनहद नाद कहा गया है। इस सूक्ष्म ध्वनि को पकड़कर चित्त को एकाग्र करते जाना है। जब साधक पूर्णतः एकाग्रचित्त हो जाता है, तब यह सूक्ष्म ध्वनि ही घोष रूप में सर्वत्र व्याप्त रूप में सुनाई देती है/ सुनाई देगी। यह अवस्था साधक को पुनः विमुढ़ता प्रदान करने वाली होती है क्योंकि जब चारों ही ओर नगाड़े बज रहे हों तो कौन प्रथम है ? या कौन कारण है ? यह निर्धारण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। यहाँ हम बच्चों द्वारा खेले जाने वाले खेल - **'नकल खेल'** की मदद लेकर धैर्य को अपनाते हुए इसके स्रोत या उद्गम तक पहुँच सकते हैं या उसे जान लेने में समर्थ हो जाते हैं या फिर यदि आप (साधक) ''शब्द लक्ष्य वेध प्रक्रिया'' (स्मरण करें - राजा दशरथ के हाथों श्रवण का मारा जाना या चन्दबरदायी द्वारा सूचित आधार पर अंधे पृथ्वीराज चौहान द्वारा लक्ष्य वेध की मध्यकालीन घटना) से परिचित हैं तो अवश्य ही सहजता पूर्वक इस शब्द उत्पन्नकर्ता बिन्दु को प्राप्त कर लेने या इसे खोजने में सफल हो जावेंगे तो इसका कारण स्वतः आपके सामने प्रगट हो जावेगा और आप खड़े होंगे - आपको समाहित करते हुए सर्वत्र व्याप्त प्रणव रूप परमेश्वर के समक्ष जो निरंतर अहर्निश निनाद कर रहा है और गा रहा है भैरवी गान चौबीसों घंटे तथा दे रहा है प्रेरणा - ''उतिष्ठित जाग्रत्'' की और करने योग्य कर्म को अपना लेने की। जिसे उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुति देवी कहती हैं -

''उतिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्।'' (कठोपनिषद् १/३/१४)

अर्थात् "उठो, जागो, उस परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त कर लो, जान लो महापुरूषों के पास जाकर।"

१.८ अब पुनः मूल से अभिव्यक्ति की ओर आना है। यह यात्रा वृत्त की पूर्णता प्राप्त करना है, जिसे महर्षि पतञ्जलि द्वारा - **'कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा'** (योग दर्शन ४/३४) अर्थात् 'स्व स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य प्राप्ति है' कहा गया है या जिसे सांख्यदर्शन में परमतत्व का बोध प्राप्त कर लेना ही - **"ज्ञानान्मुक्तिः"** (सांख्यदर्शन ३/३२) अर्थात् 'ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर लेना कहा गया है।' यह यात्रा वृत्त की पूर्णता है।

"इस प्रकार मध्यमा वाक् को जान लेने के साथ दो ही कदम की दूरी पर होता है - परम-तत्व को प्राप्त कर लेना, अक्षर ब्रह्म को जान लेना या आत्म रूप ईश्वर तत्व का साक्षात्कार कर लेना। दो ही कदम की दूरी पर होता है ईश्वर तत्व को प्राप्त कर लेना, ईश्वर तत्व का साक्षात्कार कर लेना।

"हरि ॐ तत् सत्।"

शिव - स्तुति

तृषितश्चिरमस्मि सुधां हित मे -
अच्युत चिन्मय देहि वदान्यवर ।
अतिमोहवशेन विनष्टकृतम्
जनतारण तारय तापित्नकम् ॥

अनुवाद -

हे अच्युत, हे चिन्मय, हे उदारचूड़ामणि, हे कल्याण स्वरूप ! मैं अत्यन्त तृषित हूँ, मुझे ज्ञानरूप अमृत का पान कराइये । मैं अति मोह के वशीभूत होकर नष्ट हो रहा हूँ । हे जीवों का उद्धार करने वाले, मुझ संसार संतप्त को पार लगाइये ॥

एकाग्रता

एकाग्रता संकल्प की आधार भूमि और संकल्प सफलता का पोषक है। एकाग्रता और संकल्प मिलकर सफलता रूपी सिक्के का निर्माण करते हैं। एकाग्रता और संकल्प को अलग-अलग रखकर हम इनकी अमोघ शक्ति का परिचय अच्छी तरह प्राप्त नहीं कर सकते। एकाग्रता की शिक्षा बालक को बचपन से ही दी जाती है। हम उससे कहते हैं मन लगाकर पढ़ो किन्तु जब हम स्वयं एक के बाद एक असफलता प्राप्त करते हैं, तो हम अपने प्रयासों का मूल्यांकन नहीं करके भाग्य को कोसने लगते हैं। हम यह विचार नहीं करते कि हमारे प्रयास लक्ष्य के प्रति कितने समर्पित रहे हैं ? लक्ष्य के प्रति समर्पण ही संकल्प है। यदि हमने स्वयं को लक्ष्य के प्रति समर्पित कर दिया है तो बंसत ऋतु का संदेश देने वाले 'मलय पवन' की भांति एकाग्रता अपनी सुरभि के साथ स्वत: चली आती है और हम बढ़ते हुए कदमों के साथ उसका अनुभव करने लगते हैं।

२.२ संकल्प बीज स्वरूप है तो एकाग्रता उसका पौधा। संकल्प और एकाग्रता में हम किसे प्रमुख कहें इसका निर्धारण करना उतना ही टेढ़ा कार्य है जितना यह निर्धारण करना कि पहले वृक्ष पैदा हुआ या कि उसका बीज। हमें मात्र यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि बीज है तो उसका पौधा होगा और पौधा रहेगा तो ही बीज प्राप्त हो सकेगा।

२.३ किसी भी कार्य का सम्पन्न किया जाना मन की एकाग्रता पर निर्भर करता है। कार्य आरम्भ करके यदि हम **"एकलव्य"** की भांति उसमें लगे रहें तो ही हम कुशलता पूर्वक कार्य का संपादन कर सकेंगे और सफलता हमारा वरण करने के लिये सदैव तैयार रहेगी। कुशलता पूर्वक किया गया कार्य श्रेष्ठता प्रदान करता है। कार्य की कुशलता एकाग्रता द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। कार्य की इस कुशलता को ही श्रीमद् भगवद्गीता में योग कहा गया है - **"योगः कर्मसु कौशलम्।"** (श्रीमद् भगवद्गीता २/५०) तन्मयतापूर्वक किया गया कार्य ईश्वर आराधना का अंग बनकर नव-सृजन करता है। सृष्टि के विकास कार्य को आगे बढ़ाता है। ईश्वर आराधना के लिये भी चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है। अर्थात् - चित्त की एकाग्रता द्वारा हम कार्य की

सफलता तो क्या ईश्वर का साक्षात्कार भी प्राप्त कर सकते हैं। ईश्वरीय शक्ति का अनुभव कर सकते हैं।

२.४ चित्त की एकाग्रता प्राप्त करना एक महत् कार्य है। इस विषय पर उपदेश भी बहुत सारे मिल जाते हैं, किन्तु सरल शब्दों में जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया गया है कि एकाग्रता रूपी पौधे के लिये संकल्प रूपी बीज आवश्यक है। यह बीज जितना पुष्ट और परिपक्व होगा और जितने स्थिर रूप से हम इसे रोपेंगे अर्थात् धारण करेंगे, यह उतना ही समृद्ध होगा। बार-बार विचार परिवर्तन नहीं करना इसके लिये अनुकूल जलवायु है, दृढ़ इच्छा शक्ति उपजाऊ भूमि है, सभी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को लक्ष्य से जोड़ना उर्वरक है तथा कार्य या लक्ष्य के प्रति श्रद्धा रखना संरक्षक है जो भटकने से रोकती है, यदि हम यह सभी जुटा लेते हैं तो एकाग्रता का पौधा सहज ही लहलहा उठेगा। इसमें लगने वाला सफलतारूपी फल भी अधिक आनंददायी बन जायेगा हमारे लिये। एकाग्रता और संकल्प का यह संबंध अन्योन्याश्रित है। अधिक स्पष्ट करने के लिये हम इसे कांता-कांत स्वरूप कह सकते हैं। एक के साथ ही दूसरे का अस्तित्व है, एक के होने पर दूसरा स्वतः चला आता है और किसी भी एक के अभाव में हम दूसरे को प्राप्त नहीं कर सकते।

२.५ संकल्प में हम बुद्धि का उपयोग करते हैं और एकाग्रता मन का विषय है। मन की एकाग्रता केवल योग साधना या भगवद् प्राप्ति के लिये ही आवश्यक नहीं होती वरन् सामान्य श्रेणी के कार्य ठीक ढंग से संपन्न करने के लिये भी आवश्यक होती है। मन में उठने वाले अनेक विचारों को हटाकर या उन्हें इकाड्ढा करके एक ही लक्ष्य के प्रति जोड़ना मन की एकाग्रता है। इसके द्वारा हम मानसिक शक्ति के बहिर्मुखी विकिरण को रोककर उसे अंतर्मुखी बनाते हैं। मानसिक शक्तियों का यह अंतर्मुखी संचय उसी प्रकार बलशाली होता है, जिस प्रकार कि आधुनिक विज्ञान में विखंडन के पूर्व परमाणु का संचय। किसी भी विषय के प्रति इस प्रकार धारण की एकाग्रता द्वारा हम उसका पूर्ण परिचय 'अथ से इति' तक मानसिक धरातल पर प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

२.६ मन की एकाग्रता कैसे प्राप्त करें ? यह एक विशद विषय हैं। संपूर्ण योग दर्शन मन की एकाग्रता पर ही आधारित है। यहां हम संक्षेप में ही इस पर विचार करेंगे। हम कहेंगे कि यह एकाग्रता दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है, प्रथम - आचरण द्वारा या बार-बार का प्रयास अर्थात् अभ्यास करके, दूसरे - बुद्धि का उपयोग कर सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को लक्ष्य के

प्रति जोड़कर। आचरण द्वारा एकाग्रता प्राप्त करने का उदाहरण है - जिस प्रकार कि शिक्षा प्राप्ति में पाठ के स्मरण हेतु बालक का उच्च स्वर में पठन-पाठन करना। जोर से बोलना या उच्च-स्वर में उच्चारण करना शिक्षार्थी के चित्त को स्वाभाविक रूप से एकाग्रता प्रदान करता है। वयस्क व्यक्ति द्वारा मन की एकाग्रता अपनी समस्त कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को एक ही लक्ष्य प्रति जोड़कर किस प्रकार प्राप्त की जाये, इसे हम निम्न उदाहरण से समझ सकते हैं - जिस प्रकार कि एक कुशल नर्तकी मंच पर नृत्य प्रस्तुत करते समय स्वयं को नृत्य के प्रति प्रतिबद्ध कर, वादक द्वारा दी जा रही थाप, आचार्य के बोल, नुपूरों की खनक, पैरों की धमक, उपस्थित दर्शकों के हाव-भाव एवं स्वयं के शरीर संचालन सभी में एक साथ तालमेल बिठाकर मनभावन नृत्य प्रस्तुत करने में सफल रहती है उसी प्रकार हम भी एकाग्रता के रथ पर सवार होकर समग्रता को प्राप्त कर सकते हैं। शीघ्र ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। एकाग्रता ही समग्रता की जननी है। एकाग्रता ही समग्रता की जननी है।

(हरि ॐ)
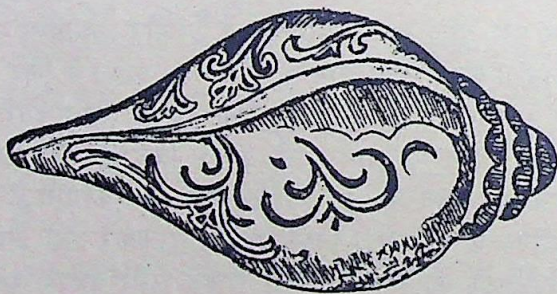
ध्यान

अपने सामान्य स्वरूप में ध्यान शब्द व्यापक अर्थ रखता है। यह जीवन में प्रत्येक कार्य की सफलता से जुड़ा हुआ है। जब हम किसी बालक को पढ़ाई में कमजोर पाते हैं तो कहते हैं कि इसका पढ़ाई में ध्यान नहीं है। जब कोई राह में चलते हुए ठोकर खाता है तो हम पूछते हैं ध्यान कहाँ था ? सफलता हेतु मार्ग दर्शन के रूप में कहा जाता है - ध्यान लगाकर काम करो। रास्ते में खतरे से सावधान करने के लिये हम कहते हैं - नदी ध्यान पूर्वक पार करना या वाहन सर्तकता से चलाना आदि-आदि। इस प्रकार हम पाते हैं कि ध्यान में लगन, निष्ठा, समर्पण, सावधानी सभी कुछ निहित है। यह ध्यान का सामान्य स्वरूप है।

३.२ किंतु जब हम योग-साधना के क्षेत्र में उतरते हैं और ध्यान शब्द पर विचार करते हैं तो वहां हम ध्यान शब्द का स्पष्ट, गूढ़ और पारिभाषिक स्वरूप पाते हैं। यहां ध्यान शब्द की व्याख्या करने के लिये हमें कहना पड़ेगा कि ध्यान के लिये आलंबन चाहिए। यह आलंबन बाह्य हो सकता है या आंतरिक भी। अध्यात्म साधना में बाह्य आलंबन देव मूर्ति, नासिका का अग्रभाग या सुदूर-दूर स्थित नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य, ध्रुव तारा आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार आंतरिक आलंबन - भ्रू - मध्य भाग, नाभि केंद्र, हृदय केंद्र, मूलाधार स्थान, मस्तिष्क में स्थित सहस्रार केन्द्र या गुरू मंत्र कुछ भी ध्यान का आलंबन हो सकता है। योग दर्शन में महर्षि पतञ्जलि द्वारा इस आलंबन से चित्त की वृत्ति को तेल धारावत् जोड़ना या तल्लीन हो जाना ही ध्यान कहा गया है - **''तत्र प्रत्ययेकतानता ध्यानम्''** (योग दर्शन ३/२)। सांख्य दर्शन के अनुसार राग रहित हो जाना या रागद्वेष से मुक्तावस्था ही ध्यान कही गई है - **''रागोपहतिर्ध्यानम्''** (सांख्य दर्शन ३/३०)। इस प्रकार राग रहित होकर तेल धारावत आलंबन से जुड़ने की अवस्था ही ध्यान की अवस्था होती है।

३.३ ध्यान की क्रिया नेत्र बंद करके की जाना श्रेष्ठ माना गया है। जब हम नेत्र खुले रखकर किसी आलंबन से मन को जोड़कर ध्यान करते हैं तो यह ध्यान न होकर ''त्राटक क्रिया'' होती है, यह दृष्टि को स्थिर करना होता है। इसे ध्यान नहीं कहा जा सकता। त्राटक क्रिया में दृष्टि की स्थिरता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। यह सम्मोहन की क्रिया है। यह क्रिया चिंतन

को प्रभावित नहीं करती है। यह जड़ता की स्थिति है जबकि ध्यान मानसिक क्षमता के विकास का साधन है, मन की शक्तियों के विकास का साधन है।

३.४ ध्यान शब्द में संस्कृत शब्द 'धीः' तथा 'यान' समाहित है। 'धीः' का अर्थ है मेधा शक्ति या बुद्धि की धारणा शक्ति और 'यान' का अर्थ है वाहन। अर्थात् यह वह क्रिया है, जिसमें बुद्धि ही वाहन बन जावे, ध्याता के लिए। या यों कहें कि बुद्धि को वाहन बनाकर मन द्वारा आगे बढ़ने की क्रिया ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान शब्द को परिभाषित करते हुए या इसकी व्याख्या करते हुए हम कह सकते हैं कि - **"धीः यानेन् धावति इति ध्यानः ।"** विश्लेषणात्मक, गवेषणात्मक बुद्धि को लेकर या मेधा शक्ति को वाहन बनाकर मानसिक धरातल पर आगे बढ़ने की क्रिया ही वास्तविक रूप में ध्यान है। जब हम ध्यानस्थ होते हैं तो यह हमारी चिंतन शक्ति को विकसित करना होता है। मेधा शक्ति की क्षमता को बढ़ाना है, इसका विकास करना है। यह बुद्धि को विकसित करने या मेधा शक्ति को पुष्ट करके, बोध शक्ति को बढ़ाना है जो अंततः संशय का निवारण करके चित्त को शांत करती है, आनंदमय बनाती है।

३.५ ध्यान का कोई न कोई आलंबन होता है। यह आलंबन ही धारणा का विषय होता है। जिस समय ध्यान और आलंबन का विषय अर्थात् ध्यान और धारणा दोनों मिलकर एक जीव हो जाते हैं या जिस समय चित्त को हम ध्यान प्रक्रिया द्वारा आलंबन से या धारणा से एकीकृत कर देते हैं तो यह रूपांतरित होकर समाधि अवस्था में परिवर्तित हो जाना है। यह ध्यान और धारणा मिलकर ही समाधि रूपी त्रिवेणी संगम का सृजन करते हैं। समाधि अवस्था - ध्यान, धारणा और ध्याता का एक हो जाना है। जिस प्रकार इच्छा, क्रिया और ज्ञान कर्म विषय की बोध प्राप्ति का स्रोत होते हैं इस प्रकार ध्यान, धारणा और समाधि आध्यात्मिक रहस्यों को जानने का स्रोत या आत्मतत्व को जानने का आधार होते हैं। जब हम विचारयुक्त विषय को लेकर या किसी विषय वस्तु को आलंबन बनाकर उसकी धारणा में ध्यानस्थ होकर एकाग्रचित्त हो जाते हैं तो यह हमारी सविकल्प समाधि होती है। इसे सबीज समाधि अवस्था भी कहा जाता है। यह कार्य सामान्य अवस्था वाले मन का होता है। समाधि की अन्य अवस्था निर्बीज समाधि या निर्विकल्प समाधि की होती है। यह अवस्था प्रशिक्षित मन द्वारा प्राप्त की जाती है। यहां हम प्रशिक्षित मन को समझने के लिये या प्रशिक्षित मन की अवस्था को प्रकट करने के लिए कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार खुले मैदान में दौड़ना सीख लेने पर हम बंद कमरे में भी दौड़ने की क्रिया करने में समर्थ हो जाते हैं और फिर मैदान की आवश्यकता नहीं रहती है, इसी प्रकार मन की

गतिशीलता को क्रियाशीलता में बदलकर एक ही जगह स्थिर होकर गतिशील बने रहना प्रशिक्षित मन का कार्य होता है। प्रशिक्षित मन गतिशील होकर भी एक ही जगह स्थिर हो जाता है। यह अचल होकर परम तत्व से जुड़ जाना है जो स्वयं सूक्ष्म और अचल होकर गतिवान है। जिसे अभिव्यक्त करते हुए श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है **"स्थाणुरचलोऽयं"** (२/२४)। जब प्रशिक्षित मन द्वारा विषय या आलंबन को छोड़कर हम विचार रहित होकर या विषय रहित होकर ध्यान प्रक्रिया अर्थात् शून्य धारणा को लेकर समाधि अवस्था में उतरते हैं, तो यह निर्विकल्प समाधि अवस्था होती है, जिसे निर्बीज समाधि भी कहा गया है। यह अवस्था बोध प्रदान करने वाली न होकर शून्य में विलीन होने की क्रिया होती है। यह निराकार आत्मा या परमतत्व से जुड़कर स्वयं निराकार ही हो जाना है। निराकार में विलीन हो जाना है यह विस्तार क्रम से मूल की ओर जाकर मूल में ही स्थित हो जाना है, जिसे स्व-स्वरूप कहा गया है। यह ध्यान की उच्चतम अवस्था होती है। यह ध्यान का शुद्ध स्वरूप होता है। यह शून्य या निर्विचार अवस्था होती है। इस शून्य या निर्विचार अवस्था को प्रगट करते हुए श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है - **"आत्मसंस्थंमनःकृत्वा न किंचिदपिचिन्तयेत् ।"** (६/२५) अर्थात् "आत्मा में ही मन को स्थित करके कुछ भी विचार नहीं करना।" सांख्य दर्शन में मन की इस निर्विचार अवस्था को ही वास्तविक रूप में ध्यान माना गया है - **"ध्यानं निर्विषयं मनः ।"** (सांख्य दर्शन ६/२५) मन की यह निर्विषय अवस्था चित्त की प्रसन्नता से प्राप्त होती है इसके लिये स्थान या परिस्थिति विशेष का कोई नियम नहीं है - **"न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ।"** (सांख्य दर्शन ६/३१) मन की यह शुद्ध अवस्था या निर्गुण अवस्था ही प्रकृति और पुरूष का भेद बोध कराने वाली होती है। इस शुद्धावस्था को ही महर्षि पतञ्जति द्वारा **"स्वरूपेऽवस्थानम्"** (योग दर्शन १/३)। अर्थात् 'स्व-स्वरूप में स्थित हो जाना' कहा गया है तथा इस अवस्था को ही "कैवल्य प्राप्ति" कहा गया है - **"शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति"** (योग दर्शन ३/५४)। जागतिक धरातल पर यह कालान्तर में मृत्यु का वरण करना होता है। मृत्यु को ही प्राप्त करना है। यह अक्षर ब्रह्म में ही विलीन हो जाना है। इस निर्विकल्प या निर्बीज समाधि का प्रवेश ओंकार ध्वनि का आश्रय लेकर ही होता है। यह प्रशिक्षित मन की अति उच्च निर्विषय ध्यानावस्था होती है। उदाहरणस्वरूप महाभारत के युद्ध मैदान में आचार्य द्रोणाचार्य द्वारा ॐकार ध्वनि का आश्रय लिया जाकर ऐसी ही निर्विकल्प समाधि द्वारा शरीर त्याग किया गया था। (महाभारत, द्रोणपर्व) श्रीराम कथा में भी हम भगवान् श्रीराम द्वारा प्रतिज्ञावश अपने अनुज श्री लक्ष्मण का परित्याग कर दिये जाने पर श्री लक्ष्मण द्वारा सरयू तट पर ऐसी ही निर्विकल्प समाधि द्वारा निराकार

ब्रह्म तत्व में विलीन हो जाने का विवरण हमें महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण में मिलता है। इस संबंध में उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुतिदेवी कहती है -

"स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरᳮ स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति।"

(छन्दोग्योपनिषद् १/४/५)

अनुवाद - "वह जो इस ॐ को इस प्रकार जानने वाला होकर इस अक्षर की स्तुति या उपासना करता है, वह इस अमृत और अभय रूप अक्षर में ही प्रवेश कर जाता है तथा इसमें प्रविष्ट होकर जिस प्रकार देवगण अमर हो गये थे, उसी प्रकार अमर हो जाता है।"

३.६ ध्यानावस्था का शीर्षरुप समाधि अवस्था है। सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि अवस्था दोनों ही राज-योग का अंग होती है। ध्यान, धारणा और समाधि की त्रिवेणी को ही राजयोग में संयम कहा गया है तथा यह ध्यान, धारणा और समाधि अवस्था ही राजयोग मानी जाती है। महर्षि पतञ्जलि कृत योग दर्शन में वर्णित अष्टांग योग की शेष प्रारंभिक पांच अवस्थाएं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार हठयोग के अंतर्गत आते हैं। सविकल्प समाधि अवस्था ही आत्मबोध प्राप्त करने या स्व-स्वरूप का बोध प्राप्त करने का आधार होती है। इस अवस्था में या यों कहें कि इस ध्यानावस्था में ही मन द्वारा परमतत्व का बोध प्राप्त किया जाता है, स्वयं परम् तत्व का आश्रय लिया जाकर(१) **"ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो ॥"** अनुवाद - "ध्यान में स्थित तद्गत हुए मन से ही साधक जिस परम् तत्व का दर्शन करते है।" यह ध्यान ही आत्मदर्शन का या आत्मबोध प्राप्त करने का साधन होता है। **"ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति।"** (श्रीमद्भगवद् गीता १३/२४) उपनिषद् वाणी में भी ध्यानावस्था को ही परमात्म शक्ति का बोध प्राप्त करने का साधन बताया गया है - **"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।"** (श्वेताश्वतरोपनिषद् १/३) अनुवांद - "उन्होंने ध्यान योग का अनुवर्तन कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया।" इस प्रकार यह ध्यान ही परम तत्व या ईश्वर का साक्षात्कार करने या आत्मबोध प्राप्त करने या किसी भी विषय का सांगोपांग बोध प्राप्त करने का साधन होता है। यह बोध प्राप्त कर लेना ही **प्रज्ञा** कहा गया है। (योग दर्शन १/२० एवं १/४८) इस प्रकार ध्यानावस्था मन के बुद्धि से जुड़ जाने की अवस्था है, मन और बुद्धि के एकाकार हो जाने की अवस्था है। मन के शान्त, विचारयुक्त और एकाग्रचित्त होने की अवस्था का नाम ही ध्यान है।

३.७ छान्दोग्योपनिषद् में निश्चल स्थिर तथा विकासयुक्त अवस्था को ध्यान कहा गया है तथा पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, जल, पर्वत, देवता तथा मनुष्य सभी को ध्यानरत होना बताया गया है तथा यह ध्यान ही मनुष्य के लिये सामर्थ्य प्रदाता तथा महत्व प्रदान करने वाला कहा जाकर इसकी ही उपासना करने का निर्देश दिया गया है। भगवति श्रुति देवी कहती है -

"ध्यायतीव पृथ्वी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायातीव द्योर्ध्यायन्तीवापो ध्यायंतीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महतरं प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाशा इवेव ते भवन्त्यव येऽत्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेअ ये प्रभर्वो ध्यानापादाशा इवेव ते भवन्ति ध्यानमुपास्त्वेति।"

(छान्दोग्योपनिषद् - ७/६/१)

अनुवाद - "अर्थात् पृथ्वी मानो ध्यान करती है, अंतरिक्ष मानो ध्यान करता है, द्युलोक मानो ध्यान करता है, जल मानो ध्यान करता है, पर्वत मानो ध्यान करते हैं तथा देवता और मनुष्य भी मानो ध्यान करते हैं। अतः जो लोग यहाँ मनुष्यों में महत्व प्राप्त करते हैं वे मानो ध्यान के लाभ का ही अंश पाते हैं किन्तु जो क्षूद्र होते हैं, वे कलहप्रिय, चुगलखोर और दूसरों के मुँह पर ही उनकी निन्दा करने वाले होते हैं तथा जो सामर्थ्यवान् हैं, वे भी ध्यान के लाभ का अंश प्राप्त करने वाले हैं। अतः तुम ध्यान की उपासना करो।" यह ध्यान ही मनोमयकोष अवस्था का कारण होकर विज्ञानमय कोष अवस्था में प्रवेश करने का प्रवेश द्वार बन जाता है, सभी साधकों के लिये साधना के क्रम में और आत्मबोध या अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार करने का साधन बन जाता है साधना के क्रम में। साक्षात्कार करने का साधन बन जाता है उपासना के क्रम में।

॥ हरि ॐ ॥

प्रणवाक्षर

प्रणवाक्षर ॐ एक अक्षर है और एक शब्द भी। अपने गूढ़ स्वरूप में यह परमतत्व का बोध कराने वाला एक प्रतीकाक्षर है। योगदर्शन ग्रंथ में महर्षि पतञ्जलि द्वारा इसे परब्रह्म का वाच्य नाम कहा गया है - **"तस्य वाचक प्रणवः।"** (योग दर्शन १/२७)। प्राचीन भारत में (वैदिक काल में) एक ही ईश्वर परमतत्व की आराधना करते हुए - विद्यार्थी बड़ी श्रद्धा से, योगी महर्षि सच्ची निष्ठा से एवं सद्गृहस्थ बड़े आदर के साथ प्रणवाक्षर ॐ का स्मरण एवं उल्लेख अपने प्रत्येक कार्य के आरंभ में करते रहे हैं फिर, भले ही वह विद्या का आरंभ रहा हो या पत्रादि का सामान्य लेखन या जप-तप, यज्ञ की शुरूआत या किसी शुभ कार्य का श्री गणेश। यह प्रणवाक्षर ॐ ध्वनि ही ऊर्जा का केंद्र बिन्दु और प्रतीक स्वीकार की गई है जिस प्रकार कि सूर्य की किरणों में सभी दूर समान रूप से व्याप्त और उपलब्ध ऊर्जा को सौर ऊर्जा कहा जाता है। यह सौर ऊर्जा या सूर्य ऊर्जा ही समस्त प्राणियों में बाह्य चेतनता का कारण होती है। उसी प्रकार प्रणवाक्षर - "ॐ" ध्वनि स्पंदन में व्याप्त ऊर्जा, प्राण ऊर्जा है जो सभी प्राणियों को जीवन चेतना प्रदान करती है।

कोई भी शब्द निश्चयात्मक अर्थ बोध कराने वाला होता है तथा प्रत्येक शब्द अर्थ से बंधा होता है, किंतु कोई भी प्रतीक अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए - संदर्भित तत्व का या विषय का पूर्ण परिचय देता है। शब्द के अर्थ बदल जाते हैं। वाचिक शब्द उत्पन्न होता है, शब्द यात्रा क्रम में विस्तार पाता है और लय को प्राप्त हो जाता है किंतु प्रतीक अपने स्वयंभू स्वरूप के कारण शाश्वत बना रहता है और यह कभी अपनी आधार - भूमि को नहीं छोड़ता है। विषय इससे जुड़ते हैं और दूर चले जाते हैं किंतु प्रतीक अपने स्वरूप में स्थिर बना रहता है। इससे यह सहज जिज्ञासा होती है कि परम तत्व का प्रतीक रूप प्रणवाक्षर 'ॐ' क्या है? इसका तात्पर्य या अर्थ क्या है? सर्वव्यापी प्राण ऊर्जा या चेतना से इसका क्या सम्बन्ध है?

४.२ भारतीय दर्शन और संस्कृति के प्रवर्तक तथा ज्ञान निधि के अक्षय कोष वेद तथा उपनिषदों एवं वेदान्त दर्शन ब्रह्म सूत्र में हम एकाक्षर ॐ की उत्पत्ति तथा विकास एवं इसके प्रशासन के सम्बन्ध में विशद विवेचन पाते हैं। रामायण

तथा महाभारत महाकाव्य में प्रणवाक्षर 'ॐ' की ईश्वर नाम रूप में चर्चा की गयी है। योग दर्शन ग्रंथ में महर्षि पतञ्जलि द्वारा इसे कैवल्य प्राप्ति का साधन बताया गया है। ॐ की यह लंबी यात्रा ईश्वर प्राप्ति ज्ञान अर्थात् मोक्ष से आरम्भ होकर ज्ञान के अक्षय कोष तक तथा इसके नियंता स्वरूप होने तक पहुँचती है। चिंतन के आधारस्तम्भ स्वरूप को छोड़कर आज हम पुनः वैज्ञानिक आधारों पर इस ॐ शब्द के ब्रह्म शक्ति स्वरूप होने या इसके सर्वनियंता स्वरूप होने या कि इसके ऊर्जा स्वरूप होने पर नये आयाम खोजने में लगे हुए हैं।

प्रणव ध्वनि क्या है ? इसे स्पष्ट करते हुए हम कहेंगे कि प्राण तत्व को उपनिषद् वाणी में गतिशील माना गया है, प्राण तत्व का लक्षण गतिमान या गतिशील होना है। यह गतिशील प्राण जब अन्य महाभूत पंच तत्वों से घर्षण करता हुआ प्रवाहमान होता है तो यह स्वाभाविक रूप से श्वासोच्छवास में रणकार करने वाला अर्थात् रणमान् होकर ध्वनि (रव) उत्पन्न करने वाला होता है। चेतन तत्व या आत्मतत्व के रणमान् होने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है इसे ही प्रणव ध्वनि या प्राण से उत्पन्न होने वाली ध्वनि कहा गया है। दर्शन के क्षेत्र में आत्म बोध की यात्रा के क्रम में यह 'हंस ध्वनि' या 'सोऽहम् ध्वनि', भ्रमर ध्वनि रूप में परमात्मतत्व से एकाकार कर लेने का आधार या कारण बन जाती है। यह भ्रमर ध्वनि ही प्रणवाक्षर की प्लुत स्वर मात्रा होती है तथा प्राण तत्व से उत्पत्ति आधार पर ही यह प्रणव ध्वनि कही जाती है।

४.३ प्रणवाक्षर 'ॐ' जिसे ओंकार ध्वनि कहा जाता है यह लिपि रूप में एक अक्षर भी है और एक शब्द भी तथा उपनिषद् वाणी में की गयी व्याख्या के अनुसार यह एक स्वतंत्र पद भी है। यह एक अक्षर के रूप में उपयोग किया जाता है किंतु इसका अस्तित्व सदैव ही शब्द या पद का बना रहता है। यह पूर्ण अर्थ प्रदान करने वाला शब्द अर्थात् स्वयंभू पद है। इसके अर्थान्वियन के लिये किसी सहायक शब्द या पद की आवश्यकता नहीं होती है। इसे प्रणव ध्वनि या पवित्र घोष अर्थात् सदैव नवीन बने रहने वाली ध्वनि कहा जाता है। घोष रूप से उच्चारण किये जाने पर यह नाद स्वरूप होकर अपने निराकार स्वरूप को ही प्रगट करता है तथा परम तत्व के निराकार रूप होने का बोध कराता है।

४.४ प्रणवाक्षर 'ॐ' का अस्तित्व आधुनिक देवनागरी वर्णमाला में नहीं पाया जाता है किंतु प्राचीन साहित्य में इसे अक्षर रूप में उपयोग किया जाना पाया जाता है। उपनिषद् साहित्य में 'ॐ' का लिपि के अक्षर रूप में उपयोग किया

जाना पाया जाता है । उपनिषद् साहित्य में भगवती देवी श्रुति इसे एक संयुक्ताक्षर होना बताती है, जो अ् + उ् + म् + वर्ण के संयोग से बना है। जिन्हें क्रमशः अकार, उकार तथा मकार कहा जाता है। (माण्डुक्योपनिषद्-८) इन्हें प्रणवाक्षर की मात्राएँ भी कहते हैं। इन तीनों के संयुक्त रूप से प्रणवाक्षर ॐ की उत्पत्ति मानी गई है। प्रणव ध्वनि की प्रथम मात्रा 'अ' कार देवनागरी वर्णमाला का प्रथम अक्षर है। इसे विष्णु स्वरूप अर्थात् सृजन का आधार माना गया है। ओंकार की यह प्रथम मात्रा 'अ' जगत के समस्त नामों में अर्थात् किसी भी अर्थ को बतलाने वाले जितने भी शब्द हैं उन सब में व्याप्त है। स्वर तथा व्यंजन कोई भी अकार से रहित नहीं है। श्रुति कहती है - **'अकारो सर्वावाक''** - समस्त वाणी अकार है। अकार के बिना कोई भी वाणी नहीं हो सकती है। श्रीमद्भगवद् गीता में अपना विश्वरूप प्रगट करते हुए - विभूति योग वर्णन में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है - **''अक्षराणामकारोऽस्मि ।''** (१०/३३) 'अक्षरों में अकार स्वरूप में स्वयं हूँ।' इस प्रकार यह परमेश्वर के प्रगट जगत रूप, विराट स्वरूप का परिचय देने वाला आदि स्वर है। प्रणवाक्षर (ॐ) की द्वितीय मात्रा 'उ' कार देवनागरी वर्णमाला के स्वर वर्ण का पंचम अक्षर या वर्ण है। पांचवें क्रम पर होने से इसका विशिष्ट महत्व है। 'अ' और 'म' के बीच में होने से इसका दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह उभय स्वरूप माना जाकर तेजस स्वरूप माना गया है। यह अकार और मकार का एकाकार करने वाला होने से उस परम तेजस का अदृश्य स्वरूप है जो हमें परमेश्वरके रहस्य स्वरूप का बोध कराता है। उकार को शिव स्वरूप माना गया है। प्रणवाक्षर 'ॐ' की अंतिम मात्रा 'म'कार देवनागरी वर्णमाला के व्यञ्जन वर्ण में पंचम वर्ग का पंचम वर्ण है। इसे प्राज्ञ स्वरूप - सब प्राणियों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान माना गया है। व्यञ्जन वर्ण का पच्चीसवाँ अक्षर या वर्ण होने से यह परम पुरुष के पूर्ण स्वरूप को (परमपुरुष के २५ तत्व सांख्य दर्शन अनुसार माने गये हैं।) प्रकट करने वाला है। यह पूर्ण का बोध कराने वाला है। योग दर्शन में वर्णित समाधि अवस्था प्राप्ति का यह अंतिम द्वार है जो भ्रमर ध्वनि के समान गूंजता हुआ जीव का परमात्मा से एकाकार कराता है। यह साधना के क्रम में देहाध्यास से ऊपर उठाने वाला है। इसे ब्रह्मा स्वरूप माना गया है। सामवेद में प्रणव ध्वनि ॐ को परब्रह्म परमात्मा का गेय स्वरूप अर्थात् गायन में आने वाला रूप माना गया है। एक ब्रह्म में आस्था रखने वाले साधक जो वाणी और ध्यान द्वारा उपासना करते हैं वे प्रणवाक्षर ॐ का उच्चारण दीर्घतम घण्टा ध्वनि के समान बहुत लंबा या प्लुत स्वर में करते हैं। इस अवस्था में यह **उद्गीथ** कहा जाता है। छांदोग्योपनिषद् में भगवती श्रुति देवी कहती है।

"अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ।"

(छांदोग्योपनिषद् - १/५/१)

अनुवाद - "निश्चय ही जो उद्‌गीथ है वह प्रणव है और जो प्रणव है वह ही उद्‌गीथ है । इस प्रकार यह आदित्य ही उद्‌गीथ है । यह ही प्रणव है क्योंकि यह आदित्य ॐ ऐसा उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है ।"आदित्य देव का यह उद्‌गीथ गान ध्यानावस्था में नाद ध्वनि रूप सुनाई देने वाला झिंगुर गान है, जो आत्म तत्व की प्रथम अनुभूति कराने वाला है । जो सतत् गुंजायमान है ।

प्रणवाक्षर ॐ के इस उद्‌गीथ स्वरूप को प्रगट करने के लिए लिखते समय इसके बीच में स्वर मात्रा का संकेत ओम के बीच में लिखा जाकर प्रणवाक्षर ॐ को 'ओ३म्' स्वरूप में लिखते हैं । प्रणवाक्षर ॐ को नाद स्वरूप मानने वाले वेदविज्ञ, निराकार ब्रह्म के उपासक इस चतुर्थ मात्रा के साथ-साथ इसे परब्रह्म परमात्मा का निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, बोलने में नहीं आने वाला स्वरूप तथा जानने योग्य विषय वस्तु मानते हैं । - **"वैद्यं पवित्रमोंकार"** (श्रीमद्भगवद्गीता ९/१७) - "जानने योग्य पवित्र ॐकार मैं हूँ ।"

४.५ ॐ एक प्रतीक शब्द है । **"एकं सद् विप्रा बहुधा बदन्ति"** आधार पर यह अनेक शुभ अर्थों में परमेश्वर का बोध कराता है । प्रणवाक्षर ॐ को एक अक्षर का ब्रह्म मंत्र माना गया है - **"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ८/१३) । समस्त वेद मंत्रों और उपनिषद् ज्ञान का कोई न कोई ऋषि द्रष्टा माना जाकर उस अनुभुत ज्ञान के आधार पर उस ऋषि को उस मंत्र का या ऋचा का द्रष्टा एवं कर्ता माना जाता है । प्रणवाक्षर ॐ के प्रणेता ऋषि ब्रह्मा स्वयं है तथा उनके कण्ठ से इसकी उत्पत्ति मानी गई है । महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार जिस प्रकार पलाश का पत्ता एक तिनके से उठाया जा सकता है, उसी प्रकार यह विश्व ॐकार से धारण किया जाता है ।

"यथा पर्ण पलाशस्य शंकुनैकेन धार्यते ।

तथा जगदिदं सर्वमोंकारेणेव धार्यते ।"

यह प्रणवाक्षर समस्त जगत का आधार है - "ओमितिदँ सर्वम्" (तैति. उ. - १/८/१) छांदोग्योपनिषद् में श्रुति देवी का कथन है कि यह जगत किसी पीपल के पत्ते में व्याप्त नसों की भांति प्रणवाक्षर ॐ से ही व्याप्त है । (२/२३/३) श्रीमद्भगवद्गीता में प्रणवाक्षर ॐ को वेदों के समस्त ज्ञान का सार - **"प्रणवः सर्व वेदेषु"** (७/८) कहा गया है । ब्रह्म सूत्र में इस

प्रणवाक्षर को ही समस्त जगत का धारणकर्ता तथा प्रशासनकर्ता बनाया गया है - **"अक्षरमम्बरान्तधृतेः । सा च प्रशासनात् ॥"** (ब्रह्मसूत्र - १/३/१०-११) ।

४.६ योग दर्शन, कर्मकांड तथा उपासना में प्रणव ध्वनि ॐ का विशेष महत्व है । महर्षि पतञ्जलि के अनुसार जप, तप, संध्योपासना करने वाले साधक को इसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का चिंतन करना चाहिये - **"तस्य वाचक प्रणवः । तज्जपस्तदर्थ भावनम् ॥"** (योग दर्शन - १/२७-२८) । मृत्यु के उपरांत आत्मा की स्थिति जानने के जिज्ञासु नचिकेता से मृत्यु के देवता सूर्य पुत्र यमराज ने उपदेश स्वरूप कहा है - "जिस पद का प्रतिपादन सारे वेद करते हैं, जिस पद की प्राप्ति का साधन सारी तपस्याऐं हैं, जो ब्रह्म का निर्विशेष स्वरूप है, जो परमात्मा की प्राप्ति का लाभ कराता है वह यह अविनाशी ॐकार ही है । (कठोपनिषद् - १/२/१५) । मनुस्मृति के अनुसार ज्ञान रक्षण हेतु अध्ययन के आरंभ और समापन में प्रणवाक्षर ॐ का उच्चारण या स्मरण करना चाहिये । (मनुस्मृति - २/७४) श्रीमद्भगवद्गीता भी हमें सूचित करती है कि -

"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १७/२३-२४)

अनुवाद - " ॐ तत् सत् ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा गया है, उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण और वेद तथा याज्ञिक रचे गये हैं । इसलिये वेद को कथन करने वाले श्रेष्ठ पुरूषों की शास्त्रविधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ सदा ॐ ऐसे इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरंभ होती हैं ।" धर्मशास्त्रों के अनुसार अंत समय में ॐ का स्मरण मोक्षदायी माना गया है । श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है -

"अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता८/२१)

अनुवाद - "जो वह अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है, उस ही अक्षर नामक अव्यक्त भाव को परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते, वह मेरा परम धाम है ।"

४.७ भारतीय दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में उपरोक्तानुसार विशद एवं गंभीर अर्थ रखने वाला यह प्रणवाक्षर ॐ ऊर्जा के क्षेत्र में भी विशिष्ट महत्व का है। ऊर्जा के दो प्रगट रूप हैं - व्यक्त ऊर्जा और अव्यक्त ऊर्जा अर्थात् बाह्य ऊर्जा तथा आंतरिक ऊर्जा। व्यक्त या बाह्य ऊर्जा वह है जिसकी मदद से हम भौतिक जगत के भारी से भारी काम करते हैं या सम्पन्न होते हुए देखते हैं। अव्यक्त या आंतरिक ऊर्जा वह मनः शक्ति है जो हम सब में व्याप्त है। यह हमें कर्म करने की प्रेरणा तथा बल प्रदान करती है। मनः शक्ति, बल का बौद्धिक स्वरूप है, जिसके द्वारा हम कार्य सम्पन्न करने के तरीके का ज्ञान, कार्य की सुगमता तथा सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। इस मनःशक्ति का आधार चित्त की एकाग्रता है। यह एकाग्रता प्रणवाक्षर ॐ की साधना द्वारा सहजतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। चित्त की एकाग्रता के लिए इस प्रणव मंत्र द्वारा मन को प्रशिक्षित कर उसे किसी भी लक्ष्य से जोड़कर हम अपनी मनःशक्ति का उपयोग कर सकते हैं। यह मनःशक्ति ही हमारे कार्य का आधार होती है। यह मनःशक्ति जितनी प्रबल होगी उतने ही होंगे हम सामर्थ्यवान और आत्मविश्वासी। **"इदं इत्थं"** की भांति यह शक्ति का केंद्र होती है।

४.८ प्रणवाक्षर ॐ या ओंकार ध्वनि के बारे में हम कहेंगे कि स्थिर जल में डाले गये छोटे से कंकड़ द्वारा उत्पन्न तरंगे जिस प्रकार चंचल बालक के मन में एकाग्रता, जिज्ञासा और स्थिरता का भाव उत्पन्न करती हैं तथा बालक के चिंतन को गवेषणात्मक बनाती हैं, उसी प्रकार यह ॐकार ध्वनि साधक, कर्मउपासक और विज्ञजन के मन में भी उक्त गुणों के साथ-साथ ज्ञान की नई-नई परतें खोलती हुई सर्वव्यापक शक्ति का परिचय कराती है। दिव्य आनंद की अनुभूति के साथ-साथ सार्थक जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करती है।

४.९ प्रणवाक्षर ॐ की नाद ध्वनि को उपनिषद् वाणी तथा वेदांत दर्शन (ब्रह्म सूत्र) में इस समस्त जगत की उत्पत्ति, विकास तथा लय का आधार और भूत, वर्तमान एवं भविष्य का नियमनकर्ता तथा इस जगत का धारणकर्ता एवं प्रशासनकर्ता बताया गया है। (मांडूक्योपनिषद् - १, तैत्तिरियोपनिषद् - १/८ तथा वेदान्त दर्शन १/३/१०-११) प्रणव मंत्र ॐकार ध्वनि के इस धारणकर्ता, उत्पत्ति, विकास और नियमन कर्ता तथा प्रशासनकर्ता स्वरूप की बोधगम्यता तथा इस वेदोक्त सत्य को जान लेने के लिये हमारे प्राचीन ब्रह्मवेत्ता ऋषियों द्वारा इस तथ्य को सहज रूप में या सूत्रबद्ध रूप से प्रगट कर दिया है। उदाहरण रूप में -

१. प्रणव ध्वनि के नियमनकर्ता स्वरूप के सूत्रबद्ध प्रागट्य को प्रगट करते हुए हम कहना चाहेंगे कि आप किसी संगीत सभा में प्रस्तुत किये जा रहे शास्त्रीय

संगीत या वाद्य संगीत के कार्यक्रम में अवश्य ही उपस्थित रहे होंगे तथा नाद ध्वनि के इस नियमनकर्ता स्वरूप को अवश्य ही अपनी आँखों से देखा होगा तथा सुनते हुए जान लिया होगा। इसे स्पष्ट करते हुए हम कहना चाहेंगे कि किसी गली-चौराहे पर किसी नट द्वारा प्रस्तुत किये जा रहे खेल या किसी सर्कस में दिखाये जा रहे विभिन्न करतब या किसी सांस्कृतिक समारोह में प्रदर्शित की जा रही किसी लोक कला में खेल का आधार या करतब का सूत्र या पांव की थिरकन को निर्देश देने वाली यह नाद ध्वनि ही होती है जो कि प्रत्यक्ष रूप में या नेपथ्य से नगाड़े-ढोल या विभिन्न वाद्य यंत्रों द्वारा उत्पन्न की जाती है। यह है नाद ध्वनि का धारणकर्ता स्वरूप। नाद ध्वनि का नियमनकर्ता तथा प्रशासनकर्ता स्वरूप किसी सैनिक समारोह में या राष्ट्रीय समारोह में बैंड की ध्वनि पर उठते हुए तथा आगे बढ़ते हुए सैनिकों के कदमों में देखने को मिलता है। क्या हम इस ध्वनि के अभाव में सैनिकों के उठते हुए कदम की एकबद्धता की कल्पना कर सकते हैं ? निर्देशों के अभाव में। यह ही है नाद ध्वनि का नियमनकर्ता, धारणकर्ता और प्रशासनकर्ता स्वरूप तथा भूत, वर्तमान और भविष्य की विजय का आधार।

२. प्रणव ध्वनि के या नाद ध्वनि के धारणकर्ता, नियमनकर्ता तथा सभी भूतों या कर्मों के उत्पत्ति, विकास और लय का स्थान एवं भूत, वर्तमान और भविष्य में व्याप्त आधारभूत कारण स्वरूप को सूत्रबद्ध रूप में प्रगट करने का परिपूर्ण उदाहरण हमें भारतीय शास्त्रीय संगीत या वाद्य संगीत के रसमय कार्यक्रम - **"रसों वै सः"** की प्रस्तुति में देखने को मिलता है। वह इस प्रकार कि - मंच के कोने पर कलाकार के नेपथ्य में या उसके बाजू में ही तानपुरे को लेकर बैठे हुए कलाकार को आपने अवश्य ही देखा होगा। इस तानपुरे में प्रणवाक्षर ॐ की चार मात्राओं - अ, उ, म और प्लुत स्वर का प्रतिनिधित्व करने वाले चार तार कसे होते हैं। यह कलाकार इस तानपुरे से संगीत कार्यक्रम के आरंभ होने के सबसे पहले से लगाकर सबके आखरी तक एक ही स्वर-ताल में सतत् ध्वनि उत्पन्न करता है और इस ध्वनि के मंच पर रहते हुए ही संगीत कलाकार या वादक कलाकार अपने सामर्थ्य को प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। वह इस तानपुरे की ध्वनि के नेपथ्य में रहते हुए ही अपनी स्वर लहरी को उत्पन्न करता है, उसका विकास करता है और उसका लय अर्थात् समापन करके श्रोतावृंद को प्रणाम करता है। इस प्रणाम करने के साथ ही तानपुरे की तान समाप्त होती है। इसके पूर्व या बीच में नहीं। यदि इसे बीच में ही या पूर्व में ही बंद कर दिया जावे तो मंच पर विराजित कलाकार जानकार होते हुए भी अपनी कला को प्रस्तुत करने में असमर्थ होता है। यह ही है

प्रणव रूप ॐकार ध्वनि के नाद स्वरूप का धारणकर्ता, प्रशासनकर्ता स्वरूप, उत्पत्ति, विकास और लय का स्थान तथा भूत, वर्तमान और भविष्य का आधारभूत कारण या आधार तथा शेष बचे हुए काल का आधार भी। नाद ध्वनि के इस सूक्ष्म अंश आधार पर ही हमें प्रणवाक्षर ॐकार के सर्वरूप को जान लेना चाहिए, जिसे उपनिषद् वाणी में कहा गया है - ''ओमितीद्ँ सर्वम्। ओमितीद्ँ सर्वम्॥''

॥ हरि ॐ॥

अध्यात्म विद्या

अध्यात्म विद्या क्या है ?

यदि हम सीधे-सादे शब्दों में कहें तो अध्यात्म का अर्थ है - आत्मा को जानना। और जो विद्या आत्मा की जानकारी देवे, आत्मतत्व का बोध करावे वह है - आत्म विद्या या अध्यात्म विद्या। हमारे वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और ब्राह्मण ग्रंथ अध्यात्म विद्या की पठनीय सामग्री हैं।

५.२ अध्यात्म शब्द - अ + ध् + य् + आ + त् + म वर्णों के संयोग से बना है। अब हम इसके वर्ण विन्यास पर चर्चा करेंगे क्रमशः। इसका "अ" वर्ण परम तत्व का वाचक है। यह अक्षर ब्रह्म के सर्वरूप का बोध कराता है - **"अक्षाराणाम् अकारोऽस्मि"** (श्रीमद्भगवद्गीता - १०/३३) यह "अ" परम तत्व का ही वर्ण रूप है जो वाणी रूप में सर्वत्र व्याप्त है - **"अकारो सर्वा वाक्"** सम्पूर्ण वाणी अकार ही है। इस प्रकार "अ" का उच्चारण करना परम तत्व का ही स्मरण करना हैं। "अ" को धारण करना परम तत्व को ही धारण करना हैं। "ध्" जुड़ने का प्रतीक है धम्म की आवाज पृथ्वी सतह पर वस्तु के गिरने से ही आती हैं। यह वर्ण स्थिति का बोधक है। इस प्रकार "अध्य" का अर्थ होता है - जुड़ना, परम तत्व से जुड़ना। जब यह क्रिया सतत् रूप से की जाती है तो यह अध्ययन कही जाती है। अध्य में यन का जुड़ना सातत्य या निरन्तरता का बोध कराता है। अध्ययन शब्द का अर्थ, जानने की क्रिया से सतत् रूप से जुड़े रहना है। निरन्तर बोधगम्यता को प्राप्त करना है। अकार से रहित "ध्" वर्ण मात्र ध्वनि है, जो हमें धनुष से उत्पन्न होने वाली टंकार की ओर ले जाती है। यह दृढ़ चेतना का प्रतीक है, साथ ही सर्वव्यापी होने का सूचक भी।

"चकार ज्याखनं वीरो दिशः शब्देन पूरयन् ।" (वा.रा. ४/३३/२६)

"उन्होंने अपने धनुष पर टंकार दी जिसकी ध्वनि से समस्त दिशाएं गूंज उठी।" इस प्रकार "ध्" वर्ण सर्वव्यापकता को ही प्रगट करता है। इस दृढ़ चेतना से युक्त होकर आगे बढ़ना ही अध्ययन होता है। अध्य से यन को जोड़कर सतत् क्रियाशीलता को अपना लेना है। यन स्थिति का बोध कराने वाला प्रत्यय है - जैसे दक्षिणायन, उत्तरायन शब्द सूर्य की स्थिति का बोध कराते हैं, उसी प्रकार अध्ययन शब्द बोध प्राप्ति की अवस्था का बोध

कराता है। ''ध्य'' से जुड़ा हुआ यन अर्थात् ध्यान शब्द भी यही अर्थ देता है। ध्यान का अर्थ है - आगे बढ़ना, धैर्यपूर्वक आगे बढ़ना। ''ध'' वर्ण से धृत् धातु बनती है, जिससे बनने वाले शब्द हैं - धृति, धीः, धैर्य आदि। इनका अर्थ होता है - धारण करना, बुद्धि को अपना लेना, धैर्य को अपनाना आदि। यह सब मिलकर ध्यान शब्द में समाहित हो जाते हैं और ध्यान की आधारभूमि एकाग्रता का निर्माण करते हैं। ध्यान का आधार चित्त की एकाग्रता है। जब हम चित्त को एकाग्र कर लेते हैं, तो हमारा मन रूका नहीं रहता है, यह स्थिर नहीं रहता है। इसे हम यों समझ सकते हैं कि पहाड़ से बहने वाले जल को एक सोते (झरने) में परिवर्तित कर देने की क्रिया के समरूप ही है - ध्यान को अपनाना। इसमें हम चित्त की प्रवृत्तियों को एकत्र करके एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं। एक ही विषय में चित्त को अग्रता प्रदान करना एकाग्रता प्राप्त करना है। ''ध्य'' में शक्ति तत्व जोड़ने पर ध्येय शब्द बनता है, जो लक्ष्य का सूचक है, गन्तव्य का बोध कराता है। परम तत्व के साकार स्वरूप ''अ'' का आश्रय ले लिया जावे तो ध्येय को अपनाकर ही साधक अध्येता बन जाता है, उपासक हो जाता है और इसके साथ आत्मा शब्द को जोड़ देने पर यह अध्यात्म शब्द बन जाता है। जिसका अर्थ हो जाता है - आत्म तत्व को जानना, आत्म तत्व से जुड़ना, आत्म तत्व का बोध प्राप्त करना। इस प्रकार आत्म तत्व का बोध कराने वाली विद्या का नाम है - अध्यात्म विद्या। परम तत्व के प्रति अध्येता हो जाना ही अध्यात्म विद्या को अपना लेना है और यह ही है अध्यात्म विद्या का शाब्दिक अर्थ भी।

५.३ जिस प्रकार कि प्रत्येक विद्या को प्राप्त करने की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं, अनिवार्यताएं होती हैं, उसी प्रकार अध्यात्म विद्या प्राप्त करने की आवश्यकता है, अनिवार्यता है - नित्यता या नियमितता। नित्यता को अपनाकर ही साधक शनैः शनैः आत्म तत्व के गुणों को प्राप्त करता है। आत्म तत्व के चार गुण कहे गये हैं। ये चार गुण हैं - नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होना। यह आत्म तत्व नित्य है; शुद्ध है, बुद्ध है और मुक्त है। आचरण में परम तत्व के प्रति समर्पण भाव को और नित्य उपासना को अपनाकर साधक आत्म तत्व के उपरोक्त चारों गुणों को निरन्तर चिन्तन करता हुआ प्राप्त कर लेता है। वह आत्म तत्व को जान लेता है। और, जिस प्रकार प्रत्येक विद्या का एक निश्चित प्रतिफल होता है, उसी प्रकार इस विद्या का प्रतिफल आत्मबोध प्राप्त कर लेना है और आत्म तत्व के गुणों को अपने जीवन में अपनाकर साधक प्रतिफल स्वरूप आत्म रूप ही हो जाता है। आत्मा ही बन जाता हैं।

५.४ अध्यात्म विद्या की प्राप्ति के मार्ग में साधक के जीवन पर कई आनुषंगिक प्रभाव होते हैं। सर्वप्रथम यह विद्या साधक को मुदिता प्रदान करती है, जिससे चेहरे पर प्रसन्नता और ओजस का प्रागट्य होता है। परम तत्व मुदितामय है, उससे जुड़कर साधक मुदिता को ही प्राप्त कर लेता है। उपनिषद् वाणी में - श्रुति देवी का कथन है - **"स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा।"** (कठोपनिषद् १/२/१३) जिस प्रकार मेले में जाने का समाचार ही बालक के मन में प्रसन्नता का भाव ला देता है, उसी प्रकार साधक इससे जुड़कर ही मुदिता की ओर अग्रसर हो जाता है। साधक के मन में मुदिता का प्रस्फुरण होता है और यह मुदिता प्रस्फुटित होकर प्रसन्नता के रूप में प्रगट होने लगती है। परिणामस्वरूप यह वाणी और व्यवहार का संयम प्रदान करती है। साधक व्यक्ति निरर्थक क्रिया कलाप नहीं करता। न तो वह निरर्थक कार्य करता है और न निरर्थक वार्तालाप ही। परिणामस्वरूप साधक उद्वेगरहित हो जाता है, संशय समाप्त होते हैं। संशय की समाप्ति चित्त की क्रियात्मक शक्ति को स्थिरता तथा शांति प्रदान करती है, साथ ही साधक को अपने मुक्त स्वरूप का बोध कराती है। अपने मुक्त स्वरूप को शनैः शनैः जानकर साधक शुद्धता को प्राप्त करता है, विकार रहित हो जाता है, यह शुद्धता प्राप्त करना, निज स्वरूप का प्रागट्य है। जिस प्रकार शुद्ध किया गया गेहूँ चमकता है और आकर्षित करता है और जिस प्रकार शुद्ध किया गया स्थान बैठने और विश्राम करने के लिए आमन्त्रण देता है, उसी प्रकार आत्म तत्व का शुद्ध स्वरूप तेज को प्रगट करता है, जिसका गुण है - व्याप्त होना। तेजस सर्वत्र फैलना चाहता है, जैसे सूर्य का तेज सर्वत्र छा जाता है उसी प्रकार आत्म तत्व से तेजस प्रगट होकर छानें लगता है। यह वाणी में मधुरता तथा आकर्षण शक्ति, नेत्रों में तेज और करूणा तथा चेहरे पर लावण्य प्रगट करता है। परिणामस्वरूप साधक समाज में ज्येष्ठता तथा भव्यता प्राप्त करता है मनसा, वाचा, कर्मणा। वह श्रद्धा का पात्र बनता है। अपना शुद्ध स्वरूप ही उसे बुद्ध बनाता है अर्थात् आत्म तत्व का परिचय देता है। जिस प्रकार त्रिकोण में तीनों ही कोण मिलकर त्रिभुज का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार साधक नित्यता को अपनाकर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो आत्मतत्व को ही जान लेता है आत्म रूप हो जाता है। आत्मतत्व के नित्य स्वरूप को, शुद्ध स्वरूप को, बुद्ध स्वरूप को और मुक्त स्वरूप को जान लेता है, इनका बोध प्राप्त कर लेता है। यह आत्मतत्व का प्रागट्य है। इस प्रकार जो विद्या हमें आत्मतत्व के नित्य स्वरूप का बोध कराकर हमें शुद्ध, बुद्ध और मुक्त बना दे वह विद्या है - **अध्यात्म विद्या**। जिसे हमने "प्रज्ञानं ब्रह्म" कहा है। इस ब्रह्म प्राप्ति के लक्ष्य की ओर ले जाने वाली विद्या का

नाम है - अध्यात्म विद्या। अपनी लघुता में विराटता का बोध प्राप्त करना ही अध्यात्म विद्या का लक्ष्य और उपलब्धि होती है।

५.५ उपनिषद् वाणी में जानने योग्य, श्रेय और प्रेय को प्रदान करने वाली दो प्रकार की विद्या - परा विद्या और अपरा विद्या बताती गयी हैं। अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि आते हैं तथा जिस विद्या के द्वारा अक्षर ब्रह्म या आत्मतत्व या परमतत्व का बोध प्राप्त हो उसे परा विद्या कहा गया है। (मुंडकोपनिषद् १/१/४-५)। इस प्रकार विज्ञान, भाषा, गणित, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास आदि सभी विषय अपराविद्या के अन्तर्गत आते हैं। पराविद्या मात्र आत्मतत्व से ही सम्बन्ध रखती हैं। यह परा विद्या तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली संहिता के अन्तर्गत किये गये अनुशासन अनुसार मौखिक ज्ञान या श्रुत ज्ञान का आधार होकर "गुरुमुख" द्वारा ही प्रदाय की जा सकती है या गुरु मुख से ही प्राप्त की जा सकती है, जानी जा सकती है। (तैत्तिरीयोपनिषद् - १/३/५) यह विद्या आत्म तत्व के गूढ़ रहस्यों का बोध कराने वाली होकर, सांकेतिक भाषा में, प्रतिबोधात्मक रूप में आचार्य द्वारा प्रदान कर जाती है (केनोपनिषद् २/४)। इस अध्यात्म विद्या का एकमेव विषय परम तत्व या आत्म तत्व ही होता है। इस आत्म तत्व या अक्षर ब्रह्म का बोध निर्मल मन - **"निर्विषयं मनः"** (सांख्य दर्शन ६/२५) द्वारा किया जाकर इसे निर्मल मन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है - **"मनसैवेदमाप्तव्यं"** (कठोपनिषद् २/१/११) यह परम तत्व सत्य आचरण को अपना लिये जाने पर उपलब्ध हो जाता है - **"सत्येन लभ्य"** (मुण्डकोपनिषद् ३/१/५) तथा **"सत्यमेव जयति"** (मुण्डकोपनिषद् ३/१/६) आधार पर आत्मतत्व की उपलब्धि या परम तत्व का यह बोध **"हस्तामलकवत्"** अर्थात् हाथ में रखे हुए आंवले के फल की भाँति होता है। इसे जान लेने पर सभी प्रकार के संशय समाप्त हो जाते हैं। (मुण्डकोपनिषद् - २/२/८) एवं साधक व्यक्ति परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है (श्रीमद्भगवद्गीता - १८/६२)। यह अध्यात्म विद्या निर्मल मन और शुद्ध बुद्धि का विषय होती है (मुण्डकोपनिषद् ३/१/८) तथा इसका प्रत्यक्ष बोध विकसित मन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसे कि श्रीमद्भगवद्गीता में - दिव्य चक्षु - **"ददाति मे दिव्य चक्षुः"** (११/८) तथा **"पश्यति ज्ञान चक्षुषः"** (१५/१०) अर्थात् ज्ञान चक्षु द्वारा देख लेना कहा गया है। अतः इस विद्या को प्राप्त कर लेने का मार्ग आत्म तत्व की व्याख्या करने वाली उपनिषद् वाणी में सद्गुरु के समीप जाकर प्राप्त करने का बताया गया है (मुण्डकोपनिषद् - १/२/१२) तथा सद्गुरु का सानिध्य प्राप्त कर उनकी

सेवा करते हुए, उनके मनोनुकूल आचरण करते हुए, प्रश्न तथा प्रति प्रश्नों कें द्वारा इसे प्राप्त कर लेने की प्रक्रिया का पालन करने का निर्देश श्रीमद्भगवद्गीता में (४/३४) दिया गया है ।। यह अध्यात्म विद्या जिज्ञासा के आधार पर, सद्गुरु से किये जाने वाले प्रश्न और प्रतिप्रश्न का विषय तो होती है किन्तु इसे तर्क के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। (कठोपनिषद् १/२/९) तथा न ही इसे बहुत सुनते हुए प्राप्त किया जा सकता है (मुण्डकोपनिषद् ३/२/३) । अतः यह विद्या धैर्य एवं जिज्ञासा को अपना लेने के साथ ही शान्त संकल्प होने, प्रसन्नचित्त बने रहने तथा क्रोध एवं खेद से रहित होने की मांग करती है, जिसे **वीतमन्युः** (कठोपनिषद् १/१/११) होना कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में आये वर्णन अनुसार भगवती श्रुति देवी का कथन है कि - ''आचार्य के सानिध्य में प्राप्त की गयी विद्या ही श्रेष्ठता को प्रदान करने वाली होती है।'' (छान्दोग्योपनिषद् ४/९/३) । इस प्रकार इस अध्यात्म विद्या को गुरु के बिना नहीं जाना जा सकता है। इसे प्राप्त करने के लिये गुरु की शरण में जाकर उनके द्वारा बताये अनुसार श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक आचरण करना एवं अध्यात्म चिन्तन करना ही श्रेयस्कर होता है, **'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं'** (कठोपनिषद् १/२/१२) चूँकि इस विद्या की विषय सामग्री वाणी द्वारा अभिव्यक्त की जाने वाली नहीं होती है **''यतो वाचो निवर्तन्ते''** अतः इसे ''गुरुमुख'' द्वारा बताये गये मार्ग का अनुपालन करते हुए प्रतिबोध रूप बताये गये संकेतों के आधार पर स्वयं के द्वारा ही इसे जान लेना होता है। गुरुमुख से प्राप्त उपदेशों के प्रति श्रद्धा रखना और संयम द्वारा उनका अनुपालन किया जाना ही इस विद्या की प्राप्ति का आधार होता हैं (श्रीमद्भगवद्गीता ४/३९) ।

५.६ इस जगत के विस्तार क्रम में भ्रांति सर्वत्र की स्थित है - **''या देवी सर्वभूतेषु भ्रांति रुपेण संस्थिता''** - जब साधक अध्यात्म के मार्ग पर चलना चाहता है और कुछ कदम आगे बढ़ता है तो उसके सामने भी भ्रांति आती है। यह भ्रांति 'गू ढ़ात्मा न प्रकाशते (कठोपनिषद्) से जुड़ी होकर साधक की अन्तर्मुखी यात्रा के क्रम में पग-पग पर जुड़ी होती है। अतः साधक को सदैव ही द्रष्टा और साक्षी द्रष्टा बने रहना आवश्यक होता है। आत्मबोध की यात्रा में आने वाली भ्रांति को गन्तव्य स्थल तथा यात्रा के मार्ग की वस्तुस्थिति आधार पर - 'मकड़ी के जाले' से तुलना करते हुए अच्छी तरह या भली-भाँति समझा जा सकता है जिस प्रकार मकड़ी के जाल में - जाल का केन्द्र बिन्दु मकड़ी का निवास स्थान होता है, उसी प्रकार का परमात्मा का निवास स्थान या घर है और जिस प्रकार मकड़ी के जाल में किसी भी भाग से यात्रा करते हुए केन्द्र

बिन्दु तक पहुँचा जा सकता है, उसी प्रकार इस पृथ्वी पर मौजूद सभी धर्म उस एक परम पिता को प्राप्त कर लेने या उसके पास तक पहुँचने का मार्ग बताते हैं। परम पिता के पास तक पहुँचने का जो मार्ग है वह अलग-अलग मानसिक स्थितियों पर आधारित होकर अलग-अलग अनुभव पर टिका होता है और यह अनुभव ही यात्रा में मील के पत्थर बनते जाते हैं किन्तु कभी - कभी ये भ्रांति का सोपान बनकर यात्रा के पड़ाव बिन्दु बन जाते है साधक के लिये। साधक यदि सम्यक चेतना, सम्पूर्ण समर्पण, जाग्रत विश्वास और गंभीर श्रद्धा को अपनाकर स्वयं को ही परम तत्व का अंश मानकर सजातीयता आधार पर परम तत्व है **"अस्तीति"** यह मानकर चलता है तो उसकी यात्रा केन्द्राभिमुख बनी रहती है और यदि वह इन छहों भाव से ऊपरी सतह से ही जुड़ता है तो उसकी यात्रा का पथ केन्द्राभिमुख न होकर वृत्ताकार हो जाता है तथा यात्रा के मार्ग में आने वाले मकड़ी के जाल के खिंचाव वाले तन्तु ही मार्ग के मील के पत्थर बन जाते है साधक के लिये। वह आगे बढ़ता हुआ स्वयं को आत्माभिमुख जानता है किन्तु अन्ततः स्वयं को उसी स्थान पर खड़ा हुआ पाता है जहाँ से उसने यात्रा हेतु प्रस्थान किया था। इस भ्रांति के निवारण में साधक का निसंग बनें रहना सहायक होता है यह निसंगता आन्तरिक भाव में साक्षी द्रष्टा बनकर तथा बाह्य आचरण में साक्षी कर्ता बनकर प्राप्त की जाना संभव होता है सभी के लिये। जगत के सभी कर्म परम चैतन्य तत्व अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं तथा इन सभी कर्मों का कर्ता भी वह परम तत्व या परम चैतन्य पुरुष ही होता है, अपने लीला-विलास क्रम में। यात्रा मार्ग का अनुभव भ्रांति है या वास्तविकता इसका समाधान करने में सद्गुरु का सानिध्य, उनका परामर्श और उनका अपना अनुभव ही सहायक हो जाता है इस परा विद्या के क्षेत्र में विज्ञानमय कोष की यात्रा के पूरा कर लेने के लिये, परम - आनन्द की या परम शांति की अनुभूति को प्राप्त कर लेने के लिये।

५.७ इस विद्या को प्राप्त कर लेने में सद्गुरु का सानिध्य चुम्बक के ध्रुवीय आकर्षण का कार्य करता है तथा "सानिध्य में उत्पन्न होने वाली जिज्ञासा और उनका शमन ही सद्गुरु की गुरुत्व शक्ति का आधार होता है, परम तत्व के समीप ले जाने के लिये" (केनोपनिषद् - ४/५)। अध्यात्म विद्या को प्राप्त कर लेने में 'गुरुमुख' ही परम तत्व की गुरुत्व शक्ति का बोध कराने वाला होकर इसके समीप ले जाने वाला होता है तथा यह ही पराविद्या का आधार होकर परम तत्व की गुरुता का बोध कराने वाला होता है। वेदान्त दर्शन या ब्रह्म सूत्र में जिसे **"जन्माद्यस्य यतः"** (वेदान्त दर्शन १/१/२) कहा गया है, उस जन्म और मृत्यु के रहस्य का ही बोध कराती है यह अध्यात्म विद्या और बोध

कराती है, उस अक्षर ब्रह्म का जो धारण करता है इस समस्त सृष्टि को और करता है इसका नियमन भी (वेदान्त दर्शन १/३/१०-११) । अपने ही स्वरूप का बोध कराती है यह अध्यात्म विद्या जिसे कहा गया है - **"तत्वमसि"**, **"सोऽहम्"** और **"अहं ब्रह्मास्मि"** । **'अहं ब्रह्मास्मि'** का बोध कराती है, यह अध्यात्म विद्या ।

५.८ श्रीमद्भगवद्गीता में मानव देह को 'क्षर', हृदयस्थ जीवात्मा को 'अक्षर' तथा परम तत्व परमात्मा को इससे परे अन्य उत्तम पुरुष कहा गया है -

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १५/१६-१७)

अनुवाद - "इस लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार के पुरुष हैं । समस्त चर और अचर भूतादि क्षर पुरुष हैं और हृदयस्थ चेतन तत्व अक्षर पुरुष कहा जाता है, उत्तम पुरुष तो इन दोनों से अन्य है, उसे ही परमात्मा कहते हैं, वह तीनों लोकों में समाविष्ट हुआ, उनका भरण-पोषण करता है, वह ही अव्यय, अविनाशी ईश्वर है ।" इस उत्तम पुरुष से, अविनाशी परमात्मा से मानव शरीर में स्थित जीवात्मा को जोड़ने वाली विद्या ही अध्यात्म विद्या है । जो आत्म स्वरूप हमारे भीतर विद्यमान है, उस चेतना को परम चेतना से जोड़ना ही एकमेव विषय सामग्री है, अध्यात्म विद्या की । आत्म चेतना को परम चेतना से जोड़ना ही एकमेव विषय सामग्री है, अध्यात्म विंद्या की ।

॥ हरि ॐ ॥
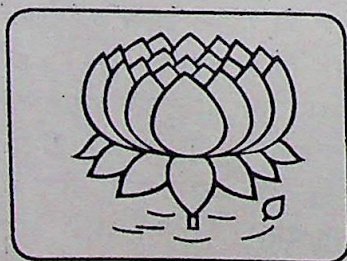
अहं ज्योतिर्नित्यो गगनमिव तृप्तः सुखमयः
श्रुतौ सिद्धोऽद्वैतः कथमपि न भिन्नोऽस्मि विधुतः ।
इति ज्ञाते तत्त्वेभवति च परः संसृतिलयादतस्तत्त्वज्ञानं
मयि सुघटयेस्त्वं हि कृपया ॥

(श्री ब्रह्मानंदविरचितम्)

अनुवाद -

हे भगवन् ! मैं प्रकाशरूप नित्य आकाश के समान व्यापक, पूर्णकाम, आनंदमय और श्रुतिसिद्ध अद्वैतरूप हूँ, किसी प्रकार ब्रह्मा से भिन्न नहीं हूँ, इस प्रकार तत्वज्ञान हो जाने पर विवेक दृष्टि से जगत् का लय हो जाने के कारण ज्ञानी ब्रह्मरूप हो जाता है, इसलिये आप कृपा करके मुझमें तत्वज्ञान भर दो ।

॥ हरि ॐ ॥

"अक्षरब्रह्म" - शब्द का स्वरूप

भारतीय दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में परम तत्व को शब्द रूप माना जाकर "शब्द ब्रह्म" या "अक्षर ब्रह्म" कहा गया है। समस्त जगत की उत्पत्ति इसी अक्षर ब्रह्म से होना मानी गई है। जिसे "ओंकार ध्वनि या "ॐ" कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने "योग दर्शन" ग्रंथ में परम तत्व परब्रह्म का वाच्य नाम प्रणव **"तस्य वाचक प्रणवः"** (योग दर्शन - १/२७) अर्थात् "उस परम तत्व ब्रह्म या ईश्वर का यथार्थ रूप बताने वाला नाम प्रणव है" कहा है। इस प्रणव ध्वनि को ही हम ओम्, ॐ या ओंकार ध्वनि कहते हैं। मुंडकोपनिषद् में ॐ इस नाम ध्वनि द्वारा ही आत्म तत्व की साधना करने का निर्देश दिया गया है। इस प्रकार यह ॐ स्वयं अक्षर तत्व होकर उस परम तत्व को जानने का साधन बताया गया है। **"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्"** (२/२/६) ओम् इस प्रकार आत्मा का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार यह ॐ ही अक्षरब्रह्म या परावाक् को जान लेने का अंतिम एवम् एकमात्र आधार होता है। हम इस अक्षरब्रह्म के अक्षर स्वरूप को ही जानने का प्रयास कर रहे हैं। अभिव्यक्त स्वरूप को ही व्यक्त कर रहे हैं इस क्रम में।

६.१ (२) वैदिक साहित्य में समस्त जगत (सृष्टि) की उत्पत्ति इसी एक शब्द स्पन्दन" ॐ" से मानी गई है। तैत्तिरीयोपनिषद् में श्रुति देवी का कथन है - "ओमिति ब्रह्म ओमितिदँ सर्वम्। (१/८/१) अर्थात् ओम् यह शब्द ब्रह्म है, यह संपूर्ण सृष्टि ॐ ही है। मांडूक्योपनिषद् में श्रुति देवी का कथन है - **"ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥" (१)**

अर्थात् "ओम्" इस प्रकार का यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है। यह संपूर्ण जगत उसका ही उपाख्यान, निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। भूत अर्थात् जो हो चुका, वर्तमान और भविष्य अर्थात् जो होने वाला है, यह सब ओंकार ही है तथा भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों से परे यदि अन्य कोई दूसरा है तो वह भी ओंकार ही है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी ओंकार ध्वनि को एकाक्षर ब्रह्म - **"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म"** (८/१३) कहा गया है तथा इस ओम् प्रणव तत्व को ही जानने योग्य - **'वेद्यं पवित्रं ओंकार'** (९/१७) बताया है। यह प्रणवाक्षर "ओम्" आत्मा का प्रतिरूप है।

छांदोग्योपनिषद् में इस शब्द रूप आत्मा को ही यह सब - **"आत्मेवेदं सर्वम्"** (७/२५/२) - "आत्मा ही सब है" बताया गया है। तथा इसे ही सर्वत्र व्याप्त होना कथन किया गया है।

"यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेणसर्वा वाक्संतृण्णोंकार एवेद ँ सर्वमोंकार एवेद ँ सर्वम् ॥

(छांदोग्योपनिषद् - २/२३/२)

अर्थात् जिस प्रकार शंकुओं (नसों) द्वारा संपूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार ओंकार से संपूर्ण वाक् व्याप्त है। ओंकार ही यह सब कुछ है। ब्रह्म सूत्र- [वेदांत दर्शन] में महर्षि बादरायण द्वारा इस अक्षर ब्रह्म को ही सृष्टि को धारण करने वाला तथा इसका प्रशासन करने वाला बताया है - **"अक्षरमम्बरांतधृतेः। सा च प्रशासनात् ॥"** (१/३/१०-११) मुंडकोपनिषद् में इसी आत्मरूप परमेश्वर को जानने का निर्देश दिया गया है तथा इसे अमृत का सेतु - अमृत का सेतु - **"अमृतस्य एषः सेतु"** (२/२/५) कहा गया है। इस प्रकार यह शब्द रूपी अक्षर ब्रह्म ही सर्वव्यापी समस्त जगत् का आधार तथा स्वयं प्रकाशित होने वाला तथा दूर से भी दूर एवं अत्यन्त पास बताते हुए मुंडकोपनिषद् में श्रुति देवी का कथन है -

"बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥"

(३/१/७)

अनुवाद - "परम तत्व महान्, सर्वव्यापी एवं अचिन्त्य है, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है, वह दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। वह सभी चेतना युक्त प्राणियों में है। वह मस्तिष्क रूपी गुहा में छिपा है।" हमें मस्तिष्क के ज्ञान तंतुओं को सक्रिय करके इसे जान लेना चाहिये। मन को निर्मल एवं पवित्र बनाकर।

६.१ (३) परम तत्व को अक्षर रूप कहा गया है, यह शब्द रूप में प्रगट होता है। यह शब्द रूप ही ओंकार कहा जाता है। शब्द रूप के दो भेद होते हैं - प्रथम - ध्वनि रूप और दूसरा - लिपि रूप। शब्द का ध्वनि रूप आकाश में विस्तार प्राप्त कर आकाश तत्व में व्याप्त हो जाता है, समाहित हो जाता है, लुप्त हो जाता है। इसका परिचय देते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है - **"शब्दस्तुमुलोऽभवत्"** (१/१३) अर्थात् युद्ध के मैदान में शंख, भेरी, नगाड़ा, गोमुख, मृदंग आदि बजाने से उत्पन्न ध्वनि को तुमुल शब्द या भीषण शब्द कहा है तथा इस शब्द ध्वनि को हृदय को विदीर्ण करने वाला -

''स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्चपृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - १/१९)

अनुवाद - ''इस तुमुल घोष शब्द ने आकाश और पृथ्वी को प्रतिध्वनित करते हुए धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया'' माना गया है ।

वाल्मिकी रामायण में आये धनुष की टंकार से उत्पन्न ध्वनि को **''चकार ज्याखनं वीरो दिशाः शब्देन पूरयन् ।''** (वाल्मिकी रामायण - ४/२६) ''उन्होंने अपने धनुष पर टंकार दी जिसकी ध्वनि से समस्त दिशाएं गुंज उठी'' शब्द कहा गया है । इसी प्रकार संगम स्थल पर गंगा-जमुना दो नदियों के जल टकराव से उत्पन्न ध्वनि को शब्द कहा है -

नूनं प्राप्ताः स्म संभेदं गंगायमुनयोर्वयम् ।
तथाहि श्रूयते शब्दो वारिणोर्वारिघर्षजः ॥

(वाल्मिकी रामायण - २/५४/६)

अनुवाद - ''निश्चय ही हम लोग गंगा-जमुना के संगम के पास आ पहुँचे, क्योंकि दो नदियों के जलों के परस्पर टकराने से जो शब्द प्रकट होता है, वह सुनाई दे रहा है ।'' इस प्रकार यह ध्वनि अर्थात् नाद को ही शब्द माना गया है । ध्वनि के लिपि रूप को अक्षर या वर्ण कहा जाता है । यह अक्षर या वर्ण ध्वनि को समाहित किये होता है । शब्द ध्वनि का शाश्वत स्वरूप है, जो उच्चारण किये जाने पर शब्द-ध्वनि को मूल रूप में प्रगट कर देता है, जब-जब हम वर्ण का उच्चारण करते हैं तब-तब यह शब्द, ध्वनि रूप में प्रगट हो जाता है । अपने इसी गुण के कारण शब्द को या ध्वनि के लिपि रूप को ''अक्षर'' कहा जाता है । अक्षर कभी समाप्त नहीं होने वाला, कभी क्षीण या क्षय न होने वाला ध्वनि का अक्षय स्वरूप है, शाश्वत सनातन स्वरूप है । यह अक्षर स्वरूप ही परम ब्रह्म - **''अक्षरं ब्रह्म परमं''** (श्रीमद्भगवद्गीता - ८/३) कहा गया है, श्रीमद्भगवद्गीता में । शब्द स्वरूप या शब्द गुण का परिचय देते हुए ''तर्कसंग्रह'' (श्रीमद्न्नम्भट्टविरचित) में बताया गया है कि जिस गुण का श्रोत्रेन्द्रिय (कान) से प्रत्यक्ष (बोध) होता है, वह शब्द है । वह शब्द केवल आकाश में ही रहता है । शब्द दो तरह का है - ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक । भेरी (नगाड़ा) आदि बाजा बजाने से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह ध्वन्यात्मक शब्द कहा जाता है और कंठ से संस्कृत भाषा आदि रूप जो शब्द निकलता है, वह वर्णात्मक शब्द कहलाता है

"श्रोत्रग्राह्योगुणः शब्दः ।" आकाशमात्रवृत्तिः । स द्विविधः ध्वन्यात्मको, वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ । वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः ।"

६.१ (४) भारतीय दर्शन में सृष्टि की संरचना पंच भूतो से जिन्हें पंच महाभूत कहा गया है से होना मानी गई है । हमारे सभी दर्शन ग्रंथ तथा धर्म ग्रंथ पंचतत्वमय सृष्टि का वर्णन करते हुए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्व (पंच महाभूतो) के विषय और गुणों की व्याख्या करते हैं । सांख्य दर्शन में पंचमहाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की पंच तन्मात्राएं क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द (सांख्य दर्शन - १/२६-२७) कही गई हैं । इन तन्मात्राओं को पंच महाभूतों का गुण और विषय भी कहा जाता है । वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी महाभूत को रूप, रस, गंध तथा स्पर्श गुणवाली - **"रूपरसगंधस्पर्शवती पृथिवी"** (वै. दर्शन - **१/२**/१) जल महाभूत को - रूप, रस, स्पर्श तथा द्रवत्व एवं स्निग्ध गुणों से युक्त - **"रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ।"** (वै. दर्शन - **१/२**/२) अग्नि महाभूत को - तेजोमय और स्पर्श गुणों से युक्त - **"तेजो रूपस्पर्शवत् ।"** (वै. दर्शन - २/१/३) तथा वायु महाभूत को स्पर्श गुण वाला माना गया है - **"स्पर्शवान् वायुः"** (वै. दर्शन - २/१/४) तथा आकाश महाभूत में इनको अनुपस्थिति माना गया है - **"त आकाशे न वियते"** (वै. दर्शन २/१/५) । ये चार रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण आकाश तत्व में नहीं होते हैं । इस प्रकार पंचमहाभूतों में आकाश तत्व जिसका गुण और लक्षण शब्द है, अपने स्वरूप में विकार रहित होता है । अन्य महाभूतों के संसर्ग से ही आकाश तत्व में विकार प्रवेश करते हैं और इन सब महाभूतों के गुणों के वर्णन या अभिव्यक्ति का आधार भी यह शब्द ही बनता है । यह आकाश तत्व अन्य सभी महाभूतों का आश्रय स्थल होता है । आकाश तत्व (महाभूत) और इसका गुण या लक्षण शब्द सर्वत्र व्याप्त होता है । आकाश महाभूत के तथा इसके गुण और लक्षण शब्द की सर्व व्यापकता तथा अभिव्यक्ति की शब्द सामर्थ्य के आधार पर ही श्रीमद्भगवद्गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए - परम तत्व परावाक् स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं को आकाश में शब्द - **"शब्दःखे"** (७/८) होना बताया हैं । इस प्रकार विकार रहित रूप में शब्द निरपेक्ष होता है । यह अन्य सभी महाभूतों में व्याप्त होना तथा इन सभी का आधार होना माना गया है । अपने इन्हीं गुणों के कारण आत्मबोध की यात्रा में तथा दार्शनिक जगत में शब्द को ही सर्वव्यापक तथा आराधना का विषय एवं माध्यम माना गया है ।

६.१ (५) सृष्टि के सृजन क्रम में व्याप्त पंच महाभूत के गुणों एवं लक्षण से ही पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गई है । न्याय दर्शन

के अनुसार पंच महाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के गुण क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के आधार पर क्रमशः नासिका, जिह्वा, नैत्र, त्वचा तथा कान (श्रोत्र) इन पांच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होना मानी गई है (न्याय दर्शन - १/१/१२-१४) । पांच कर्मेन्द्रियों हाथ, पैर, गुदा, लिंग या त्वचा तथा जिह्वा और पांच ज्ञानेन्द्रियों कान, त्वचा, नैत्र, जिह्वा एवं नासिका के द्वारा ही पंच महाभूत तथा इसके गुणों का या विषयों का बोध मन द्वारा बुद्धि के सहयोग से किया जाता है । बुद्धि का गुण निर्णायक होना है । मन पांच कर्मेन्द्रियों तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों इस प्रकार इन दशेन्द्रियों का स्वामी होकर स्वयं भी संकल्प विकल्प से युक्त होकर उभयात्मक होता है - **''उभयात्मकम् मनः ।''** (सांख्य दर्शन - २/२६) । अपने इस उभयात्मक स्वभाव के कारण ही मन प्रत्येक विषय या वस्तु के बारे में पक्ष तथा प्रतिपक्ष की तथ्यात्मक जानकारी प्राप्त करता है और इसके सही होने का निर्धारण बुद्धि द्वारा किया जाता हैं । बुद्धि का गुण निश्चयात्मिका होना है - **''अध्यवसायो बुद्धिः''** (सांख्य दर्शन - २/१३) । मन के दशेन्द्रियों से जुड़े होने तथा स्वयं के इस कर्ता स्वरूप आधार पर ही मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है । -

''कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियेरान्तरमेकादशकम्'' (सांख्य दर्शन - २/१९) ।

मानव शरीरस्थ दशेन्द्रिय मन और बुद्धि तथा आत्म तत्व का क्रम निर्धारण करते हुए, श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

''इन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।'' (३/४२)

अर्थात् इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे ब्रह्मतत्व है या अहम् तत्व है । यह क्रम निर्धारण कठोपनिषद् में भी निम्नानुसार पाया जाता है -

''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्चपरं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ (१/३/१०)

अनुवाद - ''क्योंकि इन्द्रियों से शब्दादि विषय बलवान् हैं और शब्दादि विषयों से मन प्रबल है और मन से भी बुद्धि बलवती है तथा बुद्धि से महान् आत्मा उन सब का स्वामी होने के कारण अत्यन्त श्रेष्ठ एवं बलवान है ।''

यह आत्मा रूपी परम तत्व ही जो कि परावाक् रूप होता है, जानने का विषय होता है । मन का गुण यद्यपि उभयात्मक अर्थात् पक्ष - प्रतिपक्ष के विचार से परिपूर्ण या पक्ष-प्रतिपक्ष का शोध करना तथा कल्पना के और अनुभव के सहारे इन्हें ज्ञात करना होता है किन्तु यह मन एक समय में एक ही विषय से संलग्नता रखता है । ''शब्द'' मन की इस कार्यक्षमता को द्विविध आधार

प्रदान करता है। शब्द ज्ञान और कर्म दोनों का ही बोध कराता है तथा इनका प्रेरक हो जाता है। यह इस प्रकार कि शब्द से प्रेरित होकर ही अधिष्ठाता मन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से सायुज्य होकर कार्य को तत्पर होता है और शब्द श्रवण करके ही मन संशय या शंकाओं का समाधान या ज्ञान की प्राप्ति या अनुभूति करता है। इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरण विचार योग्य है -

''कपि के वचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिश्वास'' (श्रीरामचरितमानस - ५/१३)।

यहाँ लंका के अशोक वन में अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई सीताजी के मन में श्रीराम के दूत हनुमान के वचनों को सुनकर ही उनकी सत्यता पर विश्वास हुआ है। इसी प्रकार - शब्द का, कर्म की प्रेरणा देने वाले तथा संशय को समाप्त करने वाले, स्व-स्वरूप का बोध कराने वाले निम्न उदाहरण हमें शब्द की इस सामर्थ्य को समझने में मदद करते हैं। प्रथम उदाहरण रूप में - सीता-राम स्वयंवर अवसर पर लक्ष्मण द्वारा ऋषिवर परशुराम के प्रति कहे गये वचनों का प्रभाव निम्न चौपाई में दृष्टव्य हैं -

''सुनत लखन के बचन कठोरा। परसु सुधारि धरेउ कर घोरा ॥''

(श्रीरामचरितमानस - १/२७५/२)

इसी प्रकार - ''आरत गिरा सुनी जब सीता'' (श्रीरामचरितमानस - ३/२८/२) में शब्द का कर्म का प्रणेता स्वरूप स्पष्ट होता है। शब्द की संशय दूर करने की सामर्थ्य हमें श्रीमद्भगवद्गीता में प्रगट रूप से देखने को मिलती है, जब श्रीकृष्ण द्वारा अपने आत्म स्वरूप का बोध कराया गया तो कायरता के भाव तथा विमूढ़ता से ग्रस्त हतबल अर्जुन अपने योद्धा स्वरूप को स्मरण करके स्वयं ही कह उठा -

''नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करीष्ये वचनं तव ॥''

(श्रीमद्भगवद्गीता १८/७३)

अनुवाद - हे अच्युत (अर्थात् मुझसे अभिन्न परम तत्व) आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे अपने आत्मस्वरूप की स्मृति प्राप्त हो गई है, मैं अपने इस आत्मस्वरूप में स्थित हो गया हूँ अर्थात् अब मैं स्वस्थ हो गया हूँ, मेरे सभी संदेह नष्ट हो गये है, मैं संशयरहित हो गया हूँ, मैं आपके वचनों का पालन करूंगा ॥

इस प्रकार मन की भ्रांति, धर्म चेतना का मोह, प्राणों का शोक, इन्द्रियों की व्याकुलता, देह का शैथिल्य और कंपन अर्थात् भीरूता समाप्त करने वाला होकर - शब्द-मन की सामर्थ्य को बढ़ाने वाला तथा मार्ग-दर्शन करने वाला एवं कर्म का प्रणेता होता है। यह शब्द ही बोध प्राप्ति का तथा

ज्ञान प्राप्ति का साधन एवं कर्म के लिए मार्ग दिखाने वाला होता है, इस सांसारिक जगत् में प्रत्येक व्यक्ति के लिये तथा अध्यात्म जगत् में भी यह शब्द ही बोध कराने वाला होता है, प्रत्येक साधक के लिये। श्रीमद्‌भागवद्‌गीता में इस ज्ञान प्राप्ति को ही कर्म का लक्ष्य बताया गया हैं।

"सर्वम् कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" (४/३३)

अनुवाद - "हे पार्थ, सम्पूर्ण और यावनमात्र प्रत्येक कर्म, ज्ञान में समाप्त होते हैं।" कर्म की पराकाष्ठा ज्ञान प्राप्ति है, शब्द द्वारा प्राप्त किया गया यह ज्ञान ही व्यक्ति को मानसिक धरातल पर तथा आचरण के क्षेत्र में पवित्रता अर्थात् श्रेष्ठता प्रदान करने वाला होता है। -

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ४/८)

अनुवाद - "इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह अन्य कुछ नहीं है।" इस ज्ञान प्राप्ति को ही मुक्ति प्रदाता अर्थात् मोक्ष का कारण या आधार माना गया है। **"ज्ञानान्मुक्तिः"** (सांख्य दर्शन - ३/२३) अर्थात् जगत् के आधार पुरूष एवं प्रकृति का भेद ज्ञात हो जाने पर या आत्मबोध हो जाने पर मुक्ति हो जाती है, यह सांख्य दर्शन में महर्षि कपिल का कथन है।

६.१ (६) भौतिक जगत में शब्द या ध्वनि की उत्पत्ति का कारण "कंपन", "स्पन्दन" या "क्रिया" होता हैं - **"संघातात् शब्दः"**। वायु का संचरण स्वाभाविक रूप से कम्पन द्वारा ध्वनि या शब्द की उत्पत्ति करता है। हृदय का स्पन्दन सतत् रूप से धक्-धक् शब्द की उत्पत्ति करता है। चिकित्सा जगत में हृदय के स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द या इस स्पन्दन को ही जीवन का लक्षण माना गया है। यह स्पन्दन रूपी शब्द ही किसी प्राणी के जीवित होने का आधार होता है। क्रिया रूप में अग्नि की चिंगारी के चटखने की आवाज या पानी के सतह पर बहने से कल-कल शब्द की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। आकाश महाभूत सभी प्रकार के कम्पन, स्पन्दन और क्रिया रूप से उत्पन्न होने वाले शब्द का आश्रय है। इसकी अनुभूति श्रवणेन्द्रिय द्वारा होती है। मन ही कर्मेन्द्रिय द्वारा (घंटा बजाकर) और ज्ञानेन्द्रिय द्वारा (श्रवण करके) भौतिक जगत में उत्पन्न शब्द की अनुभूति प्राप्त करता है। साथ ही यह मन, आंतरिक जगत में जिसे कि अध्यात्म के क्षेत्र में चिदाकाश कहा गया है में व्याप्त और उत्पन्न होने वाले शब्द को भी अनुभव करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार कि हृदय की धड़कन को सुनना, चिकित्सा जगत में देखना कहा जाता है या आयुर्वेद शास्त्र में नाड़ी की गति का श्रवण नाड़ी देखना कहा जाता है। उसी प्रकार चिदाकाश में व्याप्त शब्द की अनुभूति प्राप्त करना भी देखना ही कहा जाता है तथा इसी आधार पर चिदाकाश में उत्पन्न ध्वनि को, व्याप्त

ध्वनि की अनुभूति को ''पश्यन्ती'' कहा गया है। इस अवस्था को संस्कृत साहित्य में ''मनसा पश्यंती'' कहा जाकर इसका वर्णन ''ध्यानावास्थित तद्गतेन मनसा पश्यंतीयं योगिनो'' पदावली द्वारा व्यक्त किया गया है।

६.१ (७) वैदिक वाङ्मय उपनिषद ग्रंथों में - ओंकार ध्वनि को ही भूत, वर्तमान और भविष्य काल के समस्त सृष्टि क्रम के उत्पत्ति, विकास और लय का कारण तथा इन तीनों अवस्थाओं और तीनों कालों से परे भी समस्त सृष्टि का आधार बताया है (मांडूक्योपनिषद्)। यह प्रणव ध्वनि, ॐकार ध्वनि इस जगत में सतत् रूप से विद्यमान है। ॐकार शब्द की इस सतत् एवं शाश्वत व्यापकता को ही संत गुरुनानक देव द्वारा ''एक ॐकार'' कहा गया है। इस शाश्वत स्पन्दन का श्रवण और अनुभव मन के द्वारा ही किया जाता है। जिसे अनहद नाद कहा गया है। यह स्पन्दन प्रगट रूप में क्रिया रहित - (अन् + आहत) होने से इसे अनाहत् या अनहद नाद कहा जाता है। यह अनहद नाद ॐकार ध्वनि के परास्वरूप को, आत्मतत्व के परा रूप को या परावाक् को प्रगट करता है। ध्वनि का परास्वरूप शब्द का उत्पत्ति स्थान है, शब्द का मूल रूप है और यह स्वयं शब्द ही है। जिस प्रकार जल द्रवत्व प्राप्त कर के जल कहलाता है और ठोस रूप बर्फ होकर भी जल ही रहता है, उसी प्रकार शब्द मूल रूप में परावाणी है, परास्वरूप है या परावाक् है। यह ध्वनि वाक् का घनीभूत स्वरूप है, जो प्रगट होकर भी अपने मूल रूप में अक्षर ही बना रहता है। जिस प्रकार घण्टा ध्वनि निःसृतः होकर भी घण्टा स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं डालती है और घण्टा स्वरूप ''ध्वनि का अक्षय परारूप'' बना रहता है, उसी प्रकार शब्द रूप, आत्म तत्व प्रगट होकर, सृष्टि रूप होकर भी अक्षर बना रहता है। पूर्ण बना रहता है। यह घंटा स्वरूप परम तत्व के परारूप का बोध कराने वाला है। परब्रह्म तत्व या परावाक् घण्टा स्वरूप है। वेदोक्त कथन ''पूर्ण में से पूर्ण के निकाल लिये जाने पर भी पूर्ण स्वरूप ही शेष बचा रहता है'', इस सूत्र वाक्य का बोध हमें घण्टा स्वरूप ही कराता है। उस परमात्मा तत्व का बोध कराने वाला यह घण्टा, ध्वनि रूप में मंदिर के प्रवेश द्वार पर गूंजता हुआ हमें परम तत्व के अक्षर स्वरूप का ही बोध करा रहा है - युगों-युगों से।

६.१ (८) क्या ध्वनि और नाद में कोई अंतर है ? इस संबंध में स्थिति यह है कि ध्वनि और नाद दोनों शब्द एक ही विषय से जुड़े होकर पृथक-पृथक बोध कराने वाले हैं। ध्वनि का मूल रूप अक्षर है, जिसे वर्ण कहा जाता है। प्रत्येक ध्वनि पृथक-पृथक होकर अक्षर स्वरूप को सूचित करती है.। वर्ण रूप में लिपि का आधार बनती है, जब यह ध्वनि सतत रूप से उत्पन्न होती

है या सतत रूप से गुंजायमान होकर सुनाई देती हैं, तो इसे नाद कहते है अर्थात् ध्वनि का सातत्य या सतत् रूप से होना ही नाद है। इसे हम यों प्रगट कर सकते हैं कि ध्वनि के श्रृंखलाबद्ध प्रगटन से जब एक ध्वनि और दूसरी ध्वनि के बीच विराम का अभाव हो जाता है, तो यह सतत् ध्वनि ही नाद बन जाती है। नाद, ध्वनि का निराकार रूप है। हम ध्वनि को शब्द या अक्षर रूप में प्रगट कर सकते हैं। लिपि रूप में प्रगट कर सकते हैं किन्तु नाद लिपि या अक्षर वर्ण का विषय नहीं होता है, यह शब्द ब्रह्म के या अक्षर ब्रह्म के निराकार स्वरूप का ही बोध कराने वाला है।

६.१ (९) शब्द का यह परास्वरूप जो स्वयं में आत्म रूप ही है, विस्तार और सृजन के क्रम में - ॐकार ध्वनि रूप - श्वसन क्रम के साथ निरंतर प्रगट होता है। जिसे "सोऽहम् इति वृत्ति अखण्डा" (श्रीरामचरित्मानस - ७/११८/१) रूप में आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा श्रीरामचरित्मानस ग्रन्थ में प्रगट किया गया है। यह आत्म तत्व का ही प्रगटीकरण है तथा इस शरीर के होने का कारण भी यह शब्द ही है जिसे आत्मा कहा गया है। वृहदारण्योपनिषद् में भी आत्म तत्व को गति करता हुआ श्वासोच्छवास के साथ शब्द उत्पन्न करते हुए जाने वाला बताया गया हैं (४/३/३५)। यह आत्मा ही सबका सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और सब जीवों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान होने के कारण - यह सबका कारण योनि है।

"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ, एषोऽन्ततर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।" (माण्डूक्योपनिषद् - ६)

अर्थात् "यह सबका ईश्वर है। यह सर्वज्ञ है। यह सबका अन्तर्यामी है। यह सम्पूर्ण जगत का कारण है क्योंकि समस्त प्राणियों का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का स्थान यही है।" जिस प्रकार सूर्य की किरणें उत्पन्न या प्रगट होती है और किरणों के द्वारा ही सूर्य की अभिव्यक्ति होती है, सूर्य का अस्तित्व जाना जाता है, उसी प्रकार यह समस्त सृष्टि-अक्षर रूप ब्रह्म से ही प्रगट होकर अक्षर रूप अर्थात् शब्द से ही जानी जाती है। यह अक्षर ब्रह्म के अस्तित्व को ही प्रगट करती है। परम तत्व श्रीकृष्ण का कथन 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' (श्रीमद्भगवद्गीता - १४/३) इसी तथ्य का वर्णन है।

६.१ (१०) परातत्व का यह प्रगटीकरण चतुर्दिक होता है। इसे अभिव्यक्त करने के लिये वैदिक वाङमय में "चतुष्पाद्" शब्दावली का उपयोग किया गया हैं। यह शब्दावली निश्चयात्मक बोध कराने वाली है। माण्डूक्योपनिषद् में श्रुति देवी का कथन है -

"सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाद्" ॥२॥

अनुवाद - "यह सबका सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा ब्रह्म है। वह, यह आत्मा चार चरणों वाला है।"

छांदोग्योपनिषद् में परम तत्व "ब्रह्म के चार चरण - प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् और आयतनवान होना बताये गये हैं (छांदोग्योपनिषद् अध्याय - ४ खंड ५ से ९) । ये चार गुण इस सृष्टि में सर्वत्र सभी पदार्थों में प्रगट हुए हैं। यह परब्रह्म अपने सम्पूर्ण स्वरूप में - "मानव" शरीर में प्रतिरूप होकर प्रगट होता है। - "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" चेतनायुक्त प्राणी के शरीर में स्थित होकर इसे परम् तत्त्व ब्रह्म की संज्ञा आत्मा हो जाती है। वेदान्त दर्शन ब्रह्म में इसे ही जन्म - मृत्यु का कारण माना गया है। - जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र१/१/२) । ब्रह्मवेत्ता ऋषि उद्दालक अपने शिष्य श्वेतकेतु को - "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" कहते हुए इस ब्रह्म तत्व के साकार स्वरूप एवं सर्वरूप का बोध कराते है। श्रीमद्भगवद्गीता में समस्त प्राणियों को परम तत्व का ही अंश होना बताया गया है - "ममेवांशो जीवलोके जीवभूत सनातनः" (१५/१७) श्रीरामचरितमानस में भी सभी मनुष्यों को जीव वंश होना तथा परम तत्व ईश्वर को अविनाशी होना कहा गया है - "ईश्वर अंश जीव अविनाशी - (७/११७/१) मानव शरीर में स्थित होकर भी यह आत्म तत्व अक्षय स्वरूप या अक्षर रूप ही बना रहता है 'कूटस्थो अक्षर उच्यते' (१५/१६) । इस आत्मतत्व के चार पाद या चार चरण माण्डूक्योपनिषद् में बताये गये हैं - आत्मा के ये चार पाद - जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था हैं। समस्त प्राणी समुदाय इन्हीं चार अवस्थाओं में बंधा हैं। परम तत्व ब्रह्म या आत्म तत्व की ये चारों अवस्थाएं शब्द रूप होकर प्रणवाक्षर द्वारा अभिव्यक्ति पाती है। जिन्हें अ, उ, म और स्वर (प्लुत स्वर) मात्रा कहा गया है। प्लुत स्वर मूल रूप होकर विवेचना का विषय नहीं होता है। शेष तीन पाद अ, उ, म की विस्तृत व्याख्या दर्शन ग्रंथों तथा उपनिषदों में की गयी है। जिसमें इस ॐकार तत्व को ही - "अरा इव रथनाभौ" रथ की नाभि में अरों के जुड़े हुए सदृश्य इस सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करने वाला बताया गया है। यह प्रगट हुआ ब्रह्म तत्व, आत्म तत्व या ॐकार तत्व शब्द रूप होकर या वाक् रूप होकर पुनः अपने मूल में स्थित हो जाता है अर्थात् यह वाक् रूप होकर अपने मूल रूप को ही प्रगट करता है। वाक् द्वारा उच्चारित शब्द ब्रह्म तत्व का बोध कराता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म तत्व को आकाश के सदृश शरीर वाला - **"आकाश शरीरं ब्रह्म"** (१/६) कहा गया है। शब्द ही आकाश का गुण या लक्षण है। अतः यह शब्द ही ब्रह्म है। शब्द की उत्पत्ति - वाद्य ध्वनि संघात ध्वनि या क्रिया अर्थात् कम्पन ध्वनि के अतिरिक्त वागेन्द्रिय द्वारा

होती है। जिसे गिरा या वाक् या वाणी कहा जाता है। ऋग्वेद में वाणी के उत्पत्ति स्वरूप को प्रगट किया गया होकर प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त में हम इसका वर्णन संवाद रूप में पाते है - "पृच्छामि वाचः परमं व्योम" (१/१६४/३४) अनुवाद - हे विद्वन्, वाणी के परम व्यापक आकाश को अर्थात् वाणी के उद्गम को पूछता हूँ। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए - "ब्रह्मायं वाचः परमं व्योमः" (ऋग्वेद - १/१६४/३५) अनुवाद - यह ब्रह्मा अर्थात् चारों वेदों का प्रकाश करने वाला परमात्मा ही वाणी का आकाश अर्थात् उत्पत्ति स्थान हैं। वाक् का उत्पत्ति स्थान बताते हुए वेदर्षि अर्थात् स्वयं ब्रह्मा कहते है -

"यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः" (ऋग्वेद - १/१६४/३७)

अनुवाद - "जब प्रकृति से प्रथम उत्पन्न हुए महत्तत्वादी मुझ जीव को प्राप्त हुए अर्थात् स्थूल शरीरावस्था प्राप्त हुई। उसके अनन्तर ही सत्य और इस वाणी के भाग को मैं प्राप्त होता हूं।" पुरुष सुक्त में भी ऋचाओं की अर्थात् वेद वाणी की उत्पत्ति परम तत्व से ही होना बताई गई है।

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥"

(ऋग्वेद - १०/९०/९)

अनुवाद - "उस परम पुरुष विराटदेह रूप से ऋचाएँ एवं साम उपजे हैं। उससे ही छंद और यज्ञ की उत्पत्ति हुई है। उसी से यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई है।"

परम तत्व से उत्पन्न हुई ये ऋचायें ही पश्यन्ती वाक् को प्रगट करने वाली है। ये ऋचाएं आकाश में सर्वत्र व्याप्त होना कहीं गई है - "ऋचो अक्षरे परमे व्योम" (ऋग्वेद - १/१६५/३९) ये ऋचाएं अर्थात् वेद वाणी इस संपूर्ण आकाश में व्याप्त है।

६.१ (११) परम पुरुष ब्रह्म तत्व से उत्पन्न ये ऋचाएं ही मनुष्य की वागेन्द्रिय द्वारा वाणी रूप में प्रगट होती है। इसके आधार पर ही वाणी की चार अवस्थाएं या चार पाद बताये गये है -

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनिषीणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद - १/१६४-४५)

अनुवाद - "जो मन के अन्वेषण कर्ता विद्वान् ब्रह्मवेत्ता ऋषिगण है। वाक् अर्थात् वाणी के जानने योग्य चार पाद बताते हैं। इनमें से तीन - मानव की

बुद्धिरूपी गुहा (मस्तिष्क) में निहित होती है चौथी तुरीय रूप को ही मनुष्य बोलते है।"

वाणी के ये चार रूप विद्वान् मनीषियों द्वारा क्रमशः परावाक्, पश्यन्ती वाक्, मध्यमा वाक् तथा वैखरी वाक् कहे गये है। इनमें चतुर्थ वाक् अर्थात् वैखरी वाक् स्वरूप को ही सभी मनुष्य बोलते है। इसकी प्रथम तीन अवस्थाएं अप्रगट रहती है। इस प्रगट जगत का प्रत्यक्ष बोध कराने वाली यह वेखरी वाणी - वाक् का चतुर्थ पाद है। इसके प्रथम तीन पाद - परावाक्, पश्यंती वाक् तथा मध्यमा वाक् अप्रगट ही रहते हैं। वाणी के ये चार पाद परम तत्व को ही प्रगट करने वाले हैं। वाणी का परावाक् रूप परम तत्व का ही बोध कराने वाला है। यह परम तत्व ही है। जिस प्रकार कि घंटा को घंटाध्वनि का परारूप समझा जाता है, उसी प्रकार वाणी का यह परावाक् रूप स्वयं परम तत्व ही है। ऋग्वेद की निम्न ऋचा वाक् के चारों पाद को परम तत्व का ही स्वरूप होने का बोध कराती है। -

"त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽत्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ्‌ व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥"

(१०/९०/४)

अनुवाद - "उस परम पुरुष के तीन चरण ऊपर है, ऐसा जाना जाता है। ऋषियों द्वारा कहा गया है - परम पुरुष का एक चरण ही यह जगत रूप प्रगट होकर व्यक्त है। वह विश्व को धारण करने वाला परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है जो अन्न ग्रहण करने वाले और अन्न ग्रहण नहीं करने वाले प्राणी हैं, उन सब में भी वही व्याप्त है।" बालक और गाय का बछड़ा छोटा होने पर अन्न ग्रहण नहीं करता है। बड़ा होने पर ही अन्न को ग्रहण करने वाला कहा जाता है।

वाक् के ये चार रूप अर्थात् चार चरण ही शब्दानुसंधान के विषय होते है। वाक् का चतुर्थ पाद परावाक् परम तत्व का बोध कराने वाला होने से परम तत्व के साक्षात्कार का यह ही एकमेव मार्ग है - जिसे अभिव्यक्त करते हुए, परम तत्व श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं कहा गया है - **"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"** (श्रीमद्भगवद्गीता - १०/२५) "सभी प्रकार के यज्ञों में जप यज्ञ मैं हूँ।" यहाँ हम यह कहेंगे कि इसके अतिरिक्त परम तत्व को जान लेने का अन्य कोई मार्ग भी नहीं है - **"नान्य पंथा वियतेऽयनाय।"**

६.१ (१२) जिस प्रकार परम तत्व का चतुर्थ पाद यह व्यक्त जगत है, उसी प्रकार वाक् या शब्द ब्रह्म का चतुर्थ पाद "वैखरी वाक्" परारूप शब्द का व्यक्त स्वरूप है। शब्द का परारूप ही विस्तार क्रम में वाणी रूप में वागेन्द्रिय द्वारा प्रगट होता है। परम तत्व के विस्तार क्रम के चार पाद आधार पर शब्द ब्रह्म

के विस्तार के ये चार पाद ही वाणी के चार पाद होते हैं जो - परावाक्, पश्यंती वाक्, मध्यमा वाक् तथा वेखरी वाक् कहे गये है। विस्तार के क्रम में इनका प्रगटन या विस्तार का क्रम निम्नानुसार होता है -

परावाक् (परम तत्व)
↓
पश्यंती वाक्
↓
मध्यमा वाक्
↓
वैखरी वाक्
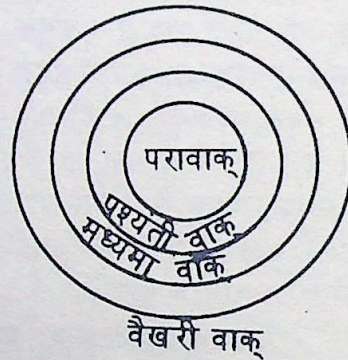
शब्द ब्रह्म के इस विस्तार क्रम को हम परा → पश्यंती → मध्यमा → वैखरी क्रम द्वारा भी सूचित कर सकते हैं। शब्द का अनुसंधान करने के लिये या परम तत्व जिसे अक्षर ब्रह्म कहा गया है का साक्षात्कार करने के लिये हमारा यात्रा क्रम बदल जाता है। हम विस्तार से उद्गम की ओर बढ़ते है और हमारी यात्रा का क्रम वैखरी वाक् → मध्यमा वाक् → पश्यंती वाक् → परावाक् (अक्षर ब्रह्म या परम तत्व) हो जाता है। अर्थात् हम ऊर्ध्वगामी होकर परावाक् या अक्षर ब्रह्म या परम तत्व का बोध प्राप्त करते है। यह ऊर्ध्वगामी यात्रा जो अप्रगट वाक् के मध्यमा, पश्यंती और परा वाक् की बोध यात्रा होती है, यह ही विराट पुरुष के तीन अप्रगट ऊर्ध्व चरण को व्यक्त करने वाली है। इस प्रकार जब हम मध्यमा, पश्यन्ति और परावाक को ज़ानने का प्रयास करते हैं या जब हम इन्हें जान रहे होते हैं, तब हम परमपुरुष के तीन ऊर्ध्व पाद को जानने का प्रयास कर रहे होते हैं या उन्हें जान रहे होते हैं। परा वाक् की बोध यात्रा का यह क्रम परमपुरुष की बोध यात्रा ही है। यह निम्नानुसार स्पष्टतः प्रगट है -

पाद क्रम	वाक् के चार पाद	परम पुरुष के चार पाद
प्रथम पाद	परा वाक् (गुहा में स्थित)	अप्रगट (ऊर्ध्व में स्थित)
द्वितीय पाद	पश्यंती वाक् (गुहा में स्थित)	अप्रगट (तथैव)
तृतीय पाद	मध्यमा वाक् (गुहा में स्थित)	अप्रगट (तथैव)
चतुर्थ पाद	वैखरी वाक् (प्रगट वाक्)	प्रगट जगत (समस्त संसार)

इस प्रकार वाणी के परा स्वरूप का बोध प्राप्त कर लेना ही शब्द स्वरूप का बोध प्राप्त करना या स्व-स्वरूप का या परम तत्व का बोध प्राप्त करना है, जिसे शब्द साक्षात्कार या नाद ब्रह्म से साक्षात्कार कहा गया है। शब्द के इस मूल उत्पत्ति स्थान, परावाक् को ही नाद बिन्दु रूप में जाना जाता है, जो स्वयं ऊर्जा रूप है, शक्ति रूप है, स्फुरणयुक्त है और अपने इन गुणों के कारण ही यह स्वतः स्पन्दन युक्त होकर जीवात्मा होता है तथा यह ही शब्द रूप में या वाणी रूप में उद्भुत होता है, प्रगट होता है, सृजनशील होता है तथा विस्तार पाता है।

६.१ (१३) वाक् की इन चार अवस्थाओं परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी का बोध प्राप्त करने के लिये या इन्हें समझने और आत्मसात् करने के लिए हमारे द्वारा इन्हें क्रमशः शब्द की उत्पत्ति (अर्थात् उत्पत्ति स्थान), शब्द का विकास, शब्द का स्वरूप ग्रहण तथा शब्द का प्रगटीकरण आरम्भ में ही ("शब्द और साक्षात्कार" क्रम के अन्तर्गत) अभिव्यक्त किया गया है। शब्द का प्रगटीकरण वाणी रूप अर्थात् प्रगट वाक् है, जिसे हम वागेन्द्रिय द्वारा उच्चारित करते है। वाक् का यह प्रगट रूप ही वैखरी वाणी कहा गया है। वाणी का स्वरूप ग्रहण मध्यमा वाक् है। यह किसी नाटक के मंच पर प्रगटीकरण के पूर्व की पर्दे के भीतर की अवस्था जैसा है, जबकि मंच पर प्रदर्शन के पूर्व सभी पात्र सुव्यवस्थित हो जाते हैं। पश्यंती वाक् वाणी की, शब्द की विकास की अवस्था है। यह विज्ञान है। जब हम घंटा बजाते हैं, तो उसमें से कम्पन उठता हुआ देखते हैं और कम्पन को देखकर, उठती हुई स्वर आवृत्ति सुनकर ही हम इससे संबंध स्थापित कर स्वर लहरियों के उत्पत्ति स्थान को जान पाते हैं। पश्यंती वाक् शब्द की उत्पत्ति केन्द्र का बोध कराने वाला होता है या यों कहें कि शब्द का बोध उत्पत्ति केन्द्र से होता है, यह ब्रह्मानुभूति या अक्षर तत्व की अनुभूति का कारण बनता है। शब्दोत्पत्ति केन्द्र या ब्रह्म अनुभूति को, आत्मा को जानने के लिए वृहदारण्यकोपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा ब्रह्म तत्व की जिज्ञासु अपनी पत्नी, मैत्रेयी के प्रति कहा गया यह कथन दृष्टव्य है-

"दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान्छब्दान्छवाक्याद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ।" (४/५/८)

उस दुन्दुभि/नकारे के बाह्य शब्दों को जिस प्रकार कोई ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु दुन्दुभि या दुन्दुभि के आधार को ग्रहण करने से उसका शब्द भी ग्रहीत हो जाता है ।

"सयथा शंखस्य ध्यायमानस्य न ब्राह्यान्छक्नुयाद् ग्रहणाय शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः" (४/५/९)

जैसे कि मुँह से फूँके जाते शंख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता किन्तु शंख या शंख के बजाने से ग्रहण करने से उस शब्द का भी ग्रहण (ज्ञान) हो जाता है ।

"सयथा वीणाये वाद्यमानाये न ब्राह्यान्छब्दाक्नुयाद् ग्रहणाय वीणाये तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ।" (४/५/१०)

जैसे कि बजाई जाती हुई वीणा या वीणा के बजाये बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता किन्तु वीणा या वीणा के बजाये जाने को ग्रहण करने से इस शब्द का भी ग्रहण या ज्ञान हो जाता है ।

इस प्रकार यह पश्यंती वाक् शब्द के उत्पत्ति केन्द्र का बोध कराने वाला है । दृश्य जगत में भी शब्द की भिन्नता के आधार पर ही हम उच्चारण करने वाले व्यक्ति की भिन्नता का तथा वाद्य संयंत्रों आदि की भिन्नता का बोध प्राप्त करते हैं । इस प्रकार यह शब्द की पश्यंती वाक् अवस्था ही अक्षर ब्रह्म की अनुभूति कराती है । जिसे परावाक् कहा गया है या जिसे ब्रह्मानुभूति या आत्मानुभूति कहा जाता है, उसका बोध प्राप्त करने का कारण यह पश्यंती वाक् ही होता है । इसे स्पष्ट करते हुए हम पुनः कहेंगे कि जिंस प्रकार घंटा नाद के आधार पर घंटा ही घंटा ध्वनि का परारूप होता है तथा इस परारूप का बोध घंटा बजाने से उत्पन्न कम्पन से सम्बन्ध जोड़कर हम उसकी उत्पत्ति घंटा से मान लेते हैं । इसी प्रकार ध्वनि का उत्पन्न होते देखना पश्यंती वाक् की अवस्था है । यह ध्वनि का विकास है, यह ध्वनि के विकास को जानना या स्फुरण को जानना है । परावाक् वह है, जहां से ध्वनि या शब्द उत्पन्न होता है । ध्वनि का उत्पन्न होकर स्वरूप ग्रहण कर लेना ही, ध्वनि का मध्यमा स्वरूप है, जिसे मध्यमा वाक् कहा जाता है । शब्द, ध्वनि या वाणी के ये तीनों रूप - परा, पश्यंती और मध्यमा का इस शरीर के अंदर अपना स्वरूप धारण करते हैं अतः ये दृष्टी का विषय नहीं होते । इनका अस्तित्व स्वीकार करना स्व-अनुभूति से बन्धा होता हैं जो कि साक्षात्कार की श्रेणी में आता है । वाणी का चौथा रूप वैखरी वाक् ही

हमारे द्वारा उच्चारित किया जाकर बोला जाता है। वेद या वेदाङ्ग रूप में जो कुछ वाणी रूप में हमारे द्वारा बोला जाता है, यह समस्त वैखरी वाक् के अन्तर्गत ही आता है। यह वैखरी वाक् ही अपरा होना कहा गया है तथा यह ही अपरा विद्या का आधार होता है।

६.१ (१४) वाणी (वाक्) की ये चारों अवस्थाएं - वागेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहम् तत्व से सम्बन्ध रखती है। वेखरी वाक् का सम्बन्ध वागेन्द्रिय से है। मध्यमा मन से, पश्यंती बुद्धि से तथा परावाक् अहम् तत्व से सम्बन्धित है। वाणी के इन रूपों का बोध संत जनों द्वारा शिष्य साधकों को प्रतिकात्मक भाषा में कराया जाता रहा है। संतमत में वाणी के इन रूपों को क्रमशः जिह्वाजप, कण्ठ जप, हृदय जप तथा नाभि जप कहा गया है। जिह्वा जप वागेन्द्रिय से सम्बन्ध रखता है, कंठ जप कर्मेन्द्रिय जिह्वा की उत्पत्ति स्थान से सम्बन्ध रखने वाली अवस्था है। जिह्वा का मूल कण्ठ है और जिह्वा कर्मेन्द्रिय का मूल या स्वामी मन ही है। हृदय जप कण्ठ जप के बाद वाली अवस्था है। यह हृदय से सम्बन्ध रखती है। हृदय परम तत्व का निवास स्थान है। -

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।"

(कठोपनिषद् - २/३/१७)

अनुवाद - 'सबका अन्तर्यामी अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला परम पुरुष आत्मा सदैव मनुष्यों के हृदय में प्रविष्ट होकर रहता है।' **'कूटस्थो अक्षर उच्यते।'** (गीता - १५/१६) "हृदय में रहने वाला ही अक्षर रूप परमात्मा है।" यह बुद्धि तत्व से जुड़ी हुई तथा विज्ञानमय कोष से जुड़ी हुई अवस्था होती है। नाभि जप की अवस्था सांकेतिक रूप से उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के केन्द्र से जुड़ी हुई है। इस शरीर में नाभि ही उत्पत्ति केन्द्र का मूल है। गर्भस्थ शिशु का पोषण नाभि केन्द्र से जुड़े नाल से होता है। सभी इन्द्रियों का विकास नाभि मूल से होता है। यह अपान वायु (अपान प्राण) का केन्द्र होकर मृत्यु का नियन्त्रण करता है। यह नाभि केन्द्र ही सम्पूर्ण शरीर सत्ता को आच्छादित किये होता है। आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा श्रीरामचरितमानस में श्रीराम-रावण युद्ध के वर्णन में उपयोग किया गया शब्द वर्णन -

"नाभिकुण्ड पियुष बस याकें। नाथ जियत रावनु बल ताकें॥" (६/१०२/३)

प्रतिकात्मक रूप से इसके रहस्य को प्रगट करता है। इस अमृत मार्ग की प्रक्रियात्मक जानकारी क्रिया योग आधार पर या शक्तिपात परम्परा अनुसार हमारे महान् सन्तो द्वारा दी जाती रही है। गुरु-शिष्य परम्परा का अनुपालन करते हुए जिज्ञासु साधक को इस मार्ग की जानकारी प्राप्त करना

चाहिए। यह अमृत मार्ग है, जो युंगों-युगों से परम्परा अनुसार चला आ रहा है।

६.१ (१५) संत कबीर द्वारा वाणी की इन चारों अवस्थाओं - वेंखरी, मध्यमा पश्यंती और परा अवस्था का वर्णन प्रतिकात्मक भाषा में किया गया है। शब्द साक्षात्कार या अक्षर ब्रह्म का आत्मोपलब्धि का मार्ग बताते हुए संत कबीर ने वर्णन किया है -

''जप मरे, अजपा मरे, अनहद हू मरिजाय।
सुरती समानि शब्द में, ताहि काल न खाय॥''

अर्थात् ''सुरति अर्थात् एकाग्र चित्त होकर विशुद्ध मन द्वारा किये जा रहे स्मरण रूपी आत्मा साधना के क्रम कें जिह्वा द्वरा किया जाने वाला जप समाप्त हो जाता है अर्थात् यह अजप में परिवर्तित हो जाता है। यात्रा के क्रम में यह अजप भी समाप्त होकर अनहद (अनाहत् नाद) श्रवण में परिवर्तित हो जाता है और अपनी उच्चतम अवस्था में यह अनहद नाद भी समाप्त होकर शब्द रूपी अक्षर ब्रह्म में समाहित हो जाता है जो स्वयं काल से परे है। अक्षर है।'' संत कबीर द्वारा किया गया यह वर्णन वाणी के चारों स्वरूप का बोध कराता है। संत कबीर द्वारा इस शब्द को ही परम तत्व का रूप या परम तत्व का बोध कराने वाला माना गया है, अपने गूढ़ अर्थों में।

''बीजक बित्त बतावई, जो बित गुप्ता होय।
सब्द बतावे जीव को, बूझै बिरला कोय॥ (रमैनी - ३७)

अर्थात् ''जिस प्रकार बीजक गुप्त धन को प्रगट करता है, उसी प्रकार यह शब्द जीव तत्व का बोध कराने वाला होकर आत्म तत्व का बोध कराता है। जिसे कोई बिरला पुरुष ही जानता है।'' इस प्रकार संत कबीर द्वारा परावाक् को ही शब्द कहा गया है तथा उनके द्वारा जिन्हें जप, अजप, अनहद और शब्द कहा गया है। ये अवस्थाएं वागेन्द्रिय जिह्वा, मन, बुद्धि तथा अहम् तत्व से सम्बन्ध रखती हैं। इन्हें ही सन्त मत में क्रमशः जिह्वा जप, कण्ठ जप, हृदय जप और नाभि जप कहा गया है। वाक् के इन चारों रूपों को ही संस्कृत साहित्य में, व्याकरण ग्रन्थों में एवं वैदिक वांङमय में क्रमशः वैखरी, मध्यमा, पश्यंती और परावाक् कहा गया है। इन्हें ही हमारे द्वारा अभिव्यक्ति की सुविधा के आधार पर तथा उनके वास्तविक स्वरूप को देखते हुए क्रमशः वाणी या शब्द का प्रगटीकरण, स्वरूप ग्रहण, विकास तथा उत्पत्ति की अवस्था तथा स्थान कहा गया है।

६.१ (१६) इस प्रकार ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त की ४५ वीं ऋचा द्वारा बताई गई वाक् की चार अवस्थाओं या चार पाद को हम विविध मान्यताओं के आधार पर तथा उपरोक्त विवेचना के आधार पर निम्न सारणी द्वारा प्रगट कर सकते है :-

॥ ॐ ॥

वाणी का स्वरूप प्रगट करने हेतु सारिणी

वाणी का स्वरूप

विवरण	अप्रगट रूप			प्रगट रूप
वाणी के पाद	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद
वाणी का नाम	परावाक्	पश्यंती वाक्	मध्यमा वाक्	वैखरी वाक्
संत कबीर द्वारा दिया गया परिचय	शब्द	अनहद	अजप	जप
संत मत की मान्यतानुसार परिचय	नाभि जप	हृदय जप	कण्ठ जप	जिह्वा जप
वाणी की अवस्थाएं	उत्पत्ति	विकास	स्वरूप ग्रहण	प्रगटीकरण

परावाक् या शब्द ब्रह्म या अक्षर ब्रह्म या परम तत्व या आत्म तत्व की साधना में वाणी के इन चारों पाद की अवस्थाएं क्रमशः पार्थिव शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर तथा महत् कारण परम पुरुष से ही जुड़ी होकर इनका बोध कराने वाली हैं। वैखरी वाक् पार्थिव शरीर से जुड़ा होकर पार्थिव शरीर का ही बोध कराता है। मध्यमा वाक् मन से प्रगट होकर मन द्वारा ही चिदाकाश में सुना जाता है, यह सूक्ष्म शरीर का बोध कराता है। पश्यंती वाक् वाक् के उद्भव का बोध कराता है उसी प्रकार शरीर के उद्भव का या कारण शरीर का बोध कराने वाला है। यह मृत्यु तथा उसके परिणाम का बोध कराता है। यह परावाक् से स्फुरित होकर प्रगट होता है तथा परावाक् परम तत्व ही है। जो महाकारण या महत् कारण या महत्त शरीर कहा जाता है या परम पुरुष कहा गया है, इससे ही ऋचाओं तथा छन्दों की उत्पत्ति मानी गयी है (ऋग्वेद पुरुष सूक्त)।

इस प्रकार वाक् की तीन ही अवस्थाएं होती हैं - वैखरी वाक्, मध्यमा वाक् और पश्यंती वाक्। घण्टा ध्वनि आधार पर जिस प्रकार 'घण्टा'

घण्टा ध्वनि का परा रूप होकर ध्वनि नहीं होता है, उसी प्रकार वाणी का परावाक् रूप - वाक् का परारूप होकर वाक् नही होता है। परा वाक् अर्थात् अक्षर ब्रह्म प्रकाश रूप है, ज्ञान का उद्गम स्रोत है, जो अकथ है और अगोचर भी। वाक् का परारूप - रवि तुल्य रूपः (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/८) होकर ज्योतियों का भी ज्योति - **"ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः"** (श्रीमद्भगवद्गीता १३/१७) होता है, जिसे अकथ, अगम एवं अगोचर कहा गया है।

६.२ (१) शब्द का वैखरी वाक् रूप अक्षर ब्रह्म या परम तत्व का बोध कराने वाला है या हम यों कह सकते है कि वैखरी वाक् परम तत्व जिसे अक्षर ब्रह्म कहा जाकर श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा कर्ता पुरुष अर्थात् ब्रह्म का उद्भव बिंदु बताया गया है, "ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" (श्रीमद्भगवद्गीता -३/१५) के बोध का आधार बनता है। अब हम इस विषय पर विचार करेंगे।

६.२ (२) ऋग्वेद के प्रथम मंडल में १६४ वें सूक्त में आये ऋचा मंत्र ४५ में वेदो के कर्ता ऋषि प्रजापति ब्रह्मा द्वारा हमें बताया गया है, कि वाक् का तुरीय रूप ही मनुष्यों द्वारा बोला जाता है। - "तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" (ऋग्वेद - १/१६४/४५)। यहां सूचित किया गया तुरीय शब्द आत्म तत्व के चतुर्थ पाद से साम्यता रखता है। मांडुक्योपनिषद् में आत्मा को ब्रह्म रूप बताया जाकर इसके चार पाद बताये गये हैं -

"सर्वँ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।" (मांडुक्योपनिषद् - २)

अनुवाद - "यह सबका सब ब्रह्म ही है। यह परमात्मा (आत्म तत्व) ब्रह्म है, वह यह आत्मा चार चरणों वाला है।" आत्मा के ये चार चरण क्रमशः जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्था बताये गये हैं। साधना के क्रम में आत्म तत्व का बोध प्राप्त करने के लिये यह तुरीय अवस्था ही एकमात्र आधार एवं कारण बनती है। इस प्रकार यह वह सूत्र है, जिसके आधार पर हमारे द्वारा परम तत्व का या आत्म तत्व का या अक्षर ब्रह्म रूप का या अक्षर स्वरूप का बोध प्राप्त किया जा सकता है।

६.२ (३) एकमेव परमात्मा जो निराकार रूप है, वह ही अक्षर कहा जाता है। यह अक्षर तत्व ही जब सृष्टि के सृजन की इच्छा करता है, तो यह स्वयं ही अपना विस्तार करता है। यह विस्तार कर्म रूप में या कर्ता रूप धारण करके स्वयं ही विराट पुरुष बन जाता है, जिसका वर्णन पुरुष सुक्त में किया गया है। यह परम पुरुष ही समस्त जगत की उत्पत्ति का आधार बनता है। छांदोग्योपनिषद् में ब्रह्म के विस्तार के चार पाद बताये गये हैं। यह पाद क्रमशः ब्रह्म का प्रकाशवान् होना, अनन्तवान् होना, ज्योतिषवान् होना तथा आयतनवान् होना बताये गये हैं (४/५/१से९)। अक्षर ब्रह्म के यह चार गुण

ही इस सृष्टि पर प्रगट हुए समस्त भूत समुदाय में प्रगट हुए हैं, सभी में पाये जाते हैं। यह ब्रह्म तत्व ही जब चेतनायुक्त होता है, तो यह ही आत्मा कहा जाता है तथा यह ही समस्त भूत समुदाय में व्याप्त हो जाता है। आत्म तत्व या चेतन तत्व के सभी भूत समुदाय में व्याप्त होकर इसकी अभिव्यक्ति के चार आधार बनते हैं, जिन्हें मांडूक्योपनिषद् में आत्मा के चार पाद कहा गया हैं। यह चार पाद क्रमशः जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्था कहे गये हैं (मांडूक्योपनिषद् - २/१२)। आत्म तत्व के ये चार पाद ही अभिव्यक्ति के लिये प्रणवरूप धारण कर अभिव्यक्त होते हैं, जो कि सभी भूतों के उत्पत्ति, विकास, धारण एवं लय होने के आधार बनते हैं तथा यह ही भूत, वर्तमान और भविष्य तथा इन तीनों से परे जो काल या समय बचता है, उसको तथा इन तीनों कालों को नियमन करने वाला माना गया है (मांडूक्योपनिषद् - १/१२)। परम तत्व का यह सृजन कर्म तैत्तिरीयोपनिषद् की 'शिक्षा वल्ली' के पंचम अनुवाक में आये वर्णनानुसार - भू, भुवः, स्वः तथा महः अर्थात् पृथ्वी, आकाश, पाताल एवं द्युलोक में विस्तार पाता है। यह चारों लोक पृथक - पृथक हैं। पृथ्वी अर्थात् भूतल एवं पाताल अर्थात् जल लोक इनसे हम सभी भली-भाँति परिचित हैं। आकाश एवं द्युलोक जिसे महः कहा गया है, यह अनन्त आकाश के विभाजन को सूचित करता है। आकाश तत्व वह है, जिसे हम वायुमण्डल से आच्छादित रूप में जानते है। यह आकाश तत्व ही बादलों के संचरण तथा वायु के संचरण का आधार बनकर वर्षा का कारण होता है। शेष आकाश ही उपनिषद् वाणी में द्युलोक या महः कहा गया है तथा यह ही अंतरिक्ष नाम से जाना जाता है। वायु मंडल युक्त आकाश तथा शून्य महः लोक का यह विभाजन आधुनिक विज्ञान द्वारा "ओजोन परत" के आधार पर जाना जा चुका है। यह द्युलोक तथा आकाश लोक को पृथक्-पृथक् उपनिषद् वाणी में हमें बताया गया है। इस प्रकार यह कुल १६ पाद ब्रह्म तत्व के विस्तार के या सृष्टि के सृजन के आधार बनते है। इन १६ पाद को ही सोलह कलाऐं बताई जाकर इनके द्वारा ही समस्त सृष्टि का सृजन करना कल्प के आरम्भ में कथन किया गया है (श्रीमद् भागवद् पुराण - १/३/१)।

इस प्रकार परमतत्व जो निराकार रूप में एक है या एक कहा जाता है, वह साकार रूप धारण करते हुए चार चरण को अपना आधार बनाता है अर्थात् चार गुणों को धारण कर साकार रूप में परिवर्तित होता है तथा इन १६ कलाओं द्वारा पूर्ण साकार रूप धारण कर लेता है। इन १६ कलाओं से ही परम तत्व अनन्त रूप हो जाता है। १६ कलाओं का चार गुणा होना ही परम तत्व का अनन्त रूप होना है। इस प्रकार ६४ कलाएं परम तत्व के अनंत रूप को सूचित करने वाली हो जाती है। परम तत्व के इस अनन्त स्वरूप का बोध कराने वाला यह प्रणवाक्षर है, जो उपरोक्त चारों क्रम को

सूचित करता है तथा इनकी अभिव्यक्ति का या इन्हें प्रगट करने का आधार बनता है।

६.२ (४) परम तत्व के विस्तार के जो उपरोक्त चार क्रम उपनिषद् वाणी में प्रगट हुए हैं, यह ही जब वाक् रूप में अभिव्यक्ति का आधार बनते हैं, तो क्रमशः परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी वाक् कहे जाते हैं। वैखरी वाक् परम तत्व के अनन्त रूप का बोध कराने वाला है, मध्यमा वाक् परम तत्व के १६ कला युक्त होने का बोध कराता है। पश्यंती वाक् परम तत्व के चतुष्पाद स्वरूप का बोध कराता है तथा परावाक् स्वयं परम तत्व है। जो एकः कहा गया है। यह चारों अवस्थाएं ही प्रणवाक्षर की चारों मात्राओं में सूचित होती हैं। जो हमें शब्द के अक्षर ब्रह्म रूप का बोध कराने वाली हैं। इन्हें हम समेकित रूप से निम्न स्वरूप में प्रगट कर सकते हैं :-

पाद क्रम	ब्रह्म तत्व के चार पाद	आत्मा के चार पद	प्रणवाक्षर के चार पाद	वाक् के चार पाद
प्रथम पाद	प्रकाशवान्	जागृति	''अ'' मात्रा	परावाक्
द्वितीय पाद	अनन्तवान्	स्वप्न	''उ'' मात्रा	पश्यन्ती वाक्
तृतीय पाद	ज्योतिषवान्	सुषुप्ति	''म'' मात्रा	मध्यमा वाक्
चतुर्थ पाद	आयतनवान्	तुरीयावस्था	''प्लुत स्वर''	वैखरी वाक्

नोट - परम तत्व का विस्तार पृथ्वी लोक, पाताल लोक अर्थात् जल, आकाश लोक एवं द्युलोक (अंतरिक्ष) में होता हैं तथा वाक् ध्वनि का विस्तार भी इन चारों ही लोक में होकर व्याप्त हो जाता हैं अतः ऊपर की सारणी में इन्हें नहीं दर्शाया गया है।

परम तत्व परब्रह्म जो प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिषवान् तथा आयतनवान् होकर संपूर्ण सृष्टि में १६ कला रूप होकर (छांदोग्योपनिषद् अनुसार) भूत समुदाय या प्राणी मात्र में व्याप्त है। उसका बोध प्रणवाक्षर का चतुर्थ पाद प्लुत स्वर कराता है, जिसे मात्रा रहित (अमात्र) व्यवहार में न आनेवाला (अव्यवहार्य), प्रपञ्च के अतीत (प्रपंञ्चोशम), कल्याणप्रद (शिव) और अद्वितीय कहा गया है। यह शरीरस्थ आत्म तत्व की तुरीय अवस्था है जिसका वर्णन करते हुए इसे मांडूक्योपनिषद् में निम्नानुसार बताया गया है -

''नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशममं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ मांडूक्योपनिषद् - ७

अनुवाद - "जो न भीतर की ओर प्रज्ञा वाला है, न बाहर की ओर प्रज्ञावाला है, न दोनों ओर प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानधन है, न जानने वाला है, न नहीं जानने वाला है, जो देखा नहीं गया है, जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, एकमात्र आत्मसत्ता की प्रतिति ही जिसका सार या प्रमाण है, जिसमें प्रपञ्च का सर्वथा अभाव है ऐसा सर्वथा शांत, कल्याणमय, अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा का चौथा पाद है। ऐसा माना जाता है, वह आत्मा है, वह जानने योग्य है।" आत्म तत्व परमात्मा के इस चतुर्थ पाद, जिसे तुरीयावस्था कहा गया है, इसे ही वाक् स्वरूप का वर्णन करते हुए वैदिक ऋचा में वाक् का चतुर्थ पाद अर्थात् वैखरी वाक् कहा गया है, जिसे हम सभी मनुष्य बोलते हैं।

"तुरीयं वाचो मनुष्यावदन्ति" (ऋग्वेद - १/१६४/४५)। यह वैखरी वाक् अर्थात् मनुष्यों द्वारा बोली जाने वाली वाणी आत्मा का चतुर्थ पाद है। यह ही प्रणवाक्षर की भी चतुर्थ मात्रा है। यह परम तत्व का या ब्रह्म तत्व का या ब्रह्म तत्व का ही चतुष्पाद् युक्त चतुर्दिक १६ कला युक्त प्रगटन है। इस परम तत्व का यह प्रगटन ही अनन्त रूप है, जो ऋचाओं के रूप में या वैखरी वाक् के रूप में प्रगट होता है। यह वैखरी वाक् वाणी का चतुर्थ पाद है, इसके आधार पर ही हम वाक् के परारूप को जानने के लिये उर्ध्व क्रम को अपनाते हुए शब्द साधना करते हैं तथा अक्षर ब्रह्म को जान लेते हैं। इस सम्पूर्ण क्रम को तथा परमात्म तत्व या आत्म तत्व या परब्रह्म के विस्तार को समझने में श्रीमद्भगवद्गीता का १५ वें अध्याय का पहला मंत्र हमारी मदद करता है। जिसमें सूत्र रूप में बताया गया है कि -

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखामश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥" श्रीमद्भगवद्गीता - १५/१

अनुवाद - "परम तत्व अविनाशी परमेश्वर का विस्तार ऊर्ध्वमूल पीपल के वृक्ष की भांति जानना चाहिए, जिसकी जड़े, तना एवं शाखाएं अदृश्य हैं। वेद रूपी ऋचाएं ही जिसके पर्ण होकर छंद रूप में प्रगट हुए हैं। इस प्रकार यह संसार रूप वृक्ष है, जो पुरुष इस तत्व को जानता है, वह ही परमतत्व के विस्तार को जानता है, वह ही वेद विद् है।"

कठोपनिषद् में भी परम तत्व के विस्तार को अर्थात् इस जगत के मूल को ऊर्ध्व स्थित होना बताया है। -

"उर्ध्वमूलाऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥" कठोपनिषद् - २/३/१

अनुवाद - ''ऊपर की ओर मूल वाला, नीचे की ओर शाखा वाला यह प्रत्यक्ष जगत सनातन पीपल वृक्ष है, इसका मूल वह विशुद्ध रूप परम तत्व ही ब्रह्म है, वह ही अमृत कहलाता है।'' इन मंत्रों में छंद रूप वैखरी वाक् को ही अश्वत्थः (पीपल वृक्ष) के पर्ण कहा गया है। यह ही वह कुंजी है, जिसके आधार पर परम तत्व का रहस्य हमारे समक्ष स्वयंभू रूप में प्रगट हो जाता है। ऊपर बताई गई तालिका में वाक् का जो चतुर्थ पाद है वह ही ब्रह्म के चतुर्थ पाद आयतनवान् स्वरूप को प्रगट करने वाला है उसकी व्याख्या करने का आधार है, उसका बोध कराने का माध्यम है तथा वह ही आत्मा का चतुर्थ पाद अर्थात् तुरीय अवस्था एवं प्रणवाक्षर की चौथी मात्रा है जिसका वर्णन मांडूक्योपनिषद् के मंत्र क्रमांक (७) उपरोक्तानुसार किया गया है। अक्षर ब्रह्म की साधना में जब हम वैखरी वाक् से मध्यमा वाक् की ओर बढ़ते हैं तथा आगे बढ़कर मध्यमा वाक् को अपनाते हुए, नीरवता में पश्यन्ती वाक् और परावाक् स्वरूप को जानते हैं तो यह अक्षर ब्रह्म का ही साक्षात्कार होता है। जो कि प्रगट होता है शब्द रूप में वैखरी वाक् बनकर।वाक् के परा रूप की अनुभूति का संकेत करते हुए, परम तत्व रूप श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं -

''न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥'' श्रीमद्भगवद्गीता - १५/६

अनुवाद - ''जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसार में नहीं आते, उस स्वयं प्रकाश परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही, वही मेरा परमधाम है।'' यहां परारूप का बोध प्राप्त करना ही भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपना परमधाम बताया गया है। वाक् के जो प्रथम तीन पाद - परा, पश्यंती और मध्यमा, वागेन्द्रिय से ऊर्ध्व में स्थित होते हैं तथा प्रत्यक्षतः जानने में नहीं आते हैं। यह वाणी ही परम तत्व के एक पाद के विस्तार को व्यक्त करने वाली होकर वैखरी वाक् रूप में प्रगट होती है। इस प्रकार परम तत्व का एक पाद ही व्यक्त रूप में जाना जाता है किन्तु तीन पाद ऊर्ध्व रूप में अज्ञात बने रहते हैं। इस सृष्टि के प्रगटन को अभिव्यक्त करने वाला पुरुष सूक्त का यह मंत्र वाक् के ऊपर वर्णित अवस्था से पूर्णतः साम्यता रखता है। जिसमें परम पुरुष के तीन पाद ऊर्ध्व रूप होना बताये गये हैं। -

''त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ऋग्वेद - १०/९०/४

अनुवाद - "इस परम पुरुष के तीन चरण सब के ऊपर हैं यह जाना जाता है, इसका एक चरण यहां जगत रूप में प्रगट हुआ है, वह परम तत्व सर्वत्र व्याप्त है, जो भोजन करते हैं और जो भोजन नहीं करते हैं, उन सब चेतन और अवचेतन में सर्वत्र वह ही है, उन सब में वह ही है।" परम पुरुष के इस चार चरण वाले स्वरूप की पूर्ण समरूपता वाक् के उपरोक्त चार पादों से होती है। इस प्रकार जब हम वैखरी वाक् को जानते हैं, तो परम तत्व ब्रह्म के विस्तार अर्थात् व्यक्त जगत को या सम्पूर्ण सृष्टि को जानते हैं और जब हम उर्ध्व मूल अश्वत्थः वृक्ष के पर्ण रूपी छंदों अर्थात् वैखरी वाक् को जानते हैं तो हमें सहज ही यह मानना पड़ता है, कि परावाक् ही काल पुरुष के मूल रूप का या परम पुरुष का ही बोध कराने वाला है, जिसे अक्षर ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १५ के पहले मन्त्र का अर्थ बोधगम्य हो जाता है, हमारे लिये सहज ही।

६.२ (५) प्रणवाक्षर ॐ के इस सर्वरूप के आधार पर ही प्रणवध्वनि को या प्रणवाक्षर मंत्र को जो कि आत्म तत्व के प्रगटन को मूल रूप में अभिव्यक्त करता है, को ही परम तत्व के जानने का एकमेव आधार होना उपनिषद् वाणी में बताया गया है -

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(कठोपनिषद् - १/२/१७)

अनुवाद - यह प्रणवाक्षर ॐ अर्थात् ॐकार ध्वनि ही श्रेष्ठतम आलम्बन है। यह परम (अंतिम) आलम्बन अर्थात् आश्रय है। इस आलम्बन को जानकर साधक ब्रह्म लोक में महिमान्वित होता है। वह परम तत्व को ही प्राप्त कर लेता है।

वैखरी वाक् रूप में प्रणवाक्षर ॐ ही अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति हेतु साधना के क्रम में अपनाया जाता है। इस प्रकार यह वैखरी वाक् ही आत्मबोध प्राप्ति का परम साधन है तथा इसे ही अपनाये जाने हेतु श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया है - "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि (श्रीमद्भगवद्गीता - १०/२५)।

६.२ (६) यह शब्द साधना ही परम तत्व का बोध कराने वाली होती है। परब्रह्म के वाक् स्वरूप का ऋचा रूप का बोध कराने वाली होती है। ऋचाओं की उत्पत्ति विराट पुरुष से होना मानी गई है। (ऋग्वेद -१०/९०/९) तथा ये ऋचाएं सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त हैं। इन्हें जानकर ही हम परम तत्व की शक्ति का बोध प्राप्त कर सकते हैं। शक्तिमय स्व-स्वरूप को जान सकते हैं।

"ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्यास्मिन्देवाऽधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद मिृन्ना करिष्यति य इत्तद्विदस्तु इमे समासते ॥"

(ऋग्वेद -१/१५४/३९)

अनुवाद - "ऋचाएं जो ज्ञान से परिपूर्ण होकर अक्षर ब्रह्म का पूर्ण बोध कराती हैं वे इस विश्व में, समस्त आकाश में व्याप्त हैं, उनमें सभी दैवी शक्तियां - निषेदुः निहित हैं (निवास करती हैं) । जो इनको नहीं जानता उनके लिये यह ऋचाएं अर्थात् शब्द ज्ञान क्या करेगा ? जो ज्ञान रूपी ऋचा को जान लेते हैं, वह इसमें ही स्थित हो जाते हैं ।"

जब सम्पूर्ण व्योम में व्याप्त इस शब्द सत्ता या छंद सत्ता से हमारा साक्षात्कार होता है, तो स्वतः ही समस्त एषणाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति हो जाती है । ब्रह्म सूत्र में इसी छंद सत्ता या शब्द सत्ता को प्रगट अक्षर सत्ता कहा जाकर इसे सर्वत्र व्याप्त होकर इस अम्बर का धारण कर्ता तथा प्रशासनकर्ता बताया गया है -

"अक्षराम्बरान्तधृतेः । सा च प्रशासनात् ।" (१/३/१०-११)

अनुवाद - "यह अक्षर ब्रह्म ही संपूर्ण सृष्टि को धारण किये रहता है तथा इसका अनुशासन करता है ।"

इस सम्पूर्ण व्योम को ही उपनिषद् वाणी में - "एषः योनि सर्व भूतेषु" कहा गया है । श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा इसको ही - "मम योनिर्महद्ब्रह्म" कहा है तथा स्वयं को ही शब्दोत्पत्ति कर्त्ता अर्थात् - "अहं बीजप्रदः पिता" (१४/३-४) कहा है । यह शब्द को जानकर या चर और अचर भूत का आधार जानकर बीजप्रदः परम पिता को ही जान लेना है ।

६.३ (१) वाक् के चार पाद क्रमशः - परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैंखरी बताये गये हैं । इनमें वैखरी वाक् ही प्रगट होकर वाणी के रूप में बोला जाता है तथा शब्द रूप में जाना जाता है । वाक् के शेष तीन पाद मध्यमा, पश्यन्ती और परा व्यक्ति के मस्तिष्क में अप्रगट रूप से विद्यमान रहते हैं । वाक् के इन चार पाद का वर्णन हमें ऋग्वेद की निम्न ऋचा में मिलता है । -

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्बाह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

(ऋग्वेद - १/१६४/४५)

अनुवाद - "ब्रह्मवेत्ता मनीषि ब्राह्मणों से ज्ञात हुआ कि वाणी के चार रूप हैं । इनमें से तीन वाणियां अप्रगट रहती हैं तथा चौथी वाणी को मनुष्य बोलते हैं ।" वाणी का यह चौथा रूप वैखरी वाणी कहा जाता है । वाणी के तीन

अप्रगट रूप क्रमशः परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा कहे जाते हैं। ये तीनों बुद्धि रूपी गुहा में छिपे होते हैं अर्थात् इन्हें बुद्धि द्वारा ही जाना जा सकता है, इनका बोध प्राप्त किया जा सकता है। अब हम विषय के अनुरूप इनकी चर्चा करेंगे।

प्रगट वाक् अर्थात् वैखरी वाक्

आरंभ में हमारे द्वारा शब्द की चार अवस्थाएं बताई गई हैं। शब्द की यह चार अवस्थाएं हैं - उत्पत्ति (उत्पत्ति स्थान), विकास, स्वरूप ग्रहण तथा प्रगटीकरण। शब्द की इन चारों अवस्थाओं का संबंध क्रमशः - वागेन्द्रिय (जिह्वा), मनेन्द्रिय, बुद्धि तत्व तथा अहम् तत्व से है। वागेन्द्रिय द्वारा प्रगट होने वाली वाणी वाक् कही जाती है। वाक् अर्थात् वाणी का प्रगटन। वाक् विस्तृत अर्थवाला शब्द है। यह सभी प्राणियों द्वारा उच्चारित वाणी या उनके भाव संप्रेषण को सूचित करने या बोध कराने वाला शब्द है। वाक् शब्द के अन्तर्गत भाव सम्प्रेषण का अभिव्यक्त वाणी रूप और इसके अतिरिक्त मौन या सांकेतिक विचार सम्प्रेषण भी आ जाता है। यह भावाभिव्यक्ति को सूचित करने वाला शब्द है। मानव समुदाय द्वारा उच्चारित की जाने वाली वाणी को वैखरी वाणी कहा जाता है। वैदिक वाङमय में इसे ''तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति।'' (ऋग्वेद - १/१६४/४५) कहा गया है। यह तुरीय वाणी ही वैखरी वाणी कही जाती है।

६.३ (३) वैखरी वाणी के प्रथम उपदेशक भगवान् शंकर तथा व्याख्याकार महर्षि पाणिनी माने गये हैं, जिन्हें संस्कृत साहित्य में भगवान् पाणिनी के रूप में जाना जाता है। महर्षि पाणिनी द्वारा वाणी के 'प्रगट वाक् रूप' का उपदेश भगवान् शंकर से प्राप्त किया जाकर इसकी सूत्रबद्ध व्याख्या की गई है। इस सम्बन्ध में संस्कृत ग्रन्थों में वर्णन मिलता है, कि महर्षि पाणिनी की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव प्रगट हो गये और नृत्य करने लगे। नृत्य के समय आनन्दातिरेक में उन्होंने चौदह बाद डमरू बजाया। डमरू से उत्पन्न 'ध्वनि - नाद' के वर्ण विन्यास आधार पर महर्षि पाणिनी द्वारा चौदह सूत्रों की रचना की गई -

''नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद टंका नवपंचवारम्॥
उद्धर्दुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवं सूत्र जानम्॥

तथा इनके आधार पर ही संस्कृत व्याकरण की रचना करने का उल्लेख पाणिनीय शिक्षा में पाया जाता है -

"येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्त तस्मै पाणिनये नमः॥"

भगवान् शंकर से प्राप्त किया गया आधार भूत उपदेश आज भी शिव सूत्र या "माहेश्वराणि-सूत्राणि" के नाम से जाना जाता है। इन सूत्रों में संस्कृत भाषा के मूल स्वर तथा व्यञ्जन की जानकारी दी गई है। ये सूत्र संस्कृत वर्णमाला का गठन करते हैं। इन सूत्रों के आधार पर ही महर्षि पाणिनी द्वारा संस्कृत व्याकरण की रचना की गयी है। जिसे सिद्धान्त कौमुदी या अष्टाध्यायी कहा जाता है। इस ग्रन्थ में महर्षि पाणिनी द्वारा वैखरी वाणी के मूल स्वर एवं व्यञ्जन वर्णों की तथा व्याकरण रूप की व्याख्या की गई है।

६.३ (४) माहेश्वर सूत्रों में वाक् ध्वनि का मूल रूप प्रगट हुआ है। इनमें सभी स्वर तथा व्यञ्जन वर्ण प्रगट हुए हैं। प्रगट हुए स्वर तथा व्यञ्जन वर्णों को भाषा रूप प्रदान करने के लिए महर्षि पाणिनी द्वारा विशिष्ट प्रक्रिया अपनायी है तथा इसका संकेत करने के लिये प्रत्याहार शब्द उपयोग किया गया है। यह इन सूत्रों (माहेश्वाराणि सूत्रों) में क्रमबद्ध रूप से प्रगट हुए स्वर एवं व्यञ्जन वर्णों के समूह का बोध कराने वाला शब्द है। यह प्रत्याहार शब्द पारिभाषिक अर्थ रखता है। यह माहेश्वर सूत्रों में प्रगट हुए स्वर एवं व्यञ्जन वर्णों के समूह का निर्दिष्ट निश्चयात्मक बोध कराता है। अपने इस अर्थ और गुण के आधार "प्रत्याहार" शब्द दर्शन के क्षेत्र में, अध्यात्म के क्षेत्र में भी विशिष्ट स्थान रखने वाला शब्द बन गया है। योग दर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि परवर्ती महर्षि हैं। जिनके द्वारा भी संस्कृत भाषा की व्याकरण रचना की जाना हम पाते हैं। महर्षि पतञ्जलि द्वारा योग दर्शन ग्रन्थ में वर्णित अष्टाङ्ग योग में योग की एक अवस्था का नाम प्रत्याहार दिया गया है। यह धारणा ध्यान और समाधि के पूर्व की अवस्था है। योग दर्शन ग्रन्थ के महर्षि पतञ्जलि द्वारा परम तत्व या ब्रह्म तत्व का वाच्य नाम प्रणव "तस्य वाचकः प्रणवः ।" (योग दर्शन - १/२७) बताया है तथा इस नाम का ही अर्थमय और भावमय जप करने - "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग दर्शन - १/२८) का उपदेश दिया है। यह वैखरी वाणी द्वारा उच्चारित किया जाने वाला शब्द नाम है। इस शब्द नाम ॐकार ध्वनि को ही उपनिषद् वाणी में स्फूरणा का, स्पन्दन का मूल आधार या स्रोत कहा जाकर इसे ऊर्जा का केन्द्र एवं भूत, वर्तमान और भविष्य काल की समस्त सृष्टि एवं इन तीनों अवस्थाओं से परे भी व्याप्त समस्त सृष्टि का कारण बताया गया है। मांडूक्योपनिषद् की इस आधार भूमि पर ही महर्षि पतञ्जलि द्वारा योग दर्शन ग्रन्थ में अष्टाङ्ग योग व्याख्या में पांचवें क्रम पर प्रत्याहार शब्द का उपयोग किया जाकर सांकेतिक रूप से चित्त की

धारणा के लिये विषय सामग्री का संकेत किया है। इस विषय सामग्री की व्याख्या उपरोक्त दो सूत्रों में की जाकर संयम (अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि) का मार्ग बताया है तथा इसके द्वारा प्रज्ञा को प्राप्त करने या ''ब्रह्मानुभूति प्रज्ञानम् ब्रह्म'' अवस्था प्राप्त करने का मार्ग निर्दिष्ट कर दिया है। जो कि हमारी यात्रा का अंतिम पड़ाव है। अतः इस विषयान्तर को यहीं विराम देकर पुनः वैखरी वाणी पर आते हैं।

६.३ (५) प्रथम उपदेष्टा भगवान् शंकर द्वारा निनाद् रूप में बताई गई वैखरी वाणी की मूल ध्वनियां जिनमें वाक्, रूप स्वर एवं व्यञ्जन वर्ण प्रगट हुए हैं - निम्न हैं : -

(१) अ - इ - उ - ण्।
(२) ऋ - लृ - क्।
(३) ए - ओ - ङ्।
(४) ऐ - औ - च्।
(५) ह - य - व - र - ट्।
(६) ल - ण्।
(७) ञ - म - ङ - ण - न - म्।
(८) झ - भ - ञ्।
(९) घ - ढ - ध - ष्।
(१०) ज - ब - ग - ड - द - श्।
(११) ख - फ - छ - ठ - थ - च - ट - त - व्।
(१२) क - प - य्।
(१३) श - ष - स - र्।
(१४) ह - ल्।

इन सूत्रों के उच्चारण में प्रगट हुई ध्वनियाँ ही लिपि या अक्षर स्वरूप में स्वर तथा व्यञ्जन वर्ण रूप में प्रगट होती हैं, जो कि भाषा रूपी शब्द ध्वनि के गठन का आधार ''संघातात्'' शब्द के स्वरूप को प्रगट करती हैं। इन सूत्रों में प्रगट हुए स्वर एवं व्यञ्जन वर्ण पर आधारित वैखरी वर्णमाला का स्वरूप निम्नानुसार है :-

॥ ॐ ॥
॥ जय हो ॥

। स्वर ।

शुद्ध स्वर या ह्रस्व स्वर	-	अ, इ, उ, ऋ, लृ ।
दीर्घ स्वर	-	आ, ई, ऊ, ॠ लॄ ।
मिश्र स्वर	-	ए, ऐ, ओ, औ ।
अनुस्वार	-	अं, (ं) या (ँ) ।
विसर्ग	-	अः (ः) ।
उत्क्षिप्त स्वर या व्यञ्जन स्वर	-	ळ ।
सम्पूर्ण स्वर माला	-	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः ।
उत्क्षिप्त स्वर	-	ळ ।

॥ व्यञ्जन वर्ण ॥

"क" वर्ग	कंठस्थ	क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ।
"च" वर्ग	तालव्य	च्, छ्, ज्, झ्, ञ् ।
"ट" वर्ग	मूर्धन्य	ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् ।
"त" वर्ग	दन्तव्य	त्, थ्, द्, ध्, न् ।
"प" वर्ग	ओष्ठव्य	प्, फ्, ब्, भ्, म् ।
	अन्तस्थ	य्, र्, ल्, व् ।
	उष्म	श्, ष्, स्, ह् ।

इस प्रकार अ से ह तक सम्पूर्ण वर्णमाला प्रगट होती है । शुद्ध व्यञ्जन वर्ण में स्वर के न रहने पर इसे हल् कहते हैं तथा हलन्त का चिह्न (्) लगाया जाता है । उपरोक्त व्यञ्जन वर्ण शुद्ध स्वरूप में लिखे गये हैं । स्वर वर्ण "अ" के मिल जाने पर व्यञ्जन वर्ण उच्चारण हेतु पूर्णता प्राप्त कर लेता है ।

इन वर्णों के अतिरिक्त देवनागरी वर्णमाला में "क्ष, त्र, ज्ञ" संयुक्त वर्ण माने गये हैं । इनकी उत्पत्ति निम्न वर्णो के मिलने से होती है : -

क् + ष = क्ष
त् + र = त्र
ज् + ञ = ज्ञ

वर्ण के उच्चारण से उत्पन्न अकेली ध्वनि को अक्षर कहा जाता है तथा दो या अधिक वर्ण के क्रमेण उच्चारण से उत्पन्न ध्वनि को शब्द कहा जाता है। शब्द का प्रगटीकरण वागेन्द्रिय द्वारा होता है। जब कोई शब्द समूह निश्चित अर्थ देने वाला होता है, तो वह पद या वाक्य कहा जाता है। पद या वाक्य के निर्धारण का आधार यह है कि किसी एक शब्द के हटाने से या कम कर दिये जाने से यदि शब्द समूह का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता है, तो वह पद या वाक्य नहीं रह जाता है। शब्द ध्वनि के उच्चारण के समय प्राण वायु का संघात् मुंह में स्थित विभिन्न अवयवों यथा - कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ या नासिका (अनुस्वार) पर होने के साथ ही शब्द की उत्पत्ति होती है। बाह्य आकाश में जिस प्रकार कम्पन्, स्पन्दन् या आघात् क्रिया से शब्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार प्राण वायु के संघात् से उत्पन्न होने के कारण ही वर्ण ध्वनि को या शब्द ध्वनि की उत्पत्ति का कारण "संघातात् शब्द" माना गया है। वैंखरी वाणी के स्वर एवं व्यञ्जन वर्णों की उत्पत्ति का स्थान निम्नानुसार है, तथा इस उत्पत्ति के स्थान के आधार पर ही इन्हें कण्ठस्थ, तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्तव्य, ओष्ठव्य या अन्तस्थ या ऊष्म आदि कहा जाता है। प्राण वायु के संघात आधार पर ही इन्हें कठोर या मृदु व्यञ्जन या ऊष्म तथा अन्तस्थ कहा जाता है। कठोर व्यञ्जन एवं मृदु व्यञ्जन निम्न माने गये हैं :-

कठोर व्यञ्जन - क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ।

मृदु व्यञ्जन - ग, घ, ङ्, ज, झ, ञ्, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, य, र, ल, व।

इन सभी वर्णों का विभाजन सार्थक और निरर्थक आधार पर भी किया जाता है। जिन वर्णों के उच्चारण से कोई अर्थ नहीं निकलता है मात्र ध्वनि ही उत्पन्न होती है, उन्हें निरर्थक शब्द कहा जाता है, जैसे - झनन् या टनन् आदि तथा शेष सार्थक माने जाते है किन्तु यह भेद तात्कालिक होता है क्योंकि प्रत्येक वर्ण ध्वनि अर्थ को धारण करने वाली होती है। झनन् या टनन् ध्वनि भी दिशा बोध कराने वाली होती है।

६.३ (६) वर्णों के उच्चारण / उत्पत्ति स्थान निम्नानुसार है -

उच्चारण स्थान	स्वर वर्ण	व्यञ्जन वर्ण	अन्तस्थ वर्ण	ऊष्म वर्ण
कण्ठ	अ, आ विसर्ग (:)	क, ख, ग, घ, ङ	-	ह

उच्चारण स्थान	स्वर वर्ण	व्यञ्जन वर्ण	अन्तस्थ वर्ण	ऊष्म वर्ण
तालु	इ, ई	च, छ, ज, झ, ञ	य	श
मुर्द्धा	ऋ, ॠ	ट, ठ, ड, ढ, ण	र	ष
दन्त	ऌ ॡ	त, थ, द, ध, न	ल	स
ओष्ठ	उ, ऊ	प, फ, ब, भ, म	-	-
नासिका	अनुस्वार (ं) (ँ)	ङ, ञ, ण, न्, म्	-	-
कण्ठतालू	ए, ऐ, ळ	-	-	-
कण्ठोष्ठ	ओ औ	-	-	-
दन्तोष्ठ	-	-	व	-

इन सभी वर्णों का उच्चारण नासिक, अनुनासिक, अननुनासिक आधार पर उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित रूप में किया जाता है तथा स्वर का उच्चारण ह्रस्व, दीर्घ और लुप्त स्वर रूप में किया जाता है। वर्ण एवं स्वरों के इस विविध उच्चारण एवं संयोजन के आधार पर ही राग, रागिनियों, रस, छंद और अलंकार तथा व्याकरण ग्रन्थों की रचना की गई है। अतः इनकी जानकारी श्रुतज्ञान परम्परा आधार पर प्राप्त करना चाहिये। शब्द एवं वर्णों के स्वरों पर आधारित मन्त्रों या शब्दों का शुद्ध उच्चारण ही अपना अर्थ देने वाला होता है। अशुद्ध उच्चारण शब्द का अर्थ परिवर्तित कर उसका उल्टा अर्थ या अनर्थ कर देता है। इस सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलि का यह कथन विचारणीय है -

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराघात्॥"

(महर्षि पतञ्जलि महाभाष्य)

अनुवाद - "स्वर या वर्ण की अशुद्धि से दूषित शब्द ठीक-ठीक प्रयोग न होने के कारण अभिष्ठ अर्थ का वाचक नहीं होता। इतना ही नहीं, वह वचन रूपी वज्र यजमान को हानि भी पहुंचाता है। जैसे - 'इन्द्रशत्रु' शब्द में स्वर की अशुद्धि हो जाने के कारण 'वृत्रासुर' स्वयं ही इन्द्र के हाथ से मारा गया।" वर्ण की उत्पत्ति परब्रह्म तत्व से हुई है। इस प्रकार यह पूर्ण का अंश होकर स्वयं भी परिपूर्ण ही होता है। प्रणवाक्षर रूपी ब्रह्म का बोध कराने वाला होता है। जब हम कोई शब्द उच्चारण करते है, तो यह प्रणव में निहित शक्तियों का ही प्रगटन होता है। मांडूक्योपनिषद् में प्रणवाक्षर की चारों मात्राओं का ही प्रगटन होता है। मांडूक्योपनिषद् में प्रणवाक्षर की चारों मात्राओं में उत्पत्ति, विकास, धारण तथा लय निहित होना तथा इसे भूत, वर्तमान और भविष्य तथा इन तीनों काल से परे का भी नियन्ता होना बताया गया है। अतः मनुष्य के प्रत्येक शब्द उच्चारण में प्रणव तत्व ॐकार के इन चारों ही गुण तथा चारों ही अवस्थाओं में से कोई न कोई एक अवस्था या गुण क्रियाशील होकर प्रगट होता है। मनुष्य द्वारा उच्चारित शब्द या तो मनोभाव की उत्पत्ति का कारण बनता है या व्यक्तित्व के विकास का साधन बनता है या अजीविका की धारणा शक्ति प्रदान करता है या शंकाओं, संशयों और दुर्विचारों का समापन या इनके लय का कारण बनता है। पाण्डव पत्नी द्रोपदी द्वारा कहे गये वचन ही महाभारत युद्ध का कारण बने हैं अतः इन्हीं गुणों के कारण हमारे ऋषियों द्वारा शब्द के उच्चारण में संयम बरतने तथा सदैव ही सत्य बोलने का उपदेश दिया गया है। जब हम - "ॐकारेण सर्वावाक् सन्तृण्णा" अर्थात् ॐकार से समस्त वाणी आच्छन्न है, कहते हैं तो इसका अर्थ उपरोक्तनुसार प्रणवाक्षर की शक्तियों को धारण करने से ही होता है अतः आवश्यक है कि विचार उपरान्त ही शब्द का उच्चारण किया जावे। यह ही कारण है कि उपनिषद् वाणी में असत्य भाषण को, वक्ता को जड़ मूल से वृक्ष की भांति सूखाने वाला बताया है। (प्रश्नोपनिषद् ६/१) महर्षि पाणिनी द्वारा सभी वर्णो को ब्रह्म तत्व का जाज्वल्यमान स्फुलिंग माना है -

"सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः।
फलितश्चतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशि॥

वर्ण या शब्द की शक्ति उनके पूर्ण उच्चारण किये जाने पर प्रगट होती है अतः हमें सर्व प्रथम वर्ण रूप अक्षर या शब्द का उच्चारण अर्थात् बोलना सीख लेना चाहिये श्रुत परम्परा आधार पर। वर्णो का घोष उच्चारण स्वाभाविक रूप से शुद्धता प्रदान करने वाला होता है अतः हमें घोष उच्चारण द्वारा ही वर्णों के उच्चारण का उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित एवं स्वरों का

दीर्घ, ह्रस्व एवं प्लुत स्वर भेद तथा उच्चारण का नासिक, अनुनासिक तथा अननुनासिक भेद भली-भाँति जान समझ लेना चाहिए। यहाँ प्राचीन शिक्षा पद्धति को सांकेतिक रूप से प्रगट करने वाला महर्षि वाल्मिकी द्वारा किया वर्षा का यह वर्णन हमारा मार्गदर्शन करता है।

''मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारूतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः॥

(वाल्मिकी रामायण - ४/२८/१०)

अर्थात् ''मेघरूपी काले मृगचर्म तथा वर्षा की धारा रूप यज्ञोपवीत धारण किये वायु से पूरित गुफा रूप हृदय वाले ये पर्वत ब्रह्मचारियों की भाँति वेदाध्ययन आरम्भ कर रहे हैं।'' इसी प्रकार महर्षि द्वारा आश्रमों की पठन-पाठन परम्परा का वर्णन करते हुए, तपस्वी ऋषियों के आश्रम में छात्रों द्वारा निनादित स्वर से विद्याध्ययन करने का वर्णन किया है - ''ब्रह्मघोष निनादितम्'' (वाल्मिकी रामायण - ३/१/६)। घर में स्नान करते समय गङ्गाल (पात्र विशेष) और गढ़वी का उपयोग इस स्वर भेद को समझने में सहज रूप से हमारी मदद करता है।

६.३ (७) शब्द के उच्चारण में अर्थ का अत्यन्त महत्व होता है। वर्ण का घोष एवं पूर्ण उच्चारण ही निश्चित फल देने वाला, अपना अर्थ प्रगट करने वाला तथा पूर्णता प्रदान करते वाला होता है। आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा श्रीरामचरितमानस के आरम्भ में किया गया यह स्तवन वर्णों एवं छन्दों के रस एवं अर्थ की आवश्यकता को ही प्रतिपादित करने वाला है -

''वर्णानामर्थसंधानां रसानां छन्दसामपि।''

''अक्षरों, अर्थ समूहों, रसों और छन्दों की वन्दना करता हूं।'' वर्णों का उच्चारण उत्साहपूर्वक करना चाहिये। ऋग्वेद का यह मन्त्र वैखरी वाणी के उच्चारण पद्धति की पूर्ण जानकारी देता है -

''उद्प्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरीभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिभस्य की अनावत्॥''

(ऋग्वेद - १०/६८/१)

अनुवाद - ''भक्तजन अतिहर्षित होकर उत्साहपूर्वक सृष्टि के पालक परमेश्वर की विभिन्न प्रकार से वन्दना करते हैं मानों कि जैसे जल पर तैरने वाले पक्षी कलरव करते हैं, जैसे खेत की रक्षा करने वाले पक्षियों को ऊँचें स्वर में हांकते हैं, वर्षा के लिये उद्धत मेघों की जिस भाँति गर्जना होती है, जैसे पर्वत

से गिरती जलधाराएं ध्वनि करती हैं, ऐसे ही स्तोता प्रभु की सस्वर वन्दना करते हैं।''

६.३ (८) वैखरी वाक् को गिरा या गिर्वाणी भी कहा जाता है। वैखरी वाक् का यह सम्बोधन हमें इसके चतुर्थ पाद होने की अवस्था को समझने में मदद करता है। गिर्वाणी के अर्थ है देव वाणी या परम तत्व का वर्णन करने वाली वाणी। वाणी की चार अवस्थाओं (परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी) में हम जो बोलते है, वह तथा हमारे जितने धर्म ग्रन्थ, व्याकरण शास्त्र और अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान के जितने भी ग्रन्थ है, वे सभी वैखरी वाणी या गिर्वाणी के ही रूप है। गिर्वाणी का एक अन्य अर्थ जिह्वा से बोली जाने वाली वाणी भी होता है। हम सभी जिह्वा से बोली जाने वाली वैखरी वाक् को ही प्रगट करते हैं। परम तत्व का अपरारूप का बोध कराते हैं। मध्यमा वाक् मन से जुड़ी हुई है, जिसे संस्कृत भाषा में ''गिरा'' या ''गिरः'' या ''गीः'' कहा गया है। यह परावाक् का निःसृत स्वरूप है। यह पर्वताशिखर से फूट पड़े झरने के रूप में प्रगट होती है, वक्ता के मुखारविंद द्वारा। वाणी अर्थात् गिर्वाणी के इस स्वरूप को समझने में हिन्दी भाषा का ''गिरा'' शब्द हमारी मदद करता है। यह गिरा शब्द संस्कृत धातु ''पत्'' से बने ''पतति'' शब्द का अर्थ है। इस आधारभूमि पर हिन्दी भाषा का गिरा शब्द, संस्कृत शब्द पतति तथा मूल धातु रूप पत् हमारी मदद करता है गिर्वाणी अर्थात् वैखरी वाणी के स्वरूप को समझने में। इन सभी शब्दों का अर्थ है गिरना। जिस प्रकार वृक्ष से पत्ते के गिरने पर उसका वृक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, वह वृक्ष का अंश होकर भी उससे अलग हो जाता है। यह मूल स्वरूप से विलग हो जाना है और जिस प्रकार गिरे हुए पत्ते का पुनः संयोजन वृक्ष की डाली से नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार उच्चारित शब्द अपने मूल में समाहित नहीं हो पाता है। और जिस प्रकार वृक्ष की डाली पर पत्ता स्थित होकर आकाश में रहता है और वृक्ष की डाल से गिरकर भी आकाश में ही रहता है। उसी प्रकार शब्द रूप वाक् चिदाकाश में रहता है तथा वहां से निःसृत होकर वाक् रूप में बाह्य आकाश में व्याप्त हो जाता है। यह पतन ही हिन्दी भाषा का गिरा शब्द है। जिसका अर्थ है उच्च स्थान से निम्न स्थान को जाना अर्थात् गिरना या निम्न स्तर को प्राप्त करना। वृक्ष से पत्ता गिरकर भू-सतह को प्राप्त करता है, पर्वत शिखर से झरना गिरकर निचली भू-सतह पर प्रवाहमान् होता है। इस प्रकार यह गिरना शब्द लाक्षणिक रूप से वाणी के उद्भव, विकास तथा प्रगट स्वरूप का बोध कराने वाला है। यह वाणी के अपने मूल स्वरूप परारूप से निःसृत होकर वागेन्द्रिय द्वारा प्रगट होने वाले स्वरूप को बोध कराता है। इस प्रकार गिरा शब्द हिन्दी भाषा में गिरना क्रिया रूप

होकर भी संस्कृत भाषा के मूल शब्द गिरा अर्थात् वाणी का ही आधार स्वरूप में परिचय देता है। यह वाणी की चतुर्थ अवस्था वैखरी रूप का ही आधार स्वरूप है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है - "गिरामस्म्येकमक्षरम्" (१०/२५) अर्थात् उच्चारित की जाने वाली शब्द रूप वाणी में एकाक्षर अर्थात् ॐकार मैं हूँ। हम पुनः कहेंगे कि पर्वत शिखर से फूट पड़ने वाले झरने की भाँति ही वाणी मनुष्य के मस्तिष्क में निःसृत होती है और यह निःसृत वाणी ऊँचाई से गिरने वाले झरने की भाँति ही तुमुल नादमय होती है। जिसे हम घोष गर्जन कहते हैं या फिर कहते हैं मधुर रसमय वक्तृता। यह निःसृत वाणी लिपि रूप ग्रहण करके लिप्यांतर भी परमतत्व काही आधार लिये होती है - "अक्षराणाम् अकारोऽस्मि" (श्रीमद्भगवद्गीता - १०/३३) अर्थात् लिप्याकार अक्षरों में "अ" ध्वनि मैं हूं। आगम ग्रन्थों में यह अकार ही सम्पूर्ण वर्ण रूप वाणी माना गया है और यह ही स्पर्श और उष्मा के सहयोग अर्थात् उच्चारण के प्रयास तथा स्थान के आधार पर अनेक वर्णों के रूप में अभिव्यक्त होता है -

"अकार एव सर्वा वाक् सेषा स्पर्शोष्मभिर्व्यंजमाना नाना रूपा भवति।"

६.३ (९) वेखरी वाक् अर्थात् शब्दोत्पत्ति को समझने के लिये वाल्मिकी रामायण में शिक्षार्थी बालक राम को गुरू महर्षि विश्वामित्र द्वारा दिया गया यह उपदेश सांकेतिक रूप से मदद करता है। प्रसंग है - महर्षि विश्वामित्र के साथ विद्याध्ययन एवं यज्ञ रक्षा हेतु जा रहे बालक श्रीराम एवं लक्ष्मण द्वारा सरयू तथा गङ्गा के संगम पर नदी को नाव से पार करते हुए शब्द ध्वनि की उत्पत्ति का कारण पूछना। ध्वनि की उत्पत्ति का कारण पूछते हुए श्रीराम कहते है :-

अथ रामः सरिन्मध्ये पप्रच्छ मुनिपुंगवम्।
वारिणो भिद्यमानस्य विमयं तुमुलो ध्वनिः॥

(वाल्मिकी रामायण - १/२४/६-७)

अनुवाद - "तब श्रीराम ने नदी के मध्यभाग में मुनिवर विश्वामित्र से पूछा - जल के परस्पर मिलने से यहां ऐसी तुमुल ध्वनि क्यों हो रही है ?"

"राघवस्य वचः श्रुत्वा कौतुहलसमन्वितुम्।"

अनुवाद - श्रीरामचन्द्र के वचन में इस रहस्य को जानने की उत्कंठा भरी हुई थी।

कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम्।
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः॥

तस्मात् सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते ।
सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता ॥
तस्यायमतुलः शब्दो जाह्नवीमभिवर्तते ।
वारिसंक्षोभजो राम प्रणामं नियतः कुरु ॥

(वाल्मिकी रामायण - १/२४/७-११)

अनुवाद - "श्रीराम के वचन को सुनकर धर्मात्मा विश्वामित्र ने उस महान् शब्द (तुमुल ध्वनि) का सुनिश्चित कारण बताते हुए कहा - नरश्रेष्ठ राम, कैलासपर्वत पर एक सुन्दर सरोवर है। उसे ब्रह्माजी ने अपने मानिसिक संकल्प से प्रकट किया था। मन के द्वारा प्रकट होने से ही वह उत्तम सरोवर "मानस" कहलाता है। उस ब्रह्मसर के एक नदी निकली है, जो अयोध्यापुरी से सटकर बहती है। ब्रह्मसर से निकलने के कारण वह पवित्र नदी सरयू के नाम से विख्यात है। उसी का जल गङ्गाजी में मिल रहा है। दो नदियों के जलों के संघर्ष से यह भारी आवाज हो रही है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है। राम, तुम अपने मन को संयम में रखकर इस संगम के जल को प्रणाम करो।"

यह वर्णन प्रतीकात्मक रूप से शब्दोत्पत्ति का कारण बताता है। गुरु विश्वामित्र द्वारा मानसरोवर व कैलास पर्वत का उल्लेख करना शब्द के मूल स्रोत को प्रकट करता है। यदि हम जिह्वा को सरयू मान लेंगे तो वाक् गङ्गा का रहस्य स्वतः ही प्रगट हो जाता है।

६.३ (१०) वाक् शब्द का उद्भव परावाक् अर्थात् पूर्ण ब्रह्म से, परातत्व से होता है। जिसे मानस कहा गया है। पूर्ण से उत्पन्न होने के कारण यह स्वयं भी पूर्ण ही होता है। निश्चयात्मक अर्थ बोध कराने वाला होता है किन्तु अपने निःसृत स्वरूप के आधार पर यह अर्थ भिन्नता प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार कि पर्वत शिखर से गिरने वाले झरने के प्रवाह को उसकी गति के आधार पर तीव्र, मध्यम या मन्दगति कहा जाता है। शब्द के अर्थ की यह भिन्नता वक्ता के भाव पर तथा शब्दोच्चारण के स्वर पर आधारित होती है। विस्तार के क्रम में शब्द के अर्थ भाव को. जब वक्ता का मनोभाव अधिक्रमित करता है, तो शब्द का अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है। यही कारण है कि महर्षि पतञ्जलि द्वारा परम तत्व के वाच्य नाम प्रणवाक्षर का जप करने के लिये आवश्यक शर्त लगाई है कि प्रणवाक्षर का जप, प्रणवाक्षर के अर्थ और भाव का स्मरण रखते हुए किया जावे - "तज्जस्तदर्थभावनम्" (योगदर्शन - १/२८) शब्द यद्यपि अपने घनीभूत स्वरूप में निश्चयात्मक अर्थ बोध कराता है तथापि सृष्टि के विस्तार क्रम में यह शब्द परम तत्व के विस्तार को प्रगट करता

है अतः इसका अर्थ भी विस्तृत हो जाता है। यह अनेकार्थक बन जाता है। वैशेषिक दर्शन में शब्द और अर्थ का परस्पर कोई नियत संबंध नहीं होना या नहीं रहना बताया गया है। "शब्दार्थावसम्बन्धो" (७/१८) अर्थात् शब्द और अर्थ परस्पर संयोग सम्बन्ध रहित होते है।

६.३ (११) शब्द की एकार्थता प्राप्त करने के लिये हमें शब्द तथा उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि का ही आश्रय लेना चाहिये। अपने मूल उद्भव स्वरूप आधार पर शब्द का अर्थ भी चतुष्पाद होता है। शब्द का अर्थ निर्धारण करने वाले इन चार पाद में प्रथम तीन से हम भली-भाँति परिचित हैं। ये तीन पाद हैं - वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक। जिनके आधार पर क्रमशः शब्द का अभिधार्थ, लक्षणार्थ तथा व्यञ्जनार्थ प्राप्त किया जाता है। इन तीन पाद को शब्द व्याख्या की तीन शब्द शक्तियां अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना कहा जाता है। शब्द के अर्थ निर्धारण का चतुर्थ पाद है - शब्द का सापेक्ष स्वरूप। शब्द का सापेक्ष चिन्तन सही अर्थ के पास पहुँचाने वाला होता है, यह शब्द के निश्चित अर्थ का बोध कराता है तथा साथ ही यह शब्द के अर्थ को पूर्णता प्रदान करता है। अतः किसी भी शब्द का अर्थ निर्धारण करते हुए हमें उसके वाचक, लक्षक और व्यञ्जक स्वरूप के साथ-साथ सापेक्ष स्वरूप अर्थात् स्थान या परिस्थिति विशेष जिसे देश काल और परिस्थिति कहा जाता है, पर भी विचार करना चाहिये। इसे स्पष्ट करते हुए हम कहेंगे कि महाभारत युद्ध के मैदान में धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा उच्चारित शब्द - "अश्वत्थामा हतौ" का त्रुटिपूर्ण अर्थ इसके सापेक्ष स्वरूप पर विचार नहीं करने के कारण ही आचार्य द्रोणाचार्य द्वारा अपने पुत्र अशवत्थामा तक ही सीमित मान लिया गया। यदि युद्ध भूमि के आधार पर इस घोषणा पर विचार किया जाता तो इसका सही अर्थ प्राप्त हो जाता। शब्द के सापेक्ष स्वरूप को प्रगट करने के लिये हम अन्य उदाहरण यह देना चाहेंगे कि - किसी गांव या कस्बे में रहकर हम किसी व्यक्ति को सम्पत्ति के आधार पर सबसे धनी व्यक्ति कह सकते है या मान सकते है या किसी व्यक्ति की विद्वता के आधार पर उसे गांव या कस्बे का सबसे विद्वान व्यक्ति कह सकते हैं या मान सकते हैं किन्तु शहर में आने पर हम उस व्यक्ति को सबसे धनी व्यक्ति या सबसे विद्वान व्यक्ति नहीं कह सकते। यह कहने से पहले हमें शहर के अन्य व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति और बौद्धिक क्षमता को आधार बनाकर ही इसका निर्धारण करना होगा तथा इसके आधार पर ही हम किसी व्यक्ति के धनी होने या विद्वान होने का सही निर्धारण कर सकेंगे। यह है शब्द का सापेक्ष स्वरूप। इस सापेक्ष स्थिति पर विचार करते हुए ही हमें अन्य शब्द शक्ति अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का सहारा लेना

चाहिये । शब्द का अर्थ निर्धारण करना मूल की ओर जाना है । यह एक प्रकार से वृक्ष के बीज का निर्धारण है । जिस प्रकार वृक्ष के बीज का निर्धारण करते समय हम वृक्ष के अन्य अंग फूल, पत्ती, शाखा, तना आदि का सहारा लेकर उनके अनुपस्थित रहने पर भी बीज का सही निर्धारण कर लेते है, उसी प्रकार शब्द का अर्थ निर्धारण भी उपरोक्त चारों आधार का उपयोग करके करना चाहिए तथा शब्द के उच्चारण करते समय भी इन्हीं चार आधारों को मस्तिष्क में रखा जाकर शब्द का उच्चारण करना चाहिये । तो ही वह शब्द अपनी शक्ति को प्रगट करने वाला होता है । सही अर्थ प्रदान करने वाला होता है । वज्र रूप बन जाता है । अपने प्रभाव को प्रगट करता हुआ ।

६.३ (१२) वैखरी वाक् के शब्द तथा उसके अर्थ सम्बन्ध के बारें में सुस्पष्ट जानकारी हेतु हम महाभारत ग्रन्थ के शान्तिपर्व में वर्णित महर्षि उद्दालक (श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रमुख उपदेशक) के पुत्र श्वेतकेतु तथा उनकी पत्नी सुवर्चला के मध्य हुए संवाद के निम्न अंश प्रस्तुत करना चाहेंगे । -

सुवर्चलोवाच - "शब्द कोऽत्र ख्यातस्तथार्थश्चमहामुने ।

आकृत्यापि तयोर्ब्रुहि लक्षणेन पृथक् पृथक् ॥

सुवर्चला ने पूछा - महामुने, यहां शब्द किसे कहा गया है और अर्थ भी क्या है ? आप उन दोनों की आकृति और लक्षण का निर्देश करते हुए उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये ।

श्वेतकेतुरुवाच - "व्यत्ययेन च वर्णानां परिवादकृतो हि यः ।

स शब्द हति विज्ञेयस्तन्निपातोऽर्थ उच्यते ॥

श्वेतकेतु ने कहा - अकार आदि वर्णों के समुदाय को क्रम या व्यतिक्रम से उच्चारण करने पर जो वस्तु प्रकाशित होती है, उसे "शब्द जानना चाहिये और उस शब्द से जिस अभिप्राय की प्रतीति हो, उसका नाम 'अर्थ' है ।

सुवर्चलोवाच - "शब्दार्थयोर्हि सम्बन्धस्त्वनयोरस्ति वा न वा ।

तन्मे ब्रूहि यथातत्वं शब्दस्थानेऽर्थ एव चेत् ॥

सुवर्चला बोली - यदि शब्द के होने पर ही अर्थ की प्रतीति होती है, तो इन शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध है या नहीं । यह आप मुझे यथार्थ रूप से बतावें ।

श्वेतकेतुरुवाच - शब्दार्थयोर्न चैवास्ति सम्बन्धोऽत्यन्त एव हि ।

पुष्करे च यथा तोयं तथा स्तीति च वेत्थ तत् ॥

श्वेतकेतु ने कहा - शब्द और अर्थ में एक प्रकार के कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। कमल के पत्ते पर स्थित जल की भांति शब्द एवं अर्थ का अनियत सम्बन्ध है। ऐसा जानो।

सुवर्चलोवाच - अर्थे स्थितिर्हि शब्दस्य नान्यथा च स्थितिर्भवेत् ।
विद्यते चेन्महाप्राज्ञ विनार्थे ब्रूहि सत्तम ॥

सुवर्चला बोली - महाप्रज्ञ, अर्थ पर ही शब्द की स्थिति है, अन्यथा उसकी स्थिति नहीं हो सकती साधु शिरोमणि यदि बिना अर्थ का कोई शब्द हो तो उसे बताइये।

श्वेतकेतुरुवाच - "स संसर्गोऽतिमात्रस्तु वाचकत्वेन वर्तते ।
अस्ति चेदू वर्तते नित्यं विकारोच्चारणेन वे ॥

श्वेतकेतु ने कहा - अर्थ के साथ शब्द का वाचकत्व रूप सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य है। यदि शब्द है तो उसका अर्थ भी सदा है ही। विपरीत क्रम से उच्चारण करने पर भी शब्द का कुछ-न-कुछ अर्थ होता ही है। जैसे (नदी, दीन इत्यादि)

सुवर्चलोवाच - "शब्दस्थानोऽत्र इत्युक्तस्तथार्थ इति में कृतम् ।
अर्थास्थितो न तिष्ठश्च विरुढ़मिह भाषितम् ॥

सुवर्चला बोली - शब्द अर्थात् वेद का आधार है अर्थभूत परमात्मा। ऐसा ही विद्वानों ने कहा है और यही मेरा भी मत है। उस अर्थ का आधार लिये बिना तो शब्द टिक ही नही सकता। परन्तु आप तो इनसे कोई नियत सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं, अतः आपका कथन प्रसिद्धि के विपरीत है।

श्वेतकेतुरुवाच - "न विकूलोऽत्र कथितो नाकाशं हि विना जगत् ।
सम्बन्धस्तत्र नास्त्येव तद्वदित्येष मन्यताम् ॥

श्वेतकेतु ने कहा - मैंने प्रसिद्धि के विपरीत कुछ नहीं कहा है। देखो, आकाश के बिना पृथ्वी अथवा पार्थिव जगत् टिक नही सकता तथापि इनमें कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी वैसा ही मानना चाहिये।

सुवर्चलोवाच - "सदाहंकारशब्दोऽयं व्यक्तमात्मनि संश्रितः ।
न वाचस्तत्र वर्तन्ते इति मिथ्या भविष्यति ॥

सुवर्चला बोली - यह (अहम्) शब्द सदा ही आत्मा के अर्थ में स्पष्ट रूप से प्रयुक्त होता है परन्तु "यतो वाचो निवर्तन्ते" इस श्रुति के अनुसार वहां

वाणी की पहुंच नहीं है अतः आत्मा के लिये "अहम्" पद का प्रयोग भी मिथ्या ही होगा।

श्वेतकेतुरुवाच - "अहंशब्दो ह्यहंभावो नात्मभावे शुभव्रते।
न वर्तन्ते परेऽचिन्त्ये वाचः सगुण लक्षणाः॥"

श्वेतकेतु ने कहा - शुभव्रते, अहम् शब्द का आत्मभाव में प्रयोग नहीं होता, किन्तु अहम्भाव का ही आत्मभाव में प्रयोग होता है। क्योंकि सगुण पदार्थ के बोधक वचन अचिन्त्य परब्रह्म परमात्मा का बोध कराने में असमर्थ हैं।

"मृण्मये हि घटे भावस्तादृग्भाव इहेष्यते।
अयं भावः परेऽचिन्त्ये ह्यात्मभावो यथा न तत्॥"

जैसे मिट्टी के घड़े में मृत्तिका भाव होता है, उसी प्रकार परमात्मा से उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थ में परमात्मभाव अभीष्ट है। अतएव अचिन्त्य परब्रह्म परमात्मा में अहम्भाव आत्मभाव है और वही यथार्थ है।

(महाभारत शांतिपर्व - अध्याय २२० दक्षिणात्य पाठ)

इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्द और उसका अर्थ जल में कमल के पत्ते की भांति एक-दूसरे से जुड़े होकर तथा एक-दूसरे पर आधारित होकर भी अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व या क्षेत्र रखते हैं। अतः आवश्यक है कि शब्द की व्याख्या करते समय तथा शब्द का उच्चारण करते समय इस स्थिति को सदैव ध्यान में रखा जावें। शब्द का अर्थ ग्रहण करने हेतु हमें शब्द-शब्द को अर्थात् अक्षर-अक्षर को पढ़ते हुए या सुनते हुए ही इसका अर्थ बोध प्राप्त करना चाहिये। सम्पूर्ण पद को या वाक्य को शब्द संयोजन आधार पर ही अर्थ के लिये आधार भूमि बनाना चाहिये। शब्द की स्थिति वस्तु के अभाव में उसका बोध कराने वाली होती है, बीज रूप होती है।

"शब्दज्ञानानुनाती वस्तुशून्यो विकल्पः"

अर्थात् वस्तु के अभाव में विकल्प के रूप में शब्द ही ज्ञान को प्रगट करने वाला या ज्ञान का आधार बनता है। अतः हमें शब्द की इस स्थिति पर सदैव ही ध्यान रखना चाहिये तथा इसके आधार पर ही बीज मन्त्रों के स्वरूप एवं शक्तियों के बारे में भी जान लेना चाहिये।

६.३ (१३) छांदोग्योपनिषद् में आये वर्णन अनुसार वाग् की उत्पत्ति अग्नि तत्व अर्थात् तेज के सूक्ष्म अंश से होना मानी गई है। ग्रहण किये गये भोजन का जो तेजरूपी अंश होता है, वह ही वाणी में परिवर्तित हो जाता है। उपनिषद् वाणी में श्रुतिदेवी का कथन है -

"तेजसः सोम्याश्यमानस्य ओणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति।"

(छांदोग्योपनिषद् - ६/६/४)

अनुवाद - हे सौम्य, भक्षण किये हुए तेज का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है और वह वाणी होता है। वायु का यह तेज शब्द रूप में प्रगट होता है तथा सुनने वाले पर अपना प्रभाव छोड़ता है। -

"तेजोमयी वागिति" (छादोग्योपनिषद् - ६/७/६)

यही कारण है कि महर्षि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र ग्रन्थ में वाणी की कठोरता को अग्निदाह से भी बढ़कर बताया है -

"अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम् ।" (चाणक्य सूत्र - ७५)

अर्थात् - वाणी की कठोरता अग्निदाह से भी बढ़कर होती है। महर्षि कौटिल्य द्वारा व्यक्ति की उन्नति तथा अवनति का आधार भी उस व्यक्ति की वाणी को ही बताया है तथा वाणी को ही सुख का आधार तथा विष या अमृत रूप कहा है। महर्षि कौटिल्य के निम्न सूत्र विचारणीय है -

"जिह्वायतो वृद्धिविनाशो ।" (चाणक्य सूत्र - ४४०)

अपनी उन्नति और अवनति अपनी वाणी के अधीन होती है।

"विषामृतयोराकारी जिह्वा ।" "प्रियवादिनो न शत्रुः ।"

(चाणक्य सूत्र - ४४१/४४२)

वाणी ही विष तथा अमृत की खान है। प्रिय वचन बोलने वाले का कोई शत्रु नहीं है। आचार्य चाणक्य द्वारा प्रिय वाणी को व्यक्ति के अवगुणों को भी आच्छादित करने वाला बताया है।

"श्रुतिसुखात्कोकिलालापात् तुष्यन्ति ।" (चाणक्य सूत्र - ४४६)

काली कोयल के भी, कानों को सुख देने वाले वचन सबको भाते हैं।

ऐतरेयोपनिषद् (१/२/१४) में आये वर्णन अनुसार वागेन्द्रिय की उत्पत्ति अग्नि तत्व से होना बतायी गयी है। यह ही कारण है कि बोलते समय गला सूखता है तथा कभी-कभी अग्नि द्वारा कूड़ा-करकट जलाने की भाँति वाणी विवादों को, झगड़ो को शांत करती है, तो कभी शब्द मात्र ही शांति और व्यवस्था भंग कर देता है, अग्निदाह की भांति और महाभारत युद्ध का कारण बन जाता है। अतः वाणी या शब्दों का उपयोग अग्नि की भांति ही संयमित और जागरूक रहकर, सचेत रहकर करना चाहिये।

वृहदारण्यकोपनिषद् में सभी शब्दो को वाक् रूप होना बताया है।

"यश्शब्दो वागेव सा ।" (वृहदारण्यकोपनिषद् १/५/३)

अनुवाद - "जो कुछ भी शब्द है वह वाक् ही है" तथा वाक् को ही व्यक्ति का पथप्रदर्शन करने वाला होकर ज्योति रूप बताया गया है - सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के न रहने पर गहन अन्धकार में भी -

"अस्तमित आदित्ये याज्ञल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तिअग्नो किं ज्योतिरेवायं पुरुष इतिवागे वास्त ज्योतिर्भवतिति वाचेवायं ज्योतिषास्ते प्रत्येयते कर्म कुरूते विपत्येतीति तस्माद् वे सम्रांऽपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽपि यत्र वागुच्चरत्युयेव तत्र न्येतीत्येवमेवेतद् याज्ञवल्क्य ॥

(वृहदारण्यकोपनिषद् - ४/३/५)

अनुवाद - "हे याज्ञवल्क्य, आदित्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर और अग्नि के शांत होने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ? "वाक्" ही इसकी ज्योति होती है। यह वाक् रूप ज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है। इसी से है सम्राट, जहां अपना हाथ भी नही जाना जाता, वहाँ ज्यों ही वाणी का उच्चारण किया जाता है कि पास चला जाता है। "हे याज्ञवल्क्य, यह बात ऐसी ही है।" शब्द और उसके अर्थ के प्रभाव को समझने में आचार्य गोस्वामी तुलसीदास की निम्न पंक्तियां हमारी मदद करती है। -

"तुलसी अपने राम को रीझ भजो या खीज।
उलटो सीधो जामि है, खेत परे को बीज ॥"

इसके अतिरिक्त शब्द व उसके प्रभाव को व्यक्त करने वाली निम्न पंक्ति से (चौपाई) से हम सभी भली-भांति परिचित है। -

"उल्टा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना ॥"

(श्रीरामचरितमानस - २/१९८/८)

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।"

(रामचरित मानस १/१८/)

वाणी और उसके अर्थ तथा जल और जल की लहर के समान कहने में अलग - अलग हैं परन्तु वास्तव में अभिन्न (एक) हैं।

६.३ (१४) वेंखरी वाक् की परिपूर्णता को प्रगट करने के लिये संस्कृत भाषा में वाच् तथा वद् पृथक्-पृथक् धातु रूप होना हमारी मदद करता है। जब हम स्वाभाविक रूप से कोई भी कथन करते है, तो वह वाच् धातु शब्द के अन्तर्गत आता है किन्तु जब हम संस्कारित स्वरूप में अर्थात् व्याकरण पर आधारित भाषा का प्रयोग करते है, तो यह वद् धातु के अन्तर्गत प्रगट किया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ स्वाभाविक रूप में प्रगट हुआ संवाद है।

वेखरी वाणी का संस्कारित स्वरूप क्या है ? या संस्कारित वेखरी वाणी किस प्रकार की होती है । यह अभिव्यक्ति करने के लिये यदि हमारे द्वारा महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण ग्रन्थ में वर्णित श्रीराम - सुग्रीव मिलन प्रसंग में सुग्रीवदूत हनुमान द्वारा किये गये सम्भाषण के सम्बन्ध में श्रीराम द्वारा किया गया यह समालोचनात्मक वर्णन प्रस्तुत नहीं किया जाता है, तो हमारा वैखरी वाक् का परिचय अधूरा ही रहेगा । अतः विषय की परिपूर्णता के लिये निम्न अंश यथावत् प्रस्तुत है -

''तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिंदमम् ॥''

लक्ष्मण, इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान से जो बात के मर्म को समझने वाले हैं, तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणी में बातचीत करो ।

''नानृवेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥''

जिसे ऋग्वेद (पद्य) की शिक्षा न मिली, जिसने यजुर्वेद (गद्य) का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद् (गान) का विद्वान नही है । वह इसप्रकार सुन्दर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता ।

''नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दतम् ॥''

निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरण का कई बार स्वाध्याय किया है, क्योंकि बहुत सी बाते बोल जाने पर भी इनके मुंह से कोई अशुद्धि नहीं निकली ।

''न मुखं नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः कचित् ॥''

सम्भाषण के समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गों से भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नही हुआ ।

''अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्ययम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥''

इन्होंने थोड़े में ही बड़ी स्पष्टता के साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है, उसे समझने में कहीं कोई संदेह नही हुआ है । रूक-रूककर अथवा शब्दों या अक्षरों को तोड़-मरोड़कर किसी ऐसे वाक्य का उच्चारण नहीं किया है, जो सुनने में कर्ण कटु हो । इनकी वाणी हृदय में मध्यमा रूप से स्थित है

और कण्ठ से वैखरी रूप में प्रकट होती है, अतः बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊंची। मध्यम स्वर में ही इन्होंने सब बातें कही हैं।

"संस्कारक्रमसम्पन्नामद्‌भुताविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणी वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥"

ये संस्कार और कर्म से सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित तथा हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं।

"अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥"

हृदय, कण्ठ और मूर्धा - इन तीनों स्थानों द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति होने वाली इनकी इस विचित्र वाणी को सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा। वध करने के लिये तलवार उठाये हुए शत्रु का हृदय भी इस अद्भुत वाणी से बदल सकता है। (वाल्मीकि रामायण १/४/२७-३३)

हमें वेखरी वाणी का यह संस्कारित रूप ही अपनाना चाहिये, अपने जीवन में सफलता के लिये।

भाग - ४

६.४ (१) वैखरी वाक् के वाणी रूप की चर्चा के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है, कि हम वैखरी वाक् के लिपि रूप धारण करने के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त में चर्चा करें। वैखरी वाक् मन में इच्छा किये जाने पर मस्तिष्क से अर्थात् परावाक् से उद्भुत होकर वाणी के रूप में प्रगट होता है। जैसा कि आरम्भ में ही बताया गया है, वाणी के चार पाद परा, पश्यंती, मध्यमा एवं वैखरी होते है। यह वैखरी वाक् उच्चारण की भिन्नता या लिपि की भिन्नता के आधार पर पृथक्-पृथक् रूप में प्रगट होता है किन्तु मस्तिष्क की गुहा में रहने वाले प्रथम तीन पाद - "गुहा त्रीणी निहिता नेंगयन्ति" (ऋग्वेद - १/१६४/४५)। सभी मनुष्यों में समान स्थिति रखते हैं, सभी भाषाओं के प्रति लागू होते हैं। हमारी चर्चा का विषय देवनागरी लिपि पर आधारित वैखरी वाक् है अतः हम इस सम्बन्ध में ही यहां विचार कर रहे हैं।

६.४ (२) वैखरी वाक् या वाणी के प्रगट होने का माध्यम वागेन्द्रिय होता है किन्तु जब वाक् मन में स्थित होता है, तो कभी-कभी यह जिह्वा के अतिरिक्त कर्मेन्द्रिय या शरीर के अन्य अङ्गों का सहारा लेकर इशारे या संकेत में प्रगट होता है। हम हाथ से सिर या अन्य विविध संकेत द्वारा वाक् को प्रगट कर

देते है और यह संकेत ही वाक् रूप हो जाते है। इन संकेतों की सार्थकता उस समयं सुस्पष्ट हो जाती है, जबकि हम वाणी द्वारा वाक् को प्रगट करने में असमर्थ होते है। ऐसी अवस्था में संकेत ही भाषा का रूप ग्रहण कर लेते है और यह संकेत सांकेतिक भाषा को जन्म देते है। इसी प्रकार जब हम वाणी द्वारा उच्चारित शब्द को दृष्टि क्षेत्र में स्थित या दृष्टि क्षेत्र से परे स्थित किसी अन्य व्यक्ति तक पहुंचाने में असमर्थ होते है, तो ये संकेत ही सार्थक होकर कारगर भाषा बन जाते है तथा ये संकेत लिपि रूप धारण करने पर लिप्याक्षर बन जाते है। वाक् की गोपनीयता के आधार पर विभिन्न गूढ़, संकेत विकसित किये जाना कूट भाषा के आधार होते है किन्तु जब यह लिप्याक्षर संकेत सर्वसाधारण द्वारा सामान्य रूप से उपयोग किये जाते है, तो वाक् का यह सांकेतिक स्वरूप या लिपि रूप ही भाषा बन जाता है और सांकेतिक लिपि चिह्न भाषा के अक्षर या वर्ण बन जाते है। इस प्रकार सभी भाषाओं की उत्पत्ति तथा उनसे सम्बन्धित लिपि चिह्नों या लिपियों के जन्म लेने का आधार यह विकास परम्परा ही रही है।

६.४ (३) सांकेतिक भाषा के चिह्न भाषा के लिपि वर्ण बनकर भाषा को ही प्रगट करते है किन्तु जब हम एक ही चिह्न या लिप्याक्षर के उच्चारण भेद और सन्दर्भ के आधार पर इनका विविध अर्थ बोध निर्धारण करते हैं अर्थात् किसी लिपि चिह्न का एक निश्चित अर्थ बोध न मानकर उसका अर्थ निर्धारण सन्दर्भ या पृष्ठ भूमि के आधार पर करने लगते है, तो यह भाषा चिह्न काल के बन्धन का अंग बन जाते है और जानकार व्यक्ति के अभाव में ऐसी भाषा कालकवलित हो जाती है। यह ही कारण है कि इस धरा पर मानवता के विकास के साथ-साथ कई भाषाएं जन्मी, उनकी लिपियां विकसित हुई और काल के थपेड़ों में कालकवलित हो गई किन्तु देवनागरी वर्णमाला के विकास में हम एक भिन्न तथा काल जयी परम्परा या आधार भूमि पाते हैं, जो कि इस भाषा की सञ्जीवनी शक्ति है और इस सञ्जीवनी शक्ति के आधार पर ही यह भाषा मानवता के विकास की आरम्भिक अवस्था के साथ जन्म लेकर आज तक युगों-युगों के थपेड़ें खाकर भी अपने अमिट स्वरूप में यथारूप विद्यमान है। देवनागरी वर्णमाला पर आधारित वैखरी वाक् के संस्कृत भाषा स्वरूप द्वारा, सृष्टि के आरम्भ से अभी तक अपने मूल स्वरूप को यथावत् बनाये रखने का मुख्य कारण ध्वनि भेद के आधार पर लिपि के विविध और विभिन्न वर्णो का निर्धारण किया जाकर उनका निश्चयात्मक स्वरूप धारण कर लेना तथा इसके आधार पर ही इनका निश्चयात्मक अर्थ बोध कराना या अर्थ निर्धारण किया जाना रहा है। परम तत्व का विकास एक से बहुत या मूल से

अनन्त की ओर होता है। अपने इस गुण के आधार पर ही ध्वनि के विविध रूपों के आधार पर पृथक्-पृथक् वर्ण अर्थात् स्वर वर्ण और व्यञ्जन वर्णों का निर्धारण किया जाकर देवनागरी भाषा संस्कृत में प्रत्येक वर्ण का अर्थ निर्धारण उस वर्ण ध्वनि के उच्चारण भेद अर्थात् उच्चारण के स्वर भेद - उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तथा स्वर भेद - दीर्घ, ह्रस्व और लुप्त तथा नासिक, अनुनासिक एवं अननुनासिक आधार पर पृथक्-पृथक् तथा निश्चयात्मक किया गया है, जो कि इस देवनागरी लिपि या संस्कृत भाषा के अक्षुण्ण बने रहने का आधारभूत कारण है।

६.४ (४) देवनागरी वर्णमाला एवं इस वर्णमाला पर आधारित संस्कृत वेखरी वाक् के लिपि रूप या वर्ण रूप में विकास के सम्बन्ध में तर्क शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में स्थापित मान्यता या अवधारणा के आधार पर हम पाते है, कि देवनागरी वर्णमाला के प्रत्येक लिपि रूप वर्ण अर्थात् स्वर वर्ण एवं व्यंजन वर्ण को पृथक - पृथक एकाक्षर शब्द माना जाकर इनके या वर्ण रूप अर्थात् लिप्याक्षर रूप का निर्धारण किया गया है तथा इनके अर्थ का निर्धारण भी पृथक्-पृथक् किया गया है। इन सभी लिपि रूप वर्णों की उत्पत्ति मानव शरीरस्थ विभिन्न नाड़ियों से प्रवाहित होने वाले प्राणवायु के, शरीर में ही स्थित विभिन्न गुञ्जलक केन्द्रों (ध्वनि केन्द्र) जिन्हें कि चक्र की संज्ञा दी गई है; इन चक्रों में स्थित गुञ्जलक से होना मानी गई है। वर्णमाला के स्वरूप तथा इनके अर्थ निर्धारण करने वाले यह सभी ग्रन्थ आगम ग्रन्थ कहे जाते है। इसके अनुसार देवनागरी वर्णमाला के वर्ण की उत्पत्ति का आधार प्राण वायु को माना गया है। श्वसन क्रिया द्वारा ग्रहण किया जाने वाला प्राण वायु मानव शरीर में प्रवेश करके पंच प्राण अर्थात् - प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान तथा इनसे सम्बन्धित पांच उपप्राण में विभाजित होकर मानव शरीर में स्थित एक सौ मूल नाड़ियों तथा इनकी प्रत्येक की एक-एक सौ शाखा नाड़ियों तथा पुनः प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर-बहत्तर हजार उपशाखा नाड़ियों इस प्रकार अनेकानेक नाड़ियों की जाल रोम-रोम में समाया होना माना गया है।

(प्रश्नोपनिषद् - ३/३/६)

ये सभी नाड़ियां मूल रूप से दस नाड़ियों से जुड़ी होना मानी गई है। ये सभी नाड़ियां मानव शरीर स्थित रीढ़ की हड्डी से जो कि सिर से लगाकर मूलाधार केन्द्र तक जाती है से जुड़ी होना मानी गई है। इन दस नाड़ियों में तीन प्रमुख नाड़ियां - इड़ा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना या बायीं-दायीं तथा मध्य नाड़ियां मानी गई है। श्वसन क्रिया द्वारा ग्रहण किया जाने वाला प्राणवायु नासिका छिद्रों से प्रवेशकर ऊर्ध्वगति प्राप्त कर, इन नाड़ियों द्वारा ग्रहण किया जाकर मूलाधार केन्द्र तक सतत प्रवाहशील होता है तथा लौटकर पुनः नासिका

छिद्रो से बाहर निकलता है। सामान्य रूप में यह प्राण वायु नासिका छिद्रों से प्रवेश करके फेफड़ों तक ही आने-जाने वाला भासता है किन्तु प्राणायाम की रेचक तथा कुम्भक क्रियाओं द्वारा इसके शरीर व्यापी स्वरूप को स्पष्टरूप से जाना जा सकता है तथा एकाग्रता एवं मन के अन्तः प्रवेश द्वारा इनके विविध क्रियात्मक रूपों को स्पष्टतः अनुभव किया जाना उल्लेख किया गया है। प्राण वायु के नासिका छिद्रों से प्रवेश करके ऊर्ध्वगति होकर चिदाकाश में व्याप्त होना तथा वहां से मूलाधार तक जाने वाले आवागमन के संचरण मार्ग की स्थिति तथा इस मार्ग के रीढ़ की हड्डी से जुड़े होने के आधार पर इस सम्पूर्ण मानव शरीर को ही मस्तिष्क से लगाकर मूलाधार केन्द्र तक - "सारस्वत वीणा" कहा गया है। यह "सारस्वत् वीणा" सहस्रार केन्द्र से मूलाधार चक्र तक मानी गई है तथा इस सारस्वत् वीणा को श्वसन रूपी तारों से गूंथा हुआ माना गया है। इस सारस्वत् वीणा में ही मूलाधार केन्द्र से सहस्रार पर्यन्त कुल आठ चक्र अर्थात् गुञ्जलक केन्द्र स्थित होना माने गये हैं। जिन्हें अष्ट चक्र कहा जाता है। ये चक्र कमलाकृति रूप माने जाकर इनके कमल दलों में विभिन्न वर्ण रूप गुञ्जलक केन्द्र स्थापित होना माने गये हैं तथा इन सभी का संबंध मुख से होना माना गया है। वाणी अर्थात् वैंखरी वाक् के उच्चारण हेतु ग्रहण किया गया प्राणवायु श्वसन क्रिया द्वारा भीतर प्रवेश करके सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है तथा वर्ण उच्चारण किये जाने पर यह प्राण वायु इन गुञ्जलकों में संचरण करता हुआ कण्ठ से निकलता हुआ - विभिन्न केन्द्र अर्थात् कण्ठ, तालु, मुर्द्धा, दांत, ओष्ठ एवं नासिका से निकलता हुआ इन स्थानों से टकराकर विविध वर्ण ध्वनि उत्पन्न करता है। यह मूल ध्वनि अकार रूप होती है तथा अन्य सभी ध्वनियां अकार का ही विस्तार होकर इसका परिवर्तित रूप होती है। यह सम्पूर्ण विस्तार परम तत्व का आधार लिये होता है -

"अक्षराणामकरोऽस्मि" (गीता - १०/३३)।

उच्चारित किये जाने वाले शब्द वर्ण का तथा उसकी आकृति का निर्धारण इन गुञ्जलकों की आकृति के आधार पर ही किया गया होना माना गया है। देवनागरी वर्णमाला के सभी वर्णों की उत्पत्ति एवं उनके लिपि रूप या ध्वनि रूप का निर्धारण इस 'सारस्वत् वीणा' में स्थापित गुञ्जलकों के आधार पर एवं उनकी आकृति के अनुसार ही किया गया होना माना गया है तथा इन गुञ्जलकों से निकलने वाले प्राण वायु के मुंह में स्थित विभिन्न स्थान यथा जिह्वा मूल, हृदय, कण्ठ, मूर्द्धा, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालू इन आठ स्थानों से टकराकर उत्पन्न ध्वनि के आधार पर ही वर्णों का निर्धारण

किया गया है। यह इस प्रकार कि वर्ण की उत्पत्ति के समय शरीरस्थ नाड़ियों में व्याप्त प्राण वायु के बाहर निकाले जाते समय अष्ट चक्रों में स्थित गुञ्जलकों से प्रवाहित होकर प्राणवायु कण्ठ, तालु या मूर्धा आदि से टकराकर जो ध्वनि या स्वर लहरी उत्पन्न होती है, यह स्वर लहरी ही वर्ण की उत्पत्ति का कारक होती है। स्वर लहरी का पृथकत्व वर्ण को पृथक्-पृथक् अस्तित्व प्रदान करता है ; स्वर लहरी के प्रवाह की तीव्रता या मृदुता या कठोरता के आधार पर; जो कि प्राण वायु के निकाले जाने से प्रगट होती है। आगम ग्रन्थों का यह वर्णन कितना आधारयुक्त है, यह हम नहीं कह सकते है किन्तु यह स्पष्ट है कि वैखरी वाणी के उच्चारण के लिये हम प्राण वायु ग्रहण करते हैं। यह ग्रहण किया गया प्राण वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है तथा वाणी के उच्चारण में व्यय हो जाने पर हम पुनः प्राण वायु के ग्रहण करने के उपरान्त ही वाक् के उच्चारण हेतु समर्थ हो पाते हैं। ध्वनि उत्पत्ति के केन्द्र और उत्पन्न ध्वनि की भिन्नता ही "आप्त वाक्य" आधार पर उपरोक्त विवरण को स्वीकार योग्य बना देता है हमारे लिये।

६.४ (५) वर्णों की उत्पत्ति का सम्बन्ध सृष्टि संरचना के आधारभूत पञ्चतत्व अर्थात् पञ्च महाभूतों आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से होना माना जाकर इनके अनुसार ही वर्णों के क्रियात्मक स्वरूप का अर्थात् इन वर्णों (स्वर वर्ण और व्यञ्जन वर्ण) के प्रतीक अर्थों का निर्धारण किया गया है। इस प्रकार निराकार रूप में प्रगट होने वाली ध्वनि अपने सहज साकार स्वरूप को धारण कर लिपि रूप में प्रगट हुई मानी गई है। अपनी इस दिव्य अवधारणा के फलस्वरूप या अपनी उत्पत्ति के इस दिव्य आधार पर ही इसे देवनागरी लिपि कहा जाता है या इसे देवनागरी वर्णमाला होना माना गया है।

६.४ (६) देवनागरी वर्णमाला के सभी वर्णों के पञ्चमहाभूत आधारित स्वरूप के आधार पर ही संस्कृत भाषा में विभिन्न वर्णों के धातु रूप अर्थात् क्रियात्मक स्वरूप का गठन किया जाकर उनके निश्चित अर्थों की अवधारणा की गई है। वर्णमाला के विभिन्न वर्णों पर आधारित धातु रूप शब्द जो निश्चयात्मक अर्थ लिये हुए हैं। इनका अर्थ विस्तार उपसर्ग तथा प्रत्यय के संयोजन द्वारा किया जाकर इन्हें विविध अर्थी बनाया गया है। इन धातु रूपों का पुनः विभाजन विषय के आधार पर "गण" रूप में किया गया है तथा "गण" संख्या कुल १० मानी जाकर उनके आधार पर धातु शब्द की अवधारणा आत्मने पद, परस्मैपद तथा उभयपद रूप में की गई है एवं इनके क्रियात्मक स्वरूप का निर्धारण काल विभाजन "लकार" रूप में किया गया है। यह काल विभाजन भी कुल १० प्रकार का माना गया है। कुल दस लकार माने गये हैं तथा इस

सम्पूर्ण विभाजन का व्यक्तिवादी स्वरूप विभक्तियों के आधार पर निश्चित किया गया है। इस प्रकार देववाणी संस्कृत भाषा में वर्णों की उत्पत्ति पर आधारित शब्द वर्ण के धातु रूप का निर्धारण किया जाकर निश्चयात्मक स्वरूप दिया गया है।

६.४ (७) इस प्रकार देववाणी संस्कृत भाषा में वैखरी वाक् के प्रगटन हेतु वर्णों की उत्पत्ति पर आधारित शब्द वर्ण के धातु रूप का निर्धारण, किया जाकर उपसर्ग तथा प्रत्यय द्वारा मूलधातु का रूप का शब्द रूप में विस्तार किया गया है तथा इनका विभाजन विषय के अनुसार गण रूप में - कुल दस गणों में किया जाकर इन धातु शब्दों का विभाजन आत्मने पद, परस्मै पद तथा उभय पद में किया गया है तथा काल विभाजन आधार पर कुल - १० लकार की संरचना की जाकर, आठ विभक्तियों के आधार पर सभी धातु रूप शब्दों को निश्चयात्मक अर्थ बोध कराने वाला हमारे प्राचीन मनीषि-ऋषियों द्वारा बनाया गया है। अपने इन विविध अङ्गों पर आधारित होकर यह संस्कृत वैखरी वाक् सुस्पष्ट तथा निश्चयात्मक अर्थ बोध कराने वाला है। साधक जब मानव देह रूपी सारस्वत वीणा से जुड़कर इन विविध वर्णों पर आधारित स्तवन माला का पाठ करता है या वक्ता होता है, तो वह सहज ही कर्ण प्रिय और सुमधुर बन जाती है। प्रगट रूप में भी हम पाते है कि जब कोई स्तवन घोष रूप में किया जाता है, तो मूल वर्ण ध्वनि स्वर - ''अ'' शाश्वत बनी रहती है तथा अन्य सभी शब्द या वर्ण उससे निःसृत होते हुए या तारा समूह की भांति झरते हुए सुनाई देते हैं, दिखाई देते हैं।

६.४ (८) - (I) देववाणी संस्कृत भाषा के वैखरी वाक् रूप व्यञ्जन एवं स्वर वर्ण परम तत्व का बाह्य आकाश में भी बोध कराने वाले हैं तथा शब्द साधना के क्रम में आन्तरिक आधार पर भी शब्द ब्रह्म का बोध कराते है। वैखरी वाणी पर आधारित स्वर - सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा की स्वर लहरी को अपनाकर इन सात स्वरों की तान पर आधारित विभिन्न राग- रागनियों को जब साधक तल्लीन होकर बजाता है और जब वह इस गान का स्वयं ही श्रोता बन कर तल्लीन हो जाता है, तो ये राग- रागिनियां स्वतः ही साधक के समक्ष प्रगट हो जाती हैं और जब साधक इन रागों पर आधारित नाद ब्रह्म की उपासना करता है या साधना करता है, तो वह निराकार ब्रह्म प्रगट हो जाता है, साधक के समक्ष अपने साकार विराटरूप में भासता हुआ और साधक अपने द्वारा अपनाई जा रही स्वर लहरी द्वारा जब उस विराट रूप का अनुगमन करने में स्वयं को असमर्थ पाता है, तो वह प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है, अपने जीवन जीवरूपी अंश होने का। इस प्रकार यह वैखरी वाक् अप्रगट ब्रह्म का

बोध कराने वाला तो बनता ही है, यह प्रगट रूप से भी ब्रह्म सत्ता का बोध कराता है ।

(II) वैखरी वाक् की देवनागरी वर्णमाला 'अवर्ण से ह' वर्ण तक प्रगट हुई है । ''अ'' से ''ह'' तक के सभी वर्ण परम तत्व के जागतिक अस्तित्व को प्रगट करने वाले है, ये परम तत्व का ही बोध कराते हैं । ऐतरेयोपनिषद् में वर्णन मिलता है, कि जब परम तत्व द्वारा सृष्टि संरचना का विचार किया जाकर बहुरूप धारण किया गया तथा सम्पूर्ण सृष्टि की संरचना कर ली गई तो स्वयं परम तत्व के समक्ष ही अपने अस्तित्व को प्रगट करने का प्रश्न खड़ा हो गया । परम तत्व द्वारा अपना अस्तित्व - ''कोऽहमिति (ऐतरेयोपनिषद् - १/३/११) अर्थात् मैं कौन हूँ ? इस प्रकार यह प्रगट करने के लिए ही यह देव वाणी स्वयं परम तत्व के द्वारा ही प्रगट की गई है, जिसमें प्रथम वर्ण ''अ'' तथा अन्तिम वर्ण ''ह'' के साथ उसमें प्रणव रूप ॐकार ध्वनि रूप में स्वयं समाहित होकर ''अहं रूप'' प्रगट हो गया है और यह अहं शब्द ही प्रथम परिचय देता है, इस मानव देह में स्थित परम तत्व के अंश होने का -

''अकारादि हकारान्तमशेषाकारसंस्थितम् ।
अजस्त्रतुच्चरन्तम् स्वमात्मानं समुपास्महे ॥''

आरम्भ में अकार तथा अन्त में हकार से युक्त ये वर्णमाला है, जिसमें शेष सभी वर्ण अकार से युक्त होकर प्रगट हुए हैं । जब हम इनका उच्चारण करते हैं अर्थात् संक्षिप्त रूप में ''अ'' से ''ह'' तक उच्चारण करते है, तो उसी परम तत्व की उपासना करते हैं स्वयं को ही प्रगट करते हैं ।

(III) वैखरी वाक् की इस व्यापकता के आधार पर ही महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा इसे वाणी का एक अयन कहा गया है - ''सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ।'' (वृहदारण्योकोपनिषद् - ४/५/१२) । ''सम्पूर्ण वेदों का वाक् एक अयन है अर्थात् समस्त ज्ञान का आधार यह वैखरी वाक् है ।'' यह वैखरी वाक् ही ज्ञान का एक अयन है । वैखरी वाक् ज्ञान का एक अयन है ।

॥ हरि ॐ ॥

अप्रगटवाक्

७.१ वाणी के तीन पाद - मध्यमा, पश्यन्ति तथा परावाक् बुद्धि रूपी गुहा में छिपा होना बताये गये हैं - "गुहा त्रीणी निहिता नेंङ्गयन्ति" (ऋग्वेद - १/१६४/४५) जो प्रगट नहीं होते हैं। वाणी के यह तीनों पाद यद्यपि बाह्य जगत में अस्तित्व हीन तथा अगोचर होते हैं किन्तु इनका अनुभव मानसिक धरातल पर बुद्धि द्वारा किया जाता है तथा इनका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। वाणी की यह तीनों अवस्थाएं उसी प्रकार अनुभव गम्य है, जिस प्रकार कि स्वप्न में देखा गया दृश्य बाह्य जगत में अस्तित्वहीन होता है किंतु दृष्टा व्यक्ति के लिये वह अनुभव का सत्य होता है। वाणी के अप्रगट स्वरूप और स्वप्न में अंतर यह होता है कि हम कब क्या स्वप्न देखेंगे इसका कोई निश्चित क्रम या नियत दृश्यावली नहीं होती है, जबकि अप्रगट वाक् **मध्यमा वाक्, पश्यन्ती वाक् और परा वाक्** के सम्बन्ध में होने वाला यह बोध क्रमबद्धता में बंधा हुआ तथा निश्चयात्मक होता है। अनुभव की साम्यता लिये होता है। मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणी के स्वरूप का बोध व्यक्तिश: अनुभव का विषय होता है, जिसे यथा रूप प्रगट करने में हम असमर्थ होते है। किंतु जिस प्रकार स्वप्न का वर्णन करके हम उसे अभिव्यक्त कर देते हैं तथा शयन स्थिति आधार पर उसके स्वप्न होने का विश्वास कर लेते हैं, उसी प्रकार एकाग्रता की अवस्था को अपनाकर ध्यान साधना द्वारा हम अनुभव की साम्यता के आधार पर तथा मनीषि, ऋषियों तथा संतों द्वारा किये गये वर्णन के आधार पर हम मध्यमा, पश्यन्ति और परा वाक् का बोध स्व-अनुभव आधार पर प्राप्त कर सकते हैं। और जिस प्रकार स्वप्न में देखा गया महल, नदी, झरना या तालाब अस्तित्वहीन होकर भी बाह्य जगत में स्थित संरचना आधार पर स्वप्न के महल, नदी, झरना या तालाब आदि को जान लेने तथा अभिव्यक्त करने में कारण होता है, उसी प्रकार हम अप्रगट वाक् स्वरूप का परिचय दे सकते हैं, बोध प्राप्त कर सकते हैं। और जिस प्रकार दो व्यक्तियों द्वारा स्वप्न में देखे गये महल, नदी, झरना या तालाब आदि की एकरूपता का निर्धारण करने में हम असमर्थ होते हैं तथा संज्ञा नाम से ही उनकी एकरूपता जान लेते हैं, उसी प्रकार हमें वाणी के तीन पाद - मध्यमा, पश्यन्ती और परा अर्थात् कंठ जप, हृदय जप तथा नाभि जप अवस्था या अजप अवस्था अनहद नाद तथा

शब्द स्वरूप के संबंध में भी जानना चाहिये तथा इनके आधार पर ही वाक् के स्वरूप ग्रहण, विकास तथा उद्भव या उद्गम बिन्दु को जान लेना चाहिये, जो कि क्रमशः सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और महत् शरीर से जुड़ी हुई अवस्थाएं हैं, इनका बोध कराने वाली अवस्थाएं हैं।

७.२ मध्यमा वाक् वाणी के प्रगट होने से पूर्व की अवस्था है। यह बोले जाने वाले शब्दों के सही निर्धारण और पूर्णता की अवस्था है। शब्द स्वरूप के गठन की अवस्था है। वाक् प्रगटन प्रक्रिया का वर्णन करने वाला ऋग्वेद का यह मंत्र वाणी के मध्यमा स्वरूप को समझने में हमारी मदद करता है। -

"सक्तुमिव तितउना पुनंतो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ॥"

(ऋग्वेद - १०/७१/२)

अनुवाद - "सत्तु को छलनी से छानकर जिस प्रकार पवित्र अर्थात् विकार रहित किया जाता है, उसी प्रकार धीर पुरुष मन से वाणी को पवित्र करके अर्थात् विकार रहित स्वरूप में शुद्धता प्रदान कर व्यक्त करते हैं।" यह वाणी के प्रगट होने के पूर्व की व्यवस्था का वर्णन करते हुए, उसका मन से सीधा सम्बन्ध होना बताती है। यह मध्यमा वाक् की अवस्था है। मध्यमा वाक् को व्याकरण शास्त्र में स्फोट कहा गया है - **"स्फुटति अर्थः ख्यात स स्फोटः"** अर्थात् जहां पहुंचकर अर्थ का ज्ञान सुस्पष्ट होता है। इस प्रकार मध्यमा वाक् उच्चारित किये जाने वाले शब्द के अर्थ का बोध कराती है तथा इसके साथ ही वक्तृता के सही स्वरूप का निर्धारण करती है। अर्थ का यह ज्ञान मध्यमा वाक् के विस्फोट से होता है, जिसे अर्थावतरण कहा जाता है। आगम ग्रंथ एवं दर्शन शास्त्र में उच्चारित शब्द अर्थात् वागेन्द्रिय द्वारा कंठ से निकलने वाली वैखरी ध्वनि को अनित्य माना गया है तथा मध्यमा नाद ध्वनि को स्फुटवाद सिद्धांत आधार पर नित्य माना जाता है।

७.३ मध्यमा वाक् की बोधगम्यता के संबंध में जैसा कि आरंभ में ही अभिव्यक्त किया गया है कि यह किसी नाट्य सभा से उठकर नाट्य मंच पर पर्दे के भीतर बैठने जैसी स्थिति है, जहां स्थित होकर हम नाट्य दृश्य को प्रगट होने के पूर्व ही देख और समझ सकते हैं। यह वाणी के स्वरूप ग्रहण की अवस्था है। मध्यमा वाक् और वैखरी वाक् का आपसी संबंध तथा परस्पर भिन्नता स्पष्ट करने के लिये हम कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार नाट्य सभागार में नाट्य मंच, नाट्य सभा का अङ्ग होकर भी नाट्य सभा से पृथक् होता है और दोनों की क्रियाशीलता में अंतर बना रहता है, उसी प्रकार मध्यमा वाक् और वैखरी वाक् परस्पर आश्रित होकर भी पृथक् तथा स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। मध्यमा वाक् शरीरस्थ कर्मेन्द्रियों से और ज्ञानेन्द्रियों से ऊपर उठकर मन में

ही स्थित हो जाने की अवस्था है। जिस प्रकार नाट्य मंच पृथक् होकर भी नाट्य सभागार को नियंत्रित रखने की, दृश्य से बांधे रखने की क्षमता रखता है, उसी प्रकार मध्यमा वाक् वैखरी वाक् को प्रभावित करता है, नियन्त्रित करता है, अभिव्यक्त होने वाली वाणी पर प्रशासन करता है और जिस प्रकार नाट्य मञ्च पूर्ण होकर अपना स्वतंत्र स्वरूप रखता है अर्थात् नाटक का प्रदर्शन रिक्त सभागार में दर्शक वृन्द के न होने पर भी किया जा सकता है तथा उसकी पूर्णता को जाना जा सकता है तथा उसे जानकर आनन्दित हुआ जा सकता है, उसी प्रकार मध्यमा वाक् मन में या मन के भीतर अपने पूर्ण स्वरूप में अभिव्यक्त होता है और जाना जाता है। इसके लिये वैखरी वाक् आवश्यक नहीं होता और न श्रोत रूप ज्ञानेन्द्रिय की ही आवश्यकता होती है। मध्यमा वाक् के इस स्वरूप का वर्णन हिन्दी भाषा के आधुनिक कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के खण्ड काव्य पंचवटी में निम्न पंक्ती में आया है :-

"आप आप से कहता वह, आप आपकी है सुनता" (पंचवटी)

यह दशेन्द्रियों - पांच कर्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों का अपने घनीभूत स्वरूप एकादश इन्द्री मन में ही स्थित हो जाना है, जो कि सभी इन्द्रियों की क्षमता और सामर्थ्य रखता है। यह विस्तार के क्रम से केन्द्र की ओर, उत्पत्ति बिंदु की और लौटना है तथा पूर्व की सीढ़ी या पूर्व वृत्त में स्थित होने की अवस्था जैसा (देखें आकृति के ६.१-१२) है, जिसमें कि विस्तृत स्वरूप के सभी गुण तथा अनिवार्यताएं समाहित होती है। यह दशेन्द्रियों से प्रत्याभिमुख होने की अवस्था है। मन की इस अवस्था तथा क्षमता का वर्णन आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा परम तत्व का वर्णन करते हुए श्रीरामचरित्मानस में निम्न चौपाइयों में किया है :-

"बिनु पद चले सुने बिनु काना। कर बिनु करम करई विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भांति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

(श्रीरामचरित्मानस - १/११८/५-८)

यह मन से जुड़ी हुई आत्म सत्ता की ही क्षमता होती है।

७.४ यह मन परम तत्व ब्रह्म का ही स्वरूप है, विस्तार है। अतः परम तत्व की सभी सामर्थ्य मन में विद्यमान है। अपने इन्हीं गुणों तथा सामर्थ्य के कारण या आधार पर ही उपनिषद् वाणी में मन को ब्रह्म ही होना - **"मनेति ब्रह्म"** (तैत्तिरियोपनिषद् - ३/४/१, छांदोग्योपनिषद् - ३/१८/१) कहा गया

है। हमें इस स्वरूप को ही क्रमशः पूर्ण रूप में जानना होता है। मन का यह परब्रह्म स्वरूप उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार की आप किसी नगर प्रमुख या संस्था प्रमुख से मिलकर उसे ही राजसत्ता का प्रतीक मान लेते है और राजसत्ता का प्रतीक मान लेते है और राजसत्ता का बोध प्राप्त करते है। यह नगर प्रमुख या संस्था प्रमुख प्रांत या देश की सर्वोच्च सत्ता नहीं होता है, उसी प्रकार मध्यमा वाक् से होने वाला मन का प्रथम बोध हमें सर्वोच्च आत्म सत्ता या शब्द सत्ता का बोध कराता है किंतु यह स्वयं आत्म सत्ता या शब्द सत्ता नहीं होता है। यह अवस्था अन्तर्जगत के प्रवेश द्वार की भांति है। यह नगर या संस्था से संबंधित देश की राजधानी में स्थित राजप्रसाद के प्रवेश द्वार पर पहुंचने की भांति है, जिसके भीतर राज पुरुष का निवास है। इस राजपुरुष की सत्ता ही सर्वत्र व्याप्त है, हमारा अंतिम लक्ष्य इस राजपुरुष से मिलना होता है, जिसका निवास स्थान महल के प्रवेश द्वार से सुदूर भीतर होता है। यदि हमने मन को ही या नगर प्रमुख या संस्था प्रमुख को ही राजपुरुष मान लिया तो यह यात्रा के आरम्भ के साथ ही इसका परिसमापन करना है। यह मन की मनोमय अवस्था है, जो अंतर्मुखी हो चुकी है। अब इसका गन्तव्य परम तत्व ही शेष होता है। यह मन में स्थित होकर मन में ही रमण करने की अवस्था होती है, यह अवस्था मन को शुद्ध स्वरूप की ओर ले जाने वाली होती है, जिसका आधार मध्यमा वाक् ही होता है। यह मध्यमा वाक् **हेमन्त ॠतु** की भांति है। जिस प्रकार हेमन्त ॠतु वृक्षों से पुराने पल्लव विलग करके नवांकुरण को जन्म देता है, नव पल्लव को प्रस्फटित करता है, उसी प्रकार यह मध्यमा वाक् मन को विकार रहित करके अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित कर देता है। परम तत्व की ओर आगे बढ़ने के लिये योग्य बना देता है।

७.५ मध्यमा वाक् को ही संत कबीर द्वारा शब्द साधना के क्रम में या परम तत्व का बोध प्राप्त करने की यात्रा के क्रम कें अजप अवस्था कहा है। संत मत में इस अवस्था को ही कंठ जप की अवस्था कहा गया है। इस अवस्था का बोध प्राप्त करने के लिये हमारे द्वारा इसे शब्द के स्वरूप ग्रहण की अवस्था कहा गया है। यह वाणी की बह स्थिति या अवस्था है जो बाह्य आकाश में प्रगट होने के पूर्व अपनी पूर्णता प्राप्त करती है और यदि वागेन्द्रिय द्वारा प्रंकट नहीं किया जावे तो यह एकाग्रता की तल्लीन अवस्था में चिदाकाश में गुंजती हुई सुनाई देती है। यह कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के अंतर्मुखी होने की प्रारंभिक अवस्था है। जब कमेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां अंतर्मुखी होकर मन में ही स्थित हो जाती हैं, तो यह मन ही वक्ता और श्रोता बन जाता है, इसमें

सभी दशेन्द्रियों की कार्यक्षमता तथा ज्ञानक्षमता आ जाती है । जो क्रमेण विकसित होकर साधक के लिये अष्टसिद्धि प्रदाता बनती हैं । यह कछुए द्वारा अपने अङ्गों को समेट लेने के समान अवस्था होती है, इस अवस्था को समझने में श्रीमद्भगवद्गीता का यह मंत्र हमारी मदद करता है -

''यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥''

(२/५८)

अनुवाद - ''कछुआ जिस प्रकार अपने अंगो को समेट लेता है, वैसे ही पुरुष जब सभी ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।'' इस अवस्था को प्राप्त कर साधक आत्मस्थ ही हो जाता है । वह अपने इस पार्थिव शरीर में स्थित स्वयं के सूक्ष्म शरीर का बोध प्राप्त कर लेता है, स्वयं के इस शरीर में होते हुए भी इस शरीर से भिन्न होने अर्थात् स्वयं के द्रष्टा होने या साक्षी होने का बोध प्राप्त कर लेता है । व्यावहारिक स्वरूप में वैखरी वाक के उच्चारण के समय, अनुभव में आने वाली प्राण वायु की अनिवार्यता और आवश्यकता तथा इसका अवरोध इस मध्यमा वाक् की अवस्था में समाप्त हो जाता है । यह अवस्था साधक को विकार रहित करती हुई, मन को शुद्ध करती हुई उसे ज्ञान भूमि पर खड़ा कर देती है मन को निर्विषय बना देती है । राजयोग में वर्णित संयम के द्वार तक पहुंचा देती है । गहन नीरवता में साधक को स्व-प्रयास से प्राप्त मध्यमा वाक् या अजपावस्था भी छुटती है तथा साधक यात्रा के अगले चरण पश्यन्ती वाक् में प्रवेश कर जाता है, जिसे अनहद नाद या हृदय जप अवस्था या वाणी की विस्तार की द्वितीय अवस्था कहा गया है । श्रीमद्भगवद्गीता में इस अवस्था में स्थिर रहने का निर्देश देते हुए शिष्य अर्जुन से कहा गया है -

''तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।'' (२/६१)

''इसलिए मनुष्य को चाहिये कि उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे ।'' परम तत्व का चिन्तन अर्थात् ''तदर्थ भावनम्'' ही साधक को यह ज्ञान भूमि प्रदान करता है तथा एकमात्र प्रणवाक्षर का सहारा ही साधक के मार्ग को द्विविध बना देता है । अर्थात् नीरवता के आलोक में सुनाई देने वाला स्वतः स्फूटित नाद अंतः चक्षु खोलने में सहायक होता है । शून्य से उत्पन्न होने वाले नाद को खोज लेने की अवस्था तथा उसके स्वरूप को जानने का प्रयास ही वाक् का पश्यन्ती पाद बन जाता है, यह ज्ञानावस्था की ओर बढ़ना है जो स्वयं प्रकाश स्वरूप है ।

७.६ मध्यमा वाक् को स्पष्ट करते हुए हम पुनः कहना चाहेंगे कि मध्यमा वाक् का परिचय हम मन से जुड़ी हुई अवस्था में मन के द्वारा ही प्राप्त करते हैं, मन द्वारा की गई यह अनुभूति साधक को पंच महाभूत के प्रगट रूप कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से परे होती है, यह मन में स्थित होकर मन द्वारा ही वाक् का उच्चारण किया जाना तथा मन द्वारा ही सुनना होता है। जिस प्रकार प्रगट जगत में वैखरी वाक् विस्तार प्राप्त करता है और सुनाई देता है तथा लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार मध्यमा वाक् हृदयाकाश में जिसे कि चिदाकाश कहा जाता है तथा जिसका स्थान मस्तिष्क के अग्र भाग में स्थित होना माना जाता है, इस चिदाकाश में ही यह उत्पन्न होता हुआ और गूंजता हुआ सुनाई देता है। जब हम मन में ही स्थित होकर मध्यमा वाक् को सुनते हैं, तो यह हमारा चिदाकाश का प्रथम परिचय होता है। जैसा कि हमारे द्वारा वाक् की स्वरूप ग्रहण की अवस्था में बताया गया है कि यह नाट्य मंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले दृश्य के प्रगटीकरण के पूर्व की अवस्था होती है, दृश्य की पूर्ण अवस्था होती है, उसी प्रकार यह मध्यमा वाक् चिदाकाश में उत्पन्न होता, व्याप्त होता और सुनाई देता हुआ अपनी पूर्ण अवस्था लिये होता है। यह वैखरी से पूर्ण सादृश्यता रखता है, वैखरी वाक् रूप ही होता है किंतु अन्तर यह होता है, कि इसके वक्ता और श्रोता आप स्वयं ही होते हैं, इसका प्रगट जगत में कोई अस्तित्व नहीं होता है। यह मन की कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से परे की अवस्था होती है और चूंकि इसका प्रगट रूप में कोई अस्तित्व नहीं होता है अतः यह कर्मरहित अवस्था अर्थात् अहंकार रहित अवस्था (अहंकारः कर्ता न पुरुष) होती है। यहं मन में ही स्थित होकर अपने साक्षी स्वरूप को जान लेने की अवस्था होती है, यह अपने सूक्ष्म शरीर रूप से परिचय की अवस्था होती है -

मध्यमा वाक् के प्रथम परिचय के बारे में हम कहेंगे कि - यदि आप यह लिखा हुआ या यह ग्रन्थ मौन रहकर पढ़ रहे हैं, तो इसे पढ़ते हुए मन के भीतर ही सुनिये। यदि आप मौन रहकर इसका पठन नहीं कर रहे हैं, तो परम तत्व को स्मरण करते हुए इसे मौन रहकर पढ़िये और जिस प्रकार आप वेखरी वाक् को स्वयं उच्चारण करते हैं और उच्चारण किया जाता हुआ सुनते हैं, उसी प्रकार मन में ही इसके उच्चारण को पकड़िये तथा स्वयं श्रोता बनकर मन में ही स्थित होकर इसे सुनने का प्रयास कीजिये। यह मध्यमा वाक् चित्त को एकाग्रता में बंधने वाला होता है। अतः एकाग्रता को अपनाकर आप स्वयं ही इसे सुनने में सफल हो जावेंगे। यह मध्यमा वाक् की निम्न अवस्था होती है। सामान्यतः किसी वस्तु की तीन अवस्थाएं मानी

गई हैं। निम्न, मध्य तथा उच्च। किंतु इस वाक् विभाजन में जो कि मूलतः शब्द रूप होकर चार अवस्थाओं में अर्थात् परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में प्रगट होता है। इसी आधार पर यह मध्यमा वाक् भी चार अवस्थाओं में बँटा होता है। सामान्य वस्तु ईंट के आधार पर हम इसकी तीन अवस्थाएँ निम्न, मध्य और उच्च को समझ सकते हैं किंतु जब ईंट को निर्माण कार्य में उपयोग करते हैं तो यह सृजन का आधार बनती है। अपने स्वरूप में वह एक ही होती है। इस सृजन कार्य में ईंट की चार अवस्थाएं स्पष्ट रूप से देखी जाती हैं। अर्थात् निम्न, मध्य और उच्च अवस्था के साथ ही चौथी शीर्ष अवस्था वह अवस्था होती है, जिस पर सम्पूर्ण निर्माण कार्य का अस्तित्व टिका रहता है। ईट का अपने स्वरूप में पूर्ण होने के आधार पर ही इस शीर्ष अवस्था को जाना जा सकता है। जब आप इस मध्यमा वाक् के निम्न स्वरूप को सुन लेते हैं या प्रारम्भिक परिचय प्राप्त कर लेते हैं, तो यह मन में ही प्रवेश करने की अवस्था होती है। आगे की सभी अवस्थाएं परा विधा या अध्यात्म है और यह अध्यात्म विद्या तैत्तिरियोपनिषद् की व्यवस्था और अनुशासन के अनुसार वाणी परम्परा से अर्थात् श्रुत ज्ञान परम्परा से बंधी है। उपनिषद् वाणी कहती है।

''अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररुपम्।
वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्।''

(तैत्तिरियोपनिषद् - १/३/५)

अनुवाद - ''अब अध्यात्म अर्थात् आत्म ज्ञान विषयक संहिता का वर्णन करते हैं नीचे का जबड़ा अर्थातू होंठ पूर्व रूप है, ऊपर का जबड़ा अर्थात् होंठ उत्तर रूप है, वाक् संधि है, जिह्वा संधान है। इस प्रकार यह अध्यात्म संहिता है।'' चूंकि आगे की यात्रा में मार्ग का वर्णन नहीं किया जा सकता है। यह स्वप्न की भिन्नता के अनुरुप ही अपना अस्तित्व रखता है। अतः हम यह कहना चाहेंगे कि यात्रा के आगे के क्रम में श्रीमद्भगवद्गीता में बताये मार्ग का पालन करते हुए इसे प्राप्त कर लेना चाहिये।

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥

(४/३४)

यह अनुभूतियों का साम्य रखते हुए भी पृथक्ता रखता है। अतः यह आत्मस्थ हुए मन की ओर आगे बढ़ना है, जिसकी संज्ञा अपने अंगों को समेटे हुए कछुए - **''यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥''** (गीता - २/५८) ''जब कछुआ अपने सभी अंगों को समेट लेता है'' जैसी होती है। चूंकि यह अवस्था मैदान में पालन किये जाने पर कछुए की मौत का कारण बनती है,

जिसे आत्मघात ही कहा जावेगा। अतः यहाँ लेखनी की वर्जना का पालन किया जा रहा है। यहां हम इतना अवश्य कहेंगे कि जिस प्रकार कि कछुआ अपने समुह में साथ-साथ चलता है किंतु वह पंक्ति रूप में आगे चलने वाले कछुए के पीछे-पीछे पिपीलिका या चीटीं की भांति नहीं चलता है, इसी प्रकार यह अवस्था प्रत्येक व्यक्ति के बुद्धि विकास की अवस्था से जुड़ी होकर समरूपता नहीं रखती है। यदि कछुआ गहरे जल के भीतर है, तो यह अंगों को समेटकर गहरे पैठ जाता है और स्वयं को बचा लेता है किंतु यदि वह खुले मैदान में अर्थात् सांसारिक जगत में है, तो आत्मघात ही करता है अतः यहां मध्यमा वाक् के प्रथम परिचय निम्न अवस्था वाले परिचय को ही मार्ग संकेतक (मील का पत्थर) की भांति इतना ही वर्णन पर्याप्त माना जाता है।

७.७ अब हम मध्यमा वाक् के प्राप्तव्य तथा इसकी उच्चतम अवस्था के बारे में कहना चाहेंगे कि यह प्रसिद्ध शास्त्रोक्ति **"यद ब्रह्माण्डे तद् पिण्डे"** अर्थात् जो इस ब्रह्मांड में है वह इस पिंड अर्थात् देह रूपी शरीर में है, को जानने के लिये प्रवेश द्वार को प्राप्त कर लेने जैसा है। इस अनुभव किये गये तथ्य अर्थात् चिदाकाश अनुभूति के उच्चतम स्तर अर्थात् मध्यमा वाक् के उच्चतम् स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रुति देवी श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहती है -

"यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥"

(६/२०)

अनुवाद - "जब मानव गण आकाश को चमड़े की भांति लपेट सकेंगे तब उन परम देव परमात्मा को बिना जाने ही दुःख समुदाय का अंत हो सकेगा।" यह मध्यमा वाक् को अपनाकर बाह्य आकाश को चिदाकाश रूप में समेटे हुए जान लेना है अतः हमें अवश्य ही इसे उपासना का आधार बना लेना चाहिये, दुःखों की निवृति और परमात्म तत्व की प्राप्ति के लिये। इस उच्चतम अवस्था का बोध प्राप्त कर साधक अवश्य ही जीव तत्व और आत्म तत्व की भिन्नता बताने वाली उस अनुभूति को प्राप्त कर लेता है, जिसका वर्णन करते हुए श्रुति देवी कहती है -

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्लं स्वाद्वच्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नाऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥"

(ऋग्वेद - १/१६४/२०-२१, श्वे.उप. - ४/४/६-७, मुंडकोपनिषद् - २/३/१-२)

अनुवाद - "एक साथ रहने वाले, परस्पर सखाभाव रखने वाले दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष रूपी शरीर का आश्रय लेकर रहते हैं, उनमें से एक तो उस वृक्ष के फलों का स्वाद लेकर भोग करता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है एक ही वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा अपने देह बोध रूपी दीन स्वभाव के कारण मोहित होकर शोक करता है। जब यह अपने से भिन्न आराध्य देव परमेश्वर अर्थात् परम तत्व को प्रत्यक्ष जान लेता है, तब सर्वथा शोक मुक्त हो जाता है।" यह मध्यमा वाक् की उच्चतम अवस्था है, जिसे जानकर ही साधक पश्यन्ती वाक् में प्रवेश करता है या पश्यन्ती वाक् की पात्रता प्राप्त कर लेता है। यह सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्त या आधार तत्व प्रकृति और पुरुष की भिन्नता से परिचय प्राप्त करता है।

७.८ मध्यमा वाक् और वैखरी वाक् में अन्तर तथा इनके भेद का प्रभाव क्या है ? यह स्पष्ट करते हुए हम कहेंगे कि वैखरी वाक् बर्हिजगत से जुड़ा हुआ है। यह जगत को जोड़ने का कारण बनता है, अपरा विद्या का आधार बनता है। यह वाणी की असमर्थता लिये होता है - **"यतो वाचो निवर्तन्ते मनसा सः"**। मन, वैखरी वाक् से जुड़कर स्वयं भी असमर्थ होता है। इन्द्रियों से बंधा होता है, जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में -

"इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।" (२/६०)

अनुवाद - "ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियां यत्न करते हुए बुद्धिमान मन को भी हर लेती हैं।" कहा गया है। मध्यमा वाक् चित्त को अंतर्मुखी बनाता है। यह राग एवं द्वेष से मुक्त करने वाला तथा सुख-दुःख और मान-अपमान से ऊपर उठाकर स्व-स्वरूप का बोध कराने वाला होता है। जैसा किं हमारे द्वारा आरम्भ में ही कहा गया है कि यह नाट्य सभा में मञ्च पर पर्दे के पीछे बैठने जैसा है। इसे ही विस्तार देते हुए हम कहेंगे कि यह प्रगटन के पूर्व ही शब्द को खोज लेना है या उसे मन में ही मन के द्वारा पकड़ लेना है। जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर कहते हैं -

"सबद खोजि मन बस करे, सहज जोग है येहि।
सत्त शब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥"

इस शब्द को जान लेना ही मध्यमा वाक् है। यदि आप इस वर्णन में किये गये संकेतों के आधार पर मध्यमा वाक् से अभी तक परिचित नहीं हो पाये हैं, तो हम कहेंगे कि अक्षर ब्रह्म परम पुरुष के साकार स्वरूप श्रीराम के नाम को अपनाईये। शांत एकाग्रचित्त और स्थिर आसन मुद्रा को धारण करके नेत्रों को बंद करके मन ही मन श्रीराम नाम का उच्चारण कीजिये तथा इसे सुनने का प्रयास कीजिये। जिस क्षण आप परम तत्व के प्रति श्रद्धा

विश्वास और समर्पण भाव रूपी त्रिवेणी में स्नान करने लगेंगे तत्क्षण ही आप इसे पकड़ लेने में, शब्द के अविनाशी स्वरूप को जान लेने में सफल हों जावेंगे। और यह साक्षात्कार रूप में अनुभव होकर जीवन के साथ जुड़ जावेगा। **''माम अनुस्मर युद्ध च''** (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - ८/७) की भांति। यह कार्य में व्यवधान न होकर मार्गदर्शक बन जावेगा। यदि प्रयास के उपरांत भी आप इसे पकड़ नहीं पा रहे हैं, तो निश्चित मानिये कहीं न कही चिन्तन और क्रियात्मक स्वरूप में अन्तर है दैनिक जीवन में। धर्म के साकार स्वरूप श्रीराम के आदर्श का अनुपालन अपने जीवन में कीजिये - ''रामोद्विर्नभिभाषते।'' (वाल्मिकी रामायण - २/१८/३०) राम दो बात नहीं करता अर्थात् कथनी और करनी में भेद नहीं मानता - को जीवन में अपनाईये। सत्य को जीवन से जोड़िये, जिस समय आप इस सत्य से जुड़ जावेंगे तो स्वयं ही कहने लगेंगे संत कबीर की भांति -

''कबीर आपन राम कहि, औरन राम कहाय।
जिहि मुख राम न उचरे, तिहि मुख फेरि कहाय॥''

यह परम तत्व के रहस्य को जान लेना है, उससे जुड़ जाना उसका अंग बन जाना है।

७.९ मध्यमा वाक् कर्म के फल को क्षय करने वाला है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में जो उर्ध्व मूल अश्वत्थ रूपी यह संसार वृक्ष बताया गया है, इसकी जड़ें कर्म एवं फलरूपी सिद्धान्त से जुड़ी हुई है। इसकी जड़ें अत्यन्त गहरी बताई जाकर इनका छेदन या उच्छेदन ''असंग शस्त्र'' द्वारा ही किया जाना बताया गया है -

''न रुपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वस्थमेनं सुविरुढमूलमसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा॥''

(१५/३)

अनुवाद - ''इस संसार वृक्ष का रूप यहां वैसा नहीं दिखाई देता तथा न अन्त और न ही आदि और न ही स्थिति दिखाई देती है। इस अश्वत्थ वृक्ष को जिसके मूल गहरे गये हैं, उसको सुदृढ़ असंग शस्त्र से छेदन करना चाहिये।'' यह असंग शस्त्र मध्यमा वाक् ही है जो कि स्वाभाविक रूप से मन को अपने स्वरूप में स्थित करके विकारों का नाश करता है, हेमन्त ऋतु के पवन द्वारा वृक्ष को पुराने पत्तों से रहित कर दिये जाने और नवांकुरण का कारक होने की भांति। तथा विशुद्ध हुआ मन या विकार रहित हुआ मन बसन्त ऋतु की भाँति विज्ञानमय कोष में प्रवेश कर जाता है उल्लास से परिपूर्ण होकर जिसे पश्यन्ती वाक् अवस्था कहा जाता है। यह अंततः साधक को उसके

सूक्ष्म शरीर का बोध कराता है। इस बोध प्राप्ति के बारे में ही महाभारत ग्रंथ में कहा गया है -

यथात्मनाऽङ्ग पतितं पृथिव्यां स्वप्नांतरे पश्यति चात्मनोऽन्यत्।
श्रोत्रादियुक्तः सुमनाः सुबुद्धिलिंगात्तथा गच्छति लिंगमन्यत् ॥"

(महाभारत, शांतिपर्व - २०२/१४)

अनुवाद - "जैसे स्वप्न में मनुष्य अपने शरीर के कटे हुए अङ्ग को अपने से अलग और पृथ्वी पर पड़ा देखता है, उसी प्रकार दस इन्द्रिय, पांच प्राण तथा मन और बुद्धि - इन सत्रह तत्वों के समुदाय का अभिमानी शुद्ध मन और बुद्धिवाला मनुष्य शरीर को अपने से पृथक् ज़ाने। जो ऐसा नहीं जानता, वही एक शरीर से दूसरे शरीर में जन्म लेता रहता है।" यह मध्यमा वाक् द्वारा सूक्ष्म शरीर का बोध प्राप्त कर लेना है। यह मध्यमा वाक् चित्त को शांत करने वाला है।

७.१० महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा वैखरी वाक् को वाणी का एक अयन कहा है। वैखरी वाक् प्रगट वाक् रूपी अयन है। वाणी के दूसरे अयन में तीनों अप्रगट वाक् आते हैं। मध्यमा वाक् वाणी के दूसरे अयन का एक अंश है, शेष दो अंश पश्यंती एवं परा का वर्णन आगे किया जा रहा है। यह ही है मध्यमा वाक् का परिचय। मध्यमा वाक् का परिचय।

॥हरि ॐ॥
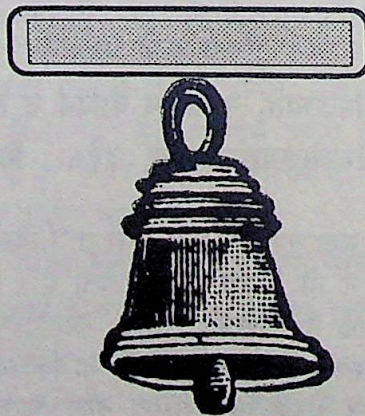
पश्यन्ती वाक्

८.१ पश्यन्ती वाक् क्या है ? यह कैसा है । इस विषय की चर्चा करने के पूर्व हम यह मूलभूत जानकारी या तथ्य प्रगट करना चाहेंगे कि यह समस्त जगत परम तत्व का विस्तार है । परम तत्व का ही लीला रूप प्रागट्य है । खेल के रुप में लीला कर्म है - "लोकवत्तु लीलाकेवल्वम्" (वेदान्त दर्शन - २/१/३५) ।

जिस प्रकार कि कुशल खिलाड़ी कभी भी खेल के मैदान को नही छोड़ता है, उसी प्रकार यह जगत सदैव ही परम तत्व की उपस्थिति से युक्त रहता है । यह उपस्थिति कभी बीज रूप में, तो कभी वृक्ष रूप में होती है । परम तत्व की बीज रूप स्थिति संरक्षण का आधार बनती है । तो वही वृक्ष रूप उपस्थिति हमारे द्वारा अवतार कही जाती है । श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा - जो "संभवामि युगे-युगे" (४/८) कहा गया है । यहां युगे - युगे कालान्तर का बोधक न होकर सतत् उपस्थिति का ही बोध कराता है । यह काल के सातत्य को ही प्रगट करता है । काल का प्रत्येक क्षण एक युग के समान होता है । एक-एक क्षण युग परिवर्तनकारी होता है और इस क्षण-क्षण के विभाजन में प्रत्येक क्षण ही वह परम तत्व यहां मौजूद होता है - "द्रष्टा, भोक्ता और अनुमंता के रुप में" - जिसे अभिव्यक्त करते हुए परात्पर रुप, परम तत्व श्रीकृष्ण स्वयं कहते है -

"अह्म हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ९/२४)

अनुवाद - "मैं परम तत्व ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूं परन्तु जो इस तत्व ज्ञान से वंचित है वे मुझे नहीं जानते ।"

"उपद्रष्टानुमन्त्ता च भर्ता भोक्ताः महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १३/२२)

अनुवाद - "वह परात्पर रुप परम तत्व इस पुरुष देह या मानव देह में स्थित हुआ भी, वह ही है । वह परमात्मा ही इस देह का महेश्वर अर्थात् नियन्त्रण कर्ता होकर उपद्रष्टा अर्थात् मार्ग दिखाने वाला और अनुमन्ता अर्थात् दिखाये

गये मार्ग का अनुसरण करने वाला या अनुसरण करने की अनुमति देने वाला और इस अनुसरण रूप में आजीविका प्रदान करने वाला और स्वयं ही उसके परिणामों को भोगने वाला है। इति - यह ऐसा ही है।'' और ये परम तत्व ही -

''ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया॥''

(श्रीमदभगवद्गीता - १८/६१)

अनुवाद - ''हे अर्जुन, सभी प्राणियों के यन्त्र रूपी शरीर के हृदय में रहकर यह ईश्वर ही अपनी माया से सभी प्राणियों को भ्रमाता है। सभी देहधारी प्राणियों के हृदय में रहता है और शरीर रुपी यन्त्र में आरुढ़ होकर ही समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमाता है। खिलौने की भांति चलाता है।''

८.२ पश्यन्ती वाक् हमें इस देह में स्थित महेश्वर रुप अर्थात् नियन्ता रुप परम तत्व का ही बोध कराने वाला है। जो कि हमारे समस्त कर्मो का उपद्रष्टा, अनुमन्ता और भोक्ता है एवं जो स्वयं ईश्वर है और भोगी भी। ''ईश्वरोऽहमहं भोगी।'' (श्रीमद्भगवद्गीता - १६/१४)

यह आत्म तत्व के अजर-अमर होने का तथा परम पुरुष श्रीकृष्ण के सदैव ही इस जगत में उपस्थित रहने का बोध कराने वाला है, जिसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/१२)

अनुवाद - ''न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, और न तुं ही न था, या यह जन समुदाय नही था (राजागण नही थे) और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।''

८.३ पश्यन्ती वाक् की चर्चा करने से पहले हम कहना चाहेंगे कि जगत का यह समस्त विस्तार परमात्म तत्व के चार गुणों से युक्त है, जिन्हें श्रुति देवी द्वारा छांदोग्योपनिषद् में शिष्य सत्य काम को बताया गया है (छांदोग्योपनिषद् - ४/५-९)। ये चार गुण हैं, प्रत्येक वस्तु का अर्थात् सभी भूत समुदाय और स्थावर जगत का -

(१) प्रकाशवान् होना,

(२) अनन्तवान् होना,

(३) ज्योतिषमान् होना तथा

(४) आयतन वान् होना ।

संक्षेप में इन गुणों से तात्पर्य है - प्रकाशवान् होना अर्थात् प्रत्येक वस्तु का पृथक्-पृथक् पहचान युक्त होना । अनन्तवान् होना अर्थात् अनन्त संख्या में होना, जिस प्रकार कि पीपल के वृक्ष पर लगे हुए पत्ते या कि इस पृथ्वी पर मानव समुदाय अनन्त रूप है, ज्योतिषमान् होना अर्थात् प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना अलग-अलग गुण, धर्म या विशेषता लिये होना और आयतनवान् होना अर्थात् आकृति युक्त या दृश्य और अदृश्य (वायु की भाँति) अस्तित्व से युक्त होना ।

८.४ परम तत्व के ये चारों ही गुण पश्यन्ती वाक् में समाहित होकर स्वयं ही साधक को अपना बोध कराते है । इस बोध प्रक्रिया का वर्णन किया जाना लेखनी की सामर्थ्य से परे है । यह स्वानुभूति का विषय होकर अभिव्यक्ति की सीमा से परे हैं अतः हम इसके अस्तित्व का परिचय देते हुए मात्र यह कहेंगे कि जिस प्रकार वायु अदृश्य होकर भी आयतन रूप एवं गुणवान स्वरूप में पृथक् अस्तित्व से युक्त अनेक रूप जाना जाता है । उसी प्रकार यह पश्यन्ती वाक् भी अदृश्य होकर ध्यान की तुरीय अवस्था में मानस पटल पर या चिदाकाश में जाना जाता है । यह वर्ण रूप में अभिव्यक्त होता हुआ, बाह्य आकाश की भांति ही चिदाकाश में गुंजता हुआ तथा अपने ज्योतिष्मान, प्रकाशवान और अनन्तवान् रूप का बोध कराता हुआ जाना जाता है, आयतनवान् रूप में ही । परम तत्व के इन्हीं गुणों को समाहित करती हुई पश्यन्ती वाक् की चार अवस्थाएं होती है -

(१) शीर्ष अवस्था

(२) उच्च अवस्था

(३) मध्यम अवस्था और

(४) निम्न अवस्था

शीर्ष अवस्था में यह पश्यन्ती वाक् परावाक् से जुड़ा होता है, जिसे परात्पर ब्रह्म या परम तत्व या ज्योतिष्मान स्वरूप या महत् कारण या अक्षर ब्रह्म कहा जाता है । यह परम तत्व के अक्षर रूप के स्फुरण से प्रगट होता हुआ भासता है या अदृश्य से प्रगट होता है स्वयंभू रूप में । यह बुद्धि की पकड़ से दूर होता है । अपनी उच्चावस्था में पश्यन्ती वाक् ऋचा रूप होता है, यह कर्मोद्भव बिन्दु का या कारणोद्भव बिन्दु का बोध कराता है, जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में -

"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ३/१५)

अनुवाद - "कर्म को सर्वाधार नियन्ता रूप ब्रह्म से उत्पन्न होता हुआ जान और इस नियन्ता स्वरूप ब्रह्म का प्रागट्य अक्षर ब्रह्म से होना जान" कहा गया है । यह परम तत्व के कारण रूप का, कर्ता स्वरूप का बोध कराने वाला है । पश्यन्ती वाक् अपनी मध्यम अवस्था में कालजयी ग्रन्थों की रचना का आधार बनता है और निम्न अवस्था में मध्यमा वाक् की भांति ही बोध कराने वाला अर्थात् क्षणिक रूप से चिदाकाश में गुञ्जने वाला, दिखाई देने वाला और लुप्त होने वाला होता है । पश्यन्ती वाक् अपनी शीर्ष अवस्था में परावाक् से जुड़ा हुआ तथा ग्रहणशीलता से परे होता है । ग्रहणशीलता से परे होने वाला यह गुण पश्यन्ती वाक् की उच्च्व अवस्था अर्थात् "ऋचा रूप" के प्रति भी लागू होता है किन्तु बुद्धि की ग्रहणशीलता की उच्च्व सीमा तक यह पकड़ में आने वाला या स्मरण शक्ति आधार पर धारण किये जाने वाला होता है । मध्यम अवस्था में यह बुद्धि द्वारा बोध रूप में ग्रहण किया जाता है, साधक द्वारा अपने साधना क्रम की परिपक्व अवस्था में और निम्न अवस्था वाला पश्यन्ती वाक् चिदाकाश में गूञ्जता है, प्रगट होता है, नटखट बालक की तरह और ओझल हो जाता है, यह मध्यमा वाक् से जुड़ा होता है । मध्यमा वाक् और पश्यन्ती वाक् में अन्तर यह होता है कि मध्यमा वाक् मनः प्रयास से मानस पटल पर अभिव्यक्त होता है, चिदाकाश में गूंजता है और यह पश्यन्ती वाक् स्वयंभू रुप में मानस पटल पर प्रगट होता है और गूंजता है । इसका आधार या उद्भव स्रोत परम तत्व ही होता है । पश्यन्ती वाक् तीनों ही अवस्थाओं में - उच्च्व, मध्य, और निम्न अवस्थाओं में मानस पटल पर प्रगट होता है और गूंजता है । इसका आधार या उद्भव स्रोत परम तत्व ही होता है । पश्यन्ती वाक् तीनों ही अवस्थाओं में - उच्च्व, मध्य और निम्न अवस्थाओं में मानस पटल पर दिखाई देने वाला, चिदाकाश में गुञ्जने वाला और लुप्त होने वाला एवं कभी-कभी देवी भगवती की कृपा से या परमात्म तत्व की कृपा, अनुकम्पा से यह खुले नेत्रों द्वारा भी आकाश में गुञ्जता हुआ दिखाई देता है और लुप्त हो जाता है । बाह्य आकाश का यह बोध साधक के संशयों के निवारण हेतु एवं अपने अस्तित्व की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये ही होता है, साधक की या साधना की उच्चतम अवस्था में । अन्यथा यह मानस पटल पर ही प्रगट होता हुआ और चिदाकाश में गुञ्जता हुआ सुनाई देता है । अतः आवश्यकता होती है - इसे प्रगट रूप प्रदान करने की अर्थात् लेखबद्ध कर लेने की । यदि इसे तत्काल ही लेखबद्ध न किया जावे तो यह स्मृति के धरातल पर मात्र

अपना सांस्कृतिक स्मृति चिह्न छोड़कर पूर्णतः ही लुप्त हो जाता है, अस्तित्वहीन हो जाता है। हमारी सभी वैदिक ऋचाएं साधना के उच्चतम धरातल पर महान् ऋषियों द्वारा प्रत्यक्ष बोध द्वारा प्राप्त की जाकर इन्हें अपनी पकड़ के अनुसार लिखा है। यह ही कारण है कि वेद ग्रन्थों में अनेक सुक्त आये है, कुछ कम ऋचाओं वाले तो कुछ विस्तार पूर्ण और अपनी इसी बोधक्षमता के आधार पर ऋषिगण वैदिक ऋचाओं के द्रष्टा कहे गये है, रचनाकार नहीं। धारणा शक्ति के अनुसार ही यह वेखरी रूप धारण कर लेता है, पश्यन्ती वाक् जो मस्तिष्क में प्रगट होता है तथा इसका द्रष्टा या श्रोता साधक स्वयं होता है, इसकी अनुभूति को स्मृति में धारण करके प्रगट कर देने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन आवश्यक होता है। मानव शरीर में वीर्य तत्व या ओजस तत्व ही स्मृति का आधार बनता है। यदि साधक ब्रह्मचर्य का पालन करता है, तो वह इस पश्यन्ती वाक् को पकड़ लेने अर्थात् धारण कर लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है अन्यथा पश्यन्ती वाक् प्रगट होकर तथा अनुभव होकर भी साधक के लिये दिवास्वप्न बन जाता है। यह चित्त की एकाग्र दशा या शान्त दशा के समान हो जाने के साथ ही लुप्त हो जाता है, स्मृति से चला जाता है, जिस प्रकार स्वप्न विस्मृत हो जाता है। यहां हम पुनः कहेंगे कि स्वप्न और पश्यन्ती वाक् में अन्तर है। स्वप्न निद्रा से जुड़ी हुई अवस्था है जबकि पश्यन्ती वाक् का अनुभव जागृत-चेतना की उच्चतम अवस्था है। स्वप्न की दृश्यावली में कोई पूर्व निश्चितता तथा तारतम्य नहीं होती है, जबकि पश्यन्ती वाक् एक तारतम्यता, एक आधार, एक निश्चित स्वरूप और एक नियन्ता विषय को लिये होता है। अब हम पश्यन्ती वाक् को समझने तथा स्पष्ट करने के लिये इसकी विस्तार से चर्चा करेंगे।

८.५ सर्वप्रथम हम अपने शब्द सामर्थ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार शब्द की नाव द्वारा गङ्गा नदी के प्रवाह को पार नहीं किया जा सकता या कि शब्दों के द्वारा तैरना नही सीखा जाता, उसी प्रकार का हमारा यह वर्णन है किन्तु जिस प्रकार शब्द जानकारी के आधार पर नाव को जाना जा सकता है तथा नाव का निर्माण किया जा सकता है या तैरते समय शब्द आधारित जानकारी का आश्रय लिया जाकर प्राण रक्षा की जा सकती है, उसी प्रकार हमारी यह अपरा वाणी या वाक् के अपरा स्वरूप वेखरी वाक् से जुड़ी यह लेखनी परात्पर स्वरूप से स्फुरित होने वाली पश्यन्ती वाक् का बोध कराने में असमर्थ है। इसका वास्तविक स्वरूप तो स्व-अनुभूति आधार पर ही जाना जा सकता है तथापि हम स्व-कल्याण हेतु - "स्वान्तः सुखाय" इसे अभिव्यक्त करने या संकेतों को प्रगट करने का प्रयास करेंगे। "माँ शारदा

हमारी मदद करें, यह प्रार्थना है। परम तत्व के इस प्रागट्य अवसर पर।''
अस्तु।

८.५ (१) सर्वप्रथम हम मध्यमा वाक् तथा पश्यन्ती वाक् अवस्था में भेद एवं पश्यन्ती वाक् को समझने के लिये या आराधना के क्रम में उसे जानने के लिये कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार छोटा बालक यन्त्र चालित खिलौना प्राप्त कर आनन्दित होता है और उसके साथ खेल कर मनोमय ही हो जाता है किन्तु कालान्तर में बुद्धि के विकास की उच्च अवस्था को प्राप्त कर वह उस खिलौने के क्रियात्मक स्वरूप को जानना चाहता है, भले ही उसके लिये
उसे खिलौने के क्रियात्मक स्वरूप को जानना चाहता है, भले ही उसके लिये
हम कहेंगे कि यह स्वयं बुद्धि की अवस्था या बुद्धि का स्वरूप ही है। अतः इसकी प्रथम आवश्यकता या अनिवार्यता है - प्रगट और अप्रगट आचरण में भी धैर्यवान्, श्रद्धावान्, समर्पणवान् और कर्मशील बनने की, बने रहने की। यह ही वह चार गुण है, जो आत्मबोध का आधार बनकर अक्षर ब्रह्म का या परावाक् का बोध कराते है तथा पश्यन्ती वाक् से जुड़ जाने का कारण बनते है -

(१) हम जितने धैर्यवान् होंगे अर्थात् बुद्धि के गुण धैर्य को जीवन में अपना लेवेंगे और इस धैर्य के लिये आदर्श रुप में कुल गुरु महर्षि वशिष्ठ का धैर्य रूपी आदर्श अपना लेवेंगे, उतना ही हम दृढ़ होंगे, अपने चिंतन और धारणा के प्रति।

(२) हम जितने श्रद्धावान् होंगे अर्थात् विचारों और धारणा के प्रति संशय रहित बनेंगे अपने क्षेत्र में, श्रीमद्भगवद्गीता में बताई गई स्थिति -

''अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - ४/४०)

अनुवाद - ''विवेक हीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य अपने पथ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशय युक्त मनुष्य के लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'' को जानकर परम तत्व के प्रति श्रद्धावान् और विश्वासी होंगे तो यह श्रद्धा ही हमारा बोध प्राप्ति का आधार बन जावेगी - ''श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं'' (श्रीमद्भगवद्गीता - ४/३९) और हम पश्यन्ती वाक् का बोध प्राप्त कर सकेंगे तथा इस रहस्य को जानकर आत्म तत्व के ज्ञाता बन जावेंगे। यह शरीर 'भृंगी न्याय' (भ्रमर न्याय) के अनुसार ही उत्कृष्टता प्राप्त करता है। यह शरीर श्रद्धा से ही बन्धा हुआ है -

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १७/३)

अनुवाद - "यह पुरुष श्रद्धामय है इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है ।" अतः हमें अपने लक्ष्य के प्रति श्रद्धावान् बने रहना चाहिये - (३) समर्पणवान् होंगे अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता में परम पुरुष श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये उपदेश -

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ९/२२)

अनुवाद - "जो अनन्य भाव से मेरे में स्थित हुए भक्तजन मुझ परम तत्व को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते है, उन एकीभाव से नित्य ही मेरे में स्थित रहने वाले पुरुषो का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ ।" को जीवन में अपना लेंगे तथा ...

(४) कर्मशील होंगे अर्थात् अपने नियत कर्म को अपनाते हुए "नियतं कुरु कर्म" (श्रीमद्भगवद्गीता - ३/८) अर्थात् स्वधर्म को ही अपना लेवेंगे - "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" (श्रीमद्भगवद्गीता - ३/३५) तो यह कर्म ही हमारी सिद्धि का आधार बन जावेगा ।

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १८/४५)

अनुवाद - "अपने-अपने कर्म में लगा हुआ पुरुष लक्ष्य रूपी सिद्धि को प्राप्त कर लेता है" और हम राजा अश्वपति या विदेहराज जनक की भांति ज्ञान और कर्म दोनों ही क्षेत्र में बोध प्राप्त कर लेवेंगे -

"कर्मणेव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ३/२०)

अनुवाद - "राजा जनक आदि (अश्वपति नरश्रेष्ठ) द्वारा कर्म को अपना कर ही सिद्धि को प्राप्त हुए है" की भांति कर्मशील होना तथा इसके साथ ही समर्पणवान्, श्रद्धावान् और धैर्यवान् होना ही सिद्धि प्रदाता बनता है, सभी के लिये -

"यतः प्रकृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १८/४६)

अनुवाद - "जिस परमात्मा से सभी चर और अचर भूत समुदाय उत्पन्न हुआ है और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है, उस परमात्मा की अर्चना अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा करके यह मानव सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।" इस जगत में मानव की उत्पत्ति कर्म करने के लिये ही हुई है। (मीमांसा दर्शन) इस प्रकार कर्म को हम निःसंग भाव से जितना अपनायेंगे। उतनी ही शीघ्रता से इस बोध यात्रा की दूरी को जल्द पूरा करने वाले होंगे। हमें स्मरण रखना चाहिये कि यहां बालक और खिलौने वाली भिन्नता नहीं है। यहां दृष्टा और बोध प्राप्त करने वाले आप स्वयं है। द्रष्टा होने के लिये दक्षता भी आवश्यक होती है। अतः ग्रहणशीलता के लिये उपरोक्त गुणों को अपनाकर ही हम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।

८.५ (२) पश्यन्ती वाक् अपने स्वरूप में क्या है ? यह स्वानाभूति के आधार पर समझने के लिये प्रारम्भिक तथा आधारभूत जानकारी देने के लिये आवश्यक है कि हम श्रीरामरक्षास्तोत्र का पाठ करते हुए, इसमें अभिव्यक्त शब्दावली -

"आदिष्टवान्यथा स्वप्ने रामरक्षामियां हरः।
तथा लिखितवान्प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिकः ॥"

(श्रीरामरक्षास्तोत्र - १५)

अनुवाद - "श्री महेश्वर (हर) ने स्वप्न में इस रामरक्षा का जिस प्रकार आदेश दिया था या बोध कराया था, उसी प्रकार प्रातःकाल जागने पर प्रबुद्ध (उच्च साधक) ऋषि बुधकौशिक ने इसे लेखबद्ध किया" को खोजकर इसका आशय समझने का तथा सम्पूर्ण रामरक्षा स्तोत्र की भाव सम्प्रेषणता को जानने का प्रयत्न करें। (परिशिष्ट 'क' की मदद लें) मार्ग दर्शन रूप में हम कहेंगे कि यदि यहां बताई गई स्वप्न अवस्था को अभिव्यक्ति की सुविधा के लिए तथा बोधगम्यता के लिए स्वप्नावस्था कहा गया है अतः इसे यदि हम तुरीय अवस्था को बोध मान लेगें तथा श्रीराम को निराकार परात्पर ब्रह्म का साकार स्वरूप एवं उपदेष्टा महेश्वर (हर) को स्वयं का ही साक्षी स्वरूप 'शिवोऽहं अनुभूति को" आधार मानते हुए मान लेगें तो हमारे लिए पश्यन्ती वाक् की गूढ़ता को समझ लेना आसान हो जावेगा।

८.५ (३) पश्यन्ती वाक् को समझने में - पुराणों में तथा धार्मिक कथाओं में उपयोग की गई शाब्दिक पदावली - "आकाशवाणी हुई" या "ब्रह्मगिरा भई गगन गम्भीरा" (श्रीरामचरितमानस - ७/११४/५) हमारी मदद करती है। यदि हम इस पदावली का मात्र शाब्दिक नहीं लेगें, तो इसके नियन्ता स्वरूप को जानने और समझने में सफल हो जावेंगे। क्योंकि इस पदावली का शब्द

शक्तियों पर आधारित अर्थ न लेकर इसे भावभूमि पर ग्रहण करना चाहिये। यदि हम इसे भावभूमि पर ग्राह्य बनावेंगे तो पश्यन्ती वाक् के वास्तविक स्वरूप का बोध प्राप्त करने में सफल हो जावेंगे।

८.५ (४) पश्यन्ती वाक् के परिचय के लिये हम आगे कहेंगे कि मध्यमा वाक् के अंतिम छोर पर पहुंचकर मन अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर अपना विलय बुद्धि में ही कर देता है अर्थात् परमात्म तत्व के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है, तो नीरवता की अवस्था में अनहद नाद सुनाई देता है। यह नाद साधक की स्वयं की कोई भी परिचित वाद्य ध्वनि होती है किन्तु इसका प्रगट स्रोत कहीं भी दिखाई नहीं देता है। यह इतना विस्मयजनक और आश्चर्य बोधक होता है कि यह सुनाई तो देता है चिदाकाश में किन्तु यह सर्वत्र ही व्याप्त होता है। साधक इसे बाह्य आकाश में भी व्याप्त हुआ पाता है। वह अपनी इस उच्च मनोभूमि में ही स्थिर रहता हुआ, इसके स्रोत या उद्गम को अपने आस-पास और बाहर खोजना चाहता है। वह तल्लीन हुआ ही इसके आधार को बाहर खोजने लगता है। उसे चेतनावस्था में भी यह नाद सर्वत्र गूंजता हुआ सुनाई देता है, और अपनी बाहर लौटी हुई चेतना में यह दिव्य नाद अपने उद्गम का आधार जागतिक धरातल पर कोई भी विषय वस्तु या आधार वस्तु बताता हुआ लुप्त हो जाता है। इस आधार का ध्वनि उत्पत्ति से कोई लाक्षणिक सम्बन्ध भी नहीं होता है अन्तः मस्तिष्क या चिदाकाश और बाह्य चेतना में भी जो यह सर्वत्र गूंजता हुआ सुनाई देता है और बाहर खोजे जाने पर जो यह अपना स्थिर आधार बताता हुआ आरम्भ में प्रथमानुभूति कराता हुआ लुप्त हो जाता है - अपनी इस खोज के आधार पर ही यह पश्यन्ती वाक् कहा जाता है तथा अपने लुप्त हुए बिन्दु के - स्थिर रूप आधार पर यह प्रत्यक्ष रूप से जो अपनी उत्पत्ति को अन् + आहत् अर्थात् क्रिया या कम्पन रहित बताता है, इसी आधार पर यह नाद अन् + आहत् या अनहद नाद कहा जाता है। यह प्रथम परिचय होता है, हमारा पश्यन्ती वाक् या अनहद नाद से। इस नाद का श्रोता साधक स्वयं होता है। वह बाहर खोजते हुए भी इसे सुनता है किन्तु उसके समीप ही खड़े व्यक्ति के लिये यह पकड़ से बाहर होता है। साधक का सामान्य अवस्था अर्थात् सामान्य चेतना युक्त होना ही इस दिव्य अनुभूति को अनहद नाद होना मानने का कारण बनता है। साधक क्षिप्त अवस्था में ही यह नाद सुनता है। इस अनुभूति के बाद तो साधक अपनी इस दिव्यानुभूति को समेटे हुए, इस उच्चावस्था में स्थिर रहते हुए भी बाहरी जागतिक धरातल पर अपनी सामान्य स्थिति को बनाये रखता है। वह जागृतावस्था और कर्मरत अवस्था में भी इसे सुनता है। चित्त की एकाग्रता के आधार पर वह जब चाहे

सुनता है, चौबीसों घंटे और कर्मरत बना रहता है, जगत में सामान्य चेतना सम्पन्न व्यक्ति की तरह या सन्त कबीर की भांति ही। यह नाद श्रवण ही परम तत्व की व्यापकता का तथा रसमयता का बोध कराता है, ज्ञान प्राप्ति का आधार बन जाता है -

"अनहद बाजे नीझर झरै, उपजे ब्रह्म गियान।
अविगत अंतरि प्रगटे, लागे प्रेम धियान॥"

(कबीर साखी - परचा को अंग - ४४)

इस प्रकार मन की विशुद्ध अवस्था में नीरवता के बीच जो दिव्य नाद अन् + आहत् आधार पर सुनाई देता है, इसे जानना तथा इसकी उत्पत्ति का आधार खोजना ही वास्तविक रूप से संज्ञा रूप में पश्यन्ती वाक् होता है तथा इस आधार पर ही पश्यन्ती वाक् कहा जाता है। यह नगाड़े की ध्वनि को सुनते हुए नगाड़े को न पाकर किन्तु नगाड़े का प्रत्यक्ष बोध कर लेने के आधार पर या बांसुरी की धुन को सुनते हुए, बांसुरी को न पाकर किन्तु बांसुरी का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त कर लिये जाने के आधार पर या घंटा ध्वनि को सुनते हुए प्रत्यक्ष रूप में घण्टा स्वरूप को नहीं पाकर किन्तु घण्टा स्वरूप का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त कर लिये जाने के आधार पर ही अन् + आहत् अर्थात् अनहद या पश्यन्ती वाक् कहा जाता है। यह पश्यन्ती अर्थात् साधक गण देखते है, वे सब देखते है, या की शब्दार्थ आधार पर ही बाह्य जगत में प्रगट रूप से देख जाने वाले सभी भारतीय वाद्य यन्त्रों का जन्मदाता रहा है, यह पश्यन्ती वाक् या पश्यन्ती नाद ही। विभिन्न साधकों द्वारा देखे गये, प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किये गये बोध एवं चित्त में प्रगट हुए स्वरूप बोध आधार पर ही नाद के आधार सृजन किये गये हैं।

८.५ (५) यह नाद श्रवण प्रगट रूप से साधक को अपने आत्मस्थ स्वरूप के सर्वात्म रूप का प्राथमिक स्तर पर बोध करा देता है। साधक स्वाभाविक रूप से मुदिता की अवस्था प्राप्त कर लेता है। उसका प्रकृति से सम्पर्क बढ़ जाता है या यों कहे कि वह अपनी आधारभूत जननी, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही जननी प्रकृति देवी से वार्तालाप करने लगता है - घटनाओं और दृश्यों में छिपे संकेतों के आधार पर वह वास्तविक रूप में अपनी जननी प्रकृति देवी को पहचान लेता है, जिसे हमारे द्वारा जन्मभूमि कहा जाता है। प्रकृति से अभिन्नता का यह बोध ही उसे परम पुरुष की खोज में आगे बढ़ाता है। प्रकृति के संकेत या दृश्यों पर आधारित स्वानुभूति आधार पर हुए अर्थबोध के अनुसार यह प्रकृति ही यात्रा में सहायक हो जाती है। जिसे साधक के लिये चेरी (दासी) बनना कहा जाता है। साधक की दूर-दृष्टि बढ़ जाती है, उसे प्रत्यक्ष और

अप्रत्यक्ष का बोध होने लगता है। परम तत्व के अनुशासन से जुड़कर वह उन अष्ट सिद्धियों को क्रमशः प्राप्त कर लेता है, अपनी आत्म उन्नति के लिये जिनका उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में पाया जाता है। ये सिद्धियां साधक को परम तत्व द्वारा अपना बोध प्राप्त करने या स्वयं के स्वरूप को प्रगट करने के पूर्व, उसी प्रकार मिलती है, जिस प्रकार कि अपना विराट रूप दर्शन कराने के पूर्व परमपुरुष श्रीकृष्ण द्वारा अपने शिष्य अर्जुन को दिव्य नेत्र दिये गये थे। इन सब (सिद्धियों) की महत्ता या उपयोगिता को हमें उसी प्रकार जान लेना या समझ लेना चाहिए, जिस प्रकार सियाचीन ग्लेशियर पर जाने वाले या रहने वाले नौजवान सैनिक के लिए उपलब्ध कराई गई सुविधाएँ या समुद्र की अतल गहराई में जाकर खोज करने वाले वैज्ञानिक के लिये उपलब्ध कराये गए उपस्कर और जीवनदायी सामग्री। यदि साधक इनका उपयोग आत्मकल्याण अर्थात् परम तत्व की प्राप्ति हेतु न करके जागतिक आधार पर सुख-सुविधाओं के उपार्जन हेतु या मान-प्रतिष्ठा हेतु करने लगता है, तो यह कालान्तर में लुप्त हो जाती हैं और साधक को पुनः सामान्य किन्तु पतित व्यक्ति बना देती हैं "पुनः मूषको भव" या "पनर्मूषको भव" रूप में।

८.५ (६) शब्दानुसंधान या अक्षर ब्रह्म के स्वरूप को जानने की साधना में शब्द का बोध कराने वाला शिव-पुराण में आया हुआ, यह वर्णन हमारी मदद करने वाला तथा मार्ग-दर्शन करने वाला है। शिव-पुराण में उमा-संहिता के अन्तर्गत भगवान शिव-द्वारा माता देवी पार्वती को लोक कल्याणार्थ कालजय का मार्ग बताते हुए, इसी शब्द साधना का उपदेश दिया है तथा इस पश्यन्ती वाक् अवस्था में सुनाई देने वाले नाद को शब्द ब्रह्म कहा है। वे इसका वर्णन करते हैं कि - यह शब्द ब्रह्म न ॐकार है, न मन्त्र है, न बीज है, न अक्षर ही। यह शब्द ब्रह्म अनहद नाद परम कल्याणमय है। यह शब्द नाद नो प्रकार का बताया गया है :-

(१) घोष नाद - नगाड़े आदि की ध्वनि।
(२) कांस्य नाद - झंकार ध्वनि, झांझ ध्वनि आदि।
(३) श्रृंग नाद - तुरही आदि की ध्वनि।
(४) घण्टा नाद - घण्टा ध्वनि, घुंघरू, पूजा ध्वनि आदि।
(५) वीणा नाद - वीणा, सितार, सरोद, तानपुरा आदि की ध्वनि।
(६) बांसुरी नाद - मुंह से प्राण वायु से बजाई जाने वाली या उत्पन्न नाद ध्वनि।
(७) दुन्दुभि नाद - युद्ध के नगाड़े रूपी विभिन्न वाद्यों का एक साथ सुनाई देने वाला घोष नाद।

(८) शंख नाद - शंख ध्वनि ।
(९) मेघ नाद - मेघ गर्जन ध्वनि रूप नाद, वृषभ नाद आदि ।

यह अनुभूति साधक को एक जैसी न होकर भिन्न-भिन्न होती है । जिस प्रकार दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा स्वप्न में देखा गया राजमहल या जल प्रवाह रूप नदी भिन्न-भिन्न रूप होकर भी एक रूप का बोध कराने वाला अर्थात् राजमहल या नदी ही होती है, उसी प्रकार साधक को सुनाई देने वाला यह नाद, नाद स्वरूप ही होता है । योगीराज भगवान् शंकर द्वारा यह इसका क्रम बताया गया है । साधक जब दृढ़ चित्त होकर शब्द साधना को अपना लेता है, तो इस नाद ध्वनि के साथ ही वह अन्तः चक्षुओं के द्वारा मनः पटल या चिदाकाश में व्याप्त ध्वनि - अनहद नाद के साथ-साथ आकाश स्वरूप को महत् आकाश को भी जानने लगता है और उसे विविध प्रकाश दिखाई देने लगते हैं । श्वेताश्वेतरोपनिषद् में आये वर्णन के अनुसार यह दिखाई देने वाला प्रकाश निम्न नो रूपों में -

(१) कुहरे के सदृश धुंधला प्रकाश आच्छादेत करने वाला ।
(२) धुंए जैसी छटा ।
(३) सूर्य जैसी चमक ।
(४) वायु जैसी नीलिमा अर्थात् स्वच्छ, निर्मल आकाश ।
(५) अग्नि के सदृश्य शक्तिमय, ज्योर्तिमय तेज ।
(६) जुगनु की टिमटिमाहट ।
(७) बिजली की चमक जैसी चकाचौंध ।
(८) स्फटिक मणि जैसा उज्ज्वल पारदर्शी स्वरूप ।
(९) चन्द्रमा जैसा शीतल, आभायुक्त प्रकाश । सर्वत्र फैला हुआ दिखाई देता है । (श्वे. उप. - २/२/११-१२)

यह सभी नाद और सभी प्रकाश परम तत्व के साक्षात्कार से पूर्व की अवस्थाएं है । यह नगर कोतवाल की भांति ही परम तत्व का या परातत्व का बोध कराने वाली हैं ।

८५ (७) अनहद नाद श्रवण और दिव्य प्रकाश का दर्शन यह दोनों ही साधना के क्रम में साथ-साथ चलते हैं । कभी ये दोनों ही क्षिप्रा तट की (अवन्तिका नगरी में बहने वाली नदी के किनारों की) भांति आमने-सामने अर्थात् साथ-साथ सुनाई और दिखाई देते हैं और कभी यह तीव्र बरसात की भांति या कभी फुहार की भांति दृश्य और श्रवण रूप में साथ-साथ बोध कराते हैं, तो कभी ओस कण की भांति नीले आसमान के साथ जुगनु की चमक के साथ या कभी ब्रह्मपुत्र नदी की भांति एक किनारे पर खड़े होकर दूसरे किनारे का अभाव

अर्थात् या तो केवल नाद या केवल प्रकाश और कभी नीले समुद्र के साथ प्रकाश और गर्जन दोनों साथ-साथ जिसे आप सुनना या देखना चाहें उन दोनों में से कोई एक ही साधक को सुनाई या दिखाई देता है। और यह दोनों ही कब - **"यतो वार्चो निवर्तन्ते"** की सीमा को या अवस्था को प्राप्त कर साधक को आनन्द से गद्-गद् और भयभीत करते हुए - **"सगद्गदं भीतभीतः"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ११/३५) परम तत्व के समक्ष उपस्थित कर देवेंगे। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित संकेत नहीं बताया जा सकता है, जैसा कि संत कबीर ने कहा है -

"पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे को सोभा नही, देख ही परमान ॥"

(कबीर साखी -परचा को अंग - ३)

अर्थात् परब्रह्म के तेजस्वी रूप का आंखो देखा वर्णन कैसा है। यह कहने में नहीं आता है, वाणी लड़खड़ाती है अतः शोभायुक्त नहीं है। इसका प्रमाण तो देख लिया जाना ही है।

साधक को धैर्य, लगन और समर्पण को अपनाकर कर्मरत रहते हुए ही सांसारिक धरातल पर सामान्य चेतनायुक्त व्यक्ति बने रहकर जिसे कि परमहंस प्रभु श्रीरामकृष्ण देव द्वारा मूढ़, क्षिप्त और बालक या समझदार साथ-साथ होना कहा है, को साथ लेकर ही अपने यात्रा पथ पर आगे बढ़ना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता में दिये गये उपदेश -

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्यायरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ३/१९)

अनुवाद - "इसलिए तु निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्त्तव्य कर्म को भली-भाँति करता रहा क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ, पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है", को अपना लेना चाहिए।

साधना के क्रम में कदम-कदम पर मार्गदर्शक रूप में लागू होने वाला परमतत्व श्रीकृष्ण का श्रीमद्भगवद्गीता में दिया गया, यह उपदेश हमारा सहायक है।

अथवा बहुनैतेनं किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १०/४२)

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १६/२४)

अनुवाद - "अथवा हे अर्जुन, इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत को एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूं।

"इसलिये तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में (अर्थात् जीवनयापन करते हुए) शास्त्र ही प्रमाण है, यह जानकर तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए कर्म को ही करने के लिये योग्य है।" अतः कर्तव्य कर्म को ही "कूर्मो अंङ्गानीव" की भांति अपना लेना चाहिये" "रामो द्विर्नभिभाषते" की आधार भूमि पर खड़े होकर।

८.५ (८) यदि हम दिव्य पुरुष अर्जुन की भांति आचार्य श्रीकृष्ण का उपदेश मान लेते हैं और कर्मरत ही हो जाते हैं, स्वयं अर्जुन या महाभारत काल के युद्ध के मैदान में ब्रह्म तत्व को जानने वाले भीष्म पितामह या आचार्य द्रोणाचार्य की भांति तो हम काल के बंधन से ही मुक्त हो जाते हैं। मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। शाश्वत युवा, चिर युवा बने रहते हैं, अपनी सामर्थ्य में और उम्र के अंतिम सोपान में भी स्वयं ब्रह्म ही बनकर - "ब्रह्म जानेति ब्रह्मेव भवति" - खेल, खेल रहे होते हैं, इस धरा पर युद्ध के मैदान में भीष्म पितामह की तरह और मजबूर कर रहे होते हैं - ब्रह्म तत्व स्वयं श्रीकृष्ण को भी अपना योद्धा स्वरूप स्मरण करने के लिये, जो छिपकर सारथि बन गया होता है - युद्ध संचालन के लिये। जब हम अपने इस स्वरूप को जान लेते है, तो यह ही प्रज्ञा को प्राप्त कर लेना होता है। जिसके बारे में अर्जुन द्वारा पूछा गया है -

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/५४)

अनुवाद - "हे केशव समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिर बुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है ? वह स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है और कैसे बैठता है और कैसे चलता है ?" यह सर्वाधार नियंता स्वरूप परमतत्व को जानकर उसका ही अंग बन जाना है और जिस प्रकार से घुमाया गया चाक डण्डे के हटा लिये जाने पर भी शेष अवधि के लिये घुमता हुआ, कुम्हार के सृजन कार्य में सहयोग करता हुआ शान्त हो जाता है या बार-बार घुमाये जाने पर भी सहयोग करता है, कुम्हार को अपने कार्य में और फिर शांत हो जाता है,

विश्राम करने के लिये । फिर वह प्रतीक्षा करता है - परम धाम को लौट जाने की शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह की तरह और रोक देता है, मृत्यु को स्वेच्छा मरण के लिये या वह वरण कर लेता है, मृत्यु को आचार्य द्रोणाचार्य की तरह या वह लौटा देता है, मृत्यु को आचार्य शंकर की तरह या वह नियन्ता बन जाता है - अपने मरणोपरान्त स्वरूप का सन्त कबीर या सन्त गुरुनानकदेव की तरह या वह स्वयं को ही लीन कर लेता है, परमात्म तत्व में सन्त मीराबाई या सन्त तुकाराम की तरह या वह सर्वरूप में स्वयं को ही सन्तुष्ट कर रहा होता है, सन्त गुरु तेगबहादुर की तरह, स्वयं मृत्यु को स्वीकार करके और यह मृत्यु बन जाती है -

''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥''

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/२७)

अनुवाद - ''क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है । इससे भी इस बिना उपायवाले विषय में तू शोक करने के योग्य नही है ।'' तथा जिसके बारे में हम मान्यता रखते हैं -

''मृत्यु पर'' दी जाती है सूचना सहमते हुए,
सीधे सपाट शब्दों में, किसी के मर जाने की ।
कड़कती है बिजली कहीं, फूट पड़ता हैं लावा,
धैर्य का, रुदन का या कि असहाय हो जाने का ।
हो जाता है सहज या कि, निर्विकार कोई,
देखता है दृश्य - नदी के, सागर में मिलन का ।
या कि, वृक्ष की साख से फल के गिर जाने का,
जो बन जाता है ''बीज'', कल के सृष्टि विधान का ॥
मृत्यु अर्थ लिये होती है, इस जीवन के लिये ।
मृत्यु अर्थ लिये होती है . . . . ।

साधक अपने जन्म और मृत्यु की श्रृंखला का बोध प्राप्त कर लेता है । वह अपने कारण शरीर का बोध प्राप्त कर लेता है ।

८.५ (९)   अब साधक प्रज्ञायुक्त होकर शेष अवधि के लिये अपने नियत कर्म को ही अपना लेता है, तो यह परम तत्व स्वयं उपस्थित होता है, प्रगट होता है साधक के समक्ष पश्यन्ती वाक् के नियन्ता स्वरूप में जिसे जानकर साधक बन जाता है - कर्म का प्रणेता, राजा अश्वपति या राजा जनक या भीष्म

पितामह या अन्यान्य सन्तों की तरह। यदि साधक कर्म के साथ चिन्तन से जुड़ा रहता है, तो परम तत्व स्वयं ही प्रगट कर देता है, अपनी नियमावली को इस धरा पर लोककल्याण हेतु - ऋचा के रूप में और यह ऋचा ज्ञान अपनी गूढ़ता और नियमन स्वरूप के कारण ज्ञान के प्रकाश का आधार बन जाती है और साथ ही बन जाती है - वेद ग्रन्थों का अङ्ग तथा साधक कहा जाने लगता है - द्रष्टा ऋषि। यह पश्यन्ती वाक् ही बन जाता है - दिव्य वाणी या देवी भगवती श्रुति का कथन या कि आकाशवाणी। जिसके बारे में स्वयं ऋचा कहती है -

"ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्। यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तद्विदुस्त इमे समासते॥"

(ऋग्वेद - १/१६४/३९)

अनुवाद - "जिन ऋचाओं में समस्त देव शक्तियों का निवास है, वे अविनाशी ऋचाएं परम व्योम अर्थात् सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त है। जो मनुष्य उनको नहीं जानता उसके लिये ऋचाएं क्या करेगी ? जो उनको जानते हैं वे इनमें ही सम्यक् रूप से स्थित हो जाते हैं।" यह ही है पश्यन्ती वाक् का प्रगट स्वरूप। पश्यन्ती वाक् का प्रगट स्वरूप।

हरि ॐ तत् सत्

परावाक्

९.१ परावाक् का शाब्दिक अर्थ है - वाणी से परे अर्थात् जिसका वर्णन वाणी या लेखनी द्वारा नहीं किया जा सके, वह ही है परावाक्। इस सम्बन्ध में हम कहेंगे कि जब हम घण्टा ध्वनि को जानकर घण्टा स्वरूप को जान गये हैं और यह भी जान गये हैं कि ध्वनिमय होकर भी घण्टा स्वरूप ध्वनि नहीं हैं। यह अक्षयकोष है, यह अक्षर रूप है - ध्वनि का।

इसी प्रकार जब गङ्गा नदी के प्रवाह को देखकर यह जान लेते हैं कि इसका सतत् प्रवाह हिमालय के हिमाच्छित शिखरों से उद्धृत है और जब हम बद्रीनाथ धाम में नारायण प्रभु के दर्शन करते हुए हिम-शिखरों को देखकर यह जान लेते है कि बर्फ जल से अभिन्न होकर भी जल नहीं है। इस प्रकार इनके अक्षर स्वरूप को जानकर परम तत्व के अक्षर स्वरूप ब्रह्म स्वरूप को जान से गये है, तो हम कहेंगे कि यह परावाक् रूपी सत्य अब ज्यादा दूर नहीं है, जिसे आप स्वयं ही जान लेंगे - स्व-प्रयास से ही।

९.२ यह परावाक् रूपी सत्य लेखनी से परे होकर भी वह ही है, जिसका वर्णन करते हुए महान् सन्त गुरुनानक देव के कहा -

"१ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु।
अकालपूरति अजूनीसैभं गुर प्रसादि॥"

(परिशिष्ट 'ख' देखिये)

और यह परावाक् रूपी सत्य अपने प्रकट स्वरूप में वह ही है, जिसे उपनिषद् वाणी में कहा गया है -

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यन्ते॥"

अनुवाद - "ॐ वह परब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है और यह जगत भी परिपूर्ण ही है, उस पूर्ण परब्रह्म से ही यह पूर्ण जगत उत्पन्न हुआ है, पूर्ण को पूर्ण में से निकाल लिये जाने पर भी वह परम तत्व पूर्ण ही बचा रहता है।" वह परम तत्व परावाक् अक्षर ब्रह्म पूर्ण ही है। वह परम तत्व परावाक् रूप अक्षर ब्रह्म सर्व रूप होकर पूर्ण ही है।

हरि ॐ तत् सत्।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
हरि ॐ॥

॥ॐ॥

परात्मानमेकं जगद्बीजमाद्यं निरीहं निराकारमोंकारवेद्यम् ।
यतो जायते येन विश्वं तमीशं भजे लीयते यत्र विश्वम् ॥

अनुवाद -

जो एकमेव परमात्मा हैं, जगत के आदि कारण हैं, इच्छारहित हैं, निराकार हैं और प्रणव द्वारा जानने योग्य हैं तथा जिनसे सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति एवं पालन होता है तथा जिनमें उसका फिर लय हो जाता है, उन परम प्रभु को मैं भजता हूँ ।

आत्मबोध की यात्रा के मार्ग

परमतत्व अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये हमें अपनी आत्मबोध की यात्रा में तीन प्रकार के मार्ग का सहारा लेना होता है। परम तत्व को प्राप्त करने के मनीषि, ऋषियों द्वारा तीन प्रकार के मार्ग बताये गये हैं। आत्मबोध की यात्रा में ये ही मार्ग सहायक होते हैं। आत्मबोध यात्रा के ये तीन मार्ग क्रमशः

(१) पिपीलिका मार्ग
(२) मीन व: मस्त्य मार्ग तथा
(३) विहंग या पक्षी मार्ग कहे जाते हैं।

१०.२ पिपीलिका मार्ग का अर्थ है - चीटीं की भांति यात्रा करना। चीटीं के चलने की गति एक जैसी होती है, चीटीं अपनी यात्रा में उछलती-कूदती नहीं और न छलांग लगाती है। चीटीं गहनतम खाई में उतरने में सक्षम होती है वहीं ऊँचे शीर्ष स्थान पर भी पहुंच जाती है। पिपीलिका अपनी यात्रा के क्रम में पीछे पद चिह्न भी छोड़ती है। जिससे अनुसरण करने की सुविधा होती है। कोई भी **पिपीलिका मार्ग** को देखकर यात्रा के गन्तव्य को जान सकता है, उसका अनुसरण कर सकता है किन्तु इस यात्रा में पिपीलिका (चीटीं) की यह मजबूरी होती है कि राह में यदि कोई जल प्रवाह आ जावें तो वह उसे पार करने में असमर्थ होती है। जल प्रवाह को हम सांसारिक जगत् की आपदा या विपरित प्रवाह या सांसारिक अवरोध कह सकते हैं। जिस प्रकार पिपीलिका जल प्रवाह को या जल संग्रह के स्थान को पार करने में असमर्थ होती है, उसी प्रकार साधक इस पिपीलिका मार्ग का अनुसरण करते हुए जागतिक धरातल पर बन्धनों के बीच स्वयं को आगे ले जाने में असमर्थ पाता है अतः इस असमर्थता को दूर करने के लिये मनीषियों द्वारा कूर्म मार्ग अपनाने का परामर्श दिया गया है, ऐसी परिस्थितियों में। **कूर्म मार्ग** से तात्पर्य यह है कि - कछुए के समान चलना। कछुआ जल को पार कर सकता है और थल पर भी चल सकता है। कछुआ गहनतम पानी की गहराई को पार कर सकता है और ठहरे हुए जल को भी पार कर सकता है। कछुए की अन्य एक विशेषता यह होती है कि यह विपरित परिस्थितियों में अपने अङ्गों को समेट लेता है। आत्मस्थ होकर यात्रा को ही स्थगित कर देता है, कुछ समय के लिए, यदि

वह धरा पर है तो, और यदि पानी में है तो फिर वह गहरे पैठ जाता है और पकड़ से बाहर हो जाता है। साधना के क्रम में श्रीमद्भगवद्गीता भी हमें कछुए का अनुसरण करने का उपदेश देती है -

''यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥''

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/५८)

अनुवाद - ''जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष सब ओर से अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।'' कछुए का यह उदाहरण साधक को अपनी कर्मेन्द्रियों को और ज्ञानेन्द्रियों को बाहरी विषयों से समेटकर आत्मस्थ हो जाने के लिये दिया गया है। इस प्रकार कछुआ आध्यात्मिक यात्रा में हमारे लिये एक आदर्श हो जाता है। गन्तव्य तक पहुंचने में कछुआ तेज दौड़ने वाले और उछल-कूद करने वाले खरगोश को पीछे छोड़कर पहले पहुंच गया था, खरगोश और कछुए की इस कहानी से हम सभी भली-भाँति परिचित है।

१०.३ कूर्म गति, पिपीलिका गति से साम्य रखती है किन्तु कछुआ अपने भारीपन के कारण गहरी खाइयों में उतरने में असमर्थ रहता है और इसी प्रकार वह पर्वत शिखर चढ़ने में भी असमर्थ होता है। फिर मैदानी यात्रा में कछुआ कोई पद-चिह्न भी नहीं छोड़ता है। कछुए के लिये अनुसरणकर्ताओं की कमी होती है। अतः विपरित परिस्थितियों में कछुए का अनुसरण करके पिपीलिका मार्ग को ही अपनाने का निर्देश आध्यात्मिक यात्रा में साधक को दिया जाता है। पिपीलिका मार्ग और कूर्म मार्ग का मिला-जुला यह यात्रा-पथ अन्नमय कोष से प्राणमय कोष को पार करते हुए मनोमय कोष तक की यात्रा में सहायक होता है।

१०.४ (१) आत्मबोध की यात्रा का दूसरा मार्ग **मत्स्य मार्ग या मीन मार्ग** कहा जाता है। मीन अर्थात् मछली पानी में तैरती या चलती है किन्तु इसके कोई पद-चिह्न देखने को नहीं मिलते हैं। मछली का गुण होता है प्रवाह की विपरित दिशा में आगे बढ़ना। विपरित परिस्थितियों में पिपीलिका अर्थात् चीटीं आगे नहीं बढ़ पाती है और कछुआ अपने अङ्गों को समेटकर स्थिर हो जाता है किन्तु मछली अपने पद-चिह्नों को छोड़े बगैर ही प्रवाह के विपरित दिशा में अर्थात् जलधारा के उद्गम स्रोत की ओर आगे बढ़ती जाती है। मछली का यह गुण आत्मबोध की यात्रा में मन को अन्तर्मुखी करने अर्थात् **मनोमयकोष** की यात्रा को पूर्ण करने में सहायक होता है। यह समस्त जगत एकमेव ब्रह्म का विस्तार है। अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार की प्रक्रिया में हमारा गन्तव्य विस्तार

से मूल की ओर अर्थात् प्रवाह से उद्‌गम की ओर बढ़ना है, उसी प्रकार साधक को भी अपनी दशेन्द्रियों तथा उनके स्वामी मन की बहिर्मुखता को परिवर्तित कर उन्हें अन्तर्मुखी बनाकर, उन्हें इस दिव्य सत्ता के केन्द्र बिन्दु की ओर ले जाना होता है। आत्मबोध की यात्रा के क्रम में मीन मार्ग से हमारी यह पहली समानता होती है। आत्मबोध यात्रा की दूसरी समानता है - यात्रा के क्रम में कोई पद चिह्न नहीं छोड़ना। मन जब बहिर्मुखी होकर जगत के धरातल पर कार्य करता है, तो इसके चिह्न तथा लक्षण दृष्टिगोचर होते है किन्तु जब मन अन्तर्मुखी होकर आत्मतत्व की ओर आगे बढ़ता है, तो इसके कोई चिह्न दिखाई नहीं देते हैं, मछली द्वारा की जाने वाली यात्रा की भांति ही। मछली जल में रहकर भी जल में लिप्त नहीं होती है, कमल के पुष्प और पत्तियों की भांति इस प्रकार मन की अन्तर्मुखी यात्रा मछली की यात्रा से सादृश्यता रखती है अतः आत्मबोध की यात्रा का दूसरा मार्ग होता है - **मत्स्य मार्ग**। जिसे मीन मार्ग भी कहा जाता है। यह मनोमय कोष में स्थित मन को आत्म तत्व की ओर ले जाने में सहायक होता है। मन के विज्ञानमय कोष में प्रवेश करने के लिये सहायक होता है।

१०.४ (२) महाभारत ग्रन्थ के शांतिपर्व में आए निम्न वर्णन मत्स्य मार्ग को स्पष्ट करने वाले हैं -

न चोदकस्य स्पर्शेन मत्स्यो लिप्यति सर्वशः।

(३१५/१४)

पानी के स्पर्श से कभी कोई मत्स्य लिप्त नहीं होता है।

"न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर्जानदर्शिभिः।
मत्स्यश्चैकमन्वेति प्रवर्तेत प्रवर्तनात ॥"

(३१८/७४)

अनुवाद - तत्वदर्शी ज्ञान के जिज्ञासु मनुष्यों को चाहिए कि वे इस चौबीस तत्वों से निर्मित्त शरीर जगत को आत्मभाव से ग्रहण न करें। जैसे मत्स्य जल का अनुसरण करता है परन्तु अपने को पानी से भिन्न ही मानता है, उसी प्रकार मनुष्य उसकी प्रवृत्ति के अनुसार स्वयं भी प्रवृत्त होवे परन्तु प्रकृति को अपना स्वरूप न माने।

"यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः।
तदा स केवलीभूतः षडविंशमनुपश्यति ॥"

(३१८/७७)

जब साधक (द्विज) इस बात को समझ लेता है कि मैं अन्य हूं और यह प्रकृति शरीर या यह दृश्य जगत मुझसे सर्वथा भिन्न है, तब वह

प्रकृति के संसर्ग से रहित होकर छब्बीसवें तत्व परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

१०.५ आत्मबोध की यात्रा के लिये तीसरा मार्ग **विहंग मार्ग या पक्षी मार्ग** कहा जाता है। मीन मार्ग की भांति पक्षी मार्ग का भी कोई पद चिह्न हमें आकाश में दिखाई नहीं देता है।

"शंकुनामिवाकाशे मतस्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्यते तथा ज्ञानविदां गतिः ॥"

(महाभारत, शांतिपर्व - ८१/१९)

अर्थात् "जिस प्रकार आकाश में पक्षियों के और जल में मछलियों के चरण चिह्न नहीं दिखाई देते, उसी प्रकार ज्ञानियों की साधना की गति का पता नहीं चलता है।" पक्षी नीले आसमान में यात्रा करते हैं, वे मुक्त होते हैं। इसी प्रकार आत्मस्थ हुआ मन मुक्त होता है वह ध्यानस्थ होकर अन्तर्जगत् की यात्राएं कर रहा होता है या कभी बाह्य जगत् के आश्रय बिन्दु को लेकर भ्रमण कर रहा होता है। मन की इन यात्राओं का विहंग मार्ग या विहंग यात्रा से साम्य होता है। पक्षी रात्री में मानव बस्ती के पास आकर किसी पेड़ पर विश्राम करते हैं और प्रातः अपनी यात्रा पर उड़ जाते है तथा सायंकाल होने पर पुनः लौट आते हैं। इस प्रकार साधक का मन जब विज्ञानमय कोष में प्रवेश करता है, तो वह मनोमय कोष का आश्रय लिये होता है। अन्तर्जगत् की यात्रा में मन की यात्रा का एक छोर मनोमयकोष होता है, तो दूसरा आनन्दमय कोष। विज्ञानमय कोष तो परम तत्व के विराट् स्वरूप की जानकारी का विशाल क्षेत्र होता है। नीले आसमान और इसमें की जाने वाली यात्राओं के अनुभव को ही नेति-नेति कहा जाता है। जिस प्रकार पक्षी प्रातः अपनी यात्रा पर निकलकर आनन्दित होकर सायंकाल को वापस लौट आता है। उसी प्रकार साधक का मन परम तत्व का साक्षात्कार करके या उसके विराट् स्वरूप का बोध प्राप्त करते लौटता है। वह इस प्रकार सदैव आनन्दमय जगत् में ही विचरण करता है। विज्ञानमय कोष की यात्रा तथा आनन्दमय कोष में स्थित रहकर भी मन मनोमय कोष के सम्पर्क सूत्र से जुड़ा होता है। यह जुड़े रहना ही साधक के लिये जागतिक धरातल पर टिके रहने का आधार होता है। मन के नीले आसमान में उड़कर पक्षी की भाँति सीधे लक्ष्य तक पहुंचना और लक्ष्य को प्राप्त करके वहां पक्षी की भांति ही विश्रामरत् होकर भली-भाँति फलों का रसास्वादन कर, पक्षी की भाँति ही लौट आने की साम्यता के आधार पर ही आत्मबोध की यात्रा का तीसरा मार्ग **विहंग मार्ग** कहा जाता है।

१०.६ पिपीलिका मार्ग और मत्स्य मार्ग की यात्रा में जिस प्रकार कछुए का उदाहरण एक आदर्श के रूप में दिया जाता है तथा कूर्म मार्ग को आदर्श रूप में अपनाने का निर्देश होता है, उसी प्रकार विहंग मार्ग का आदर्श होता है - **श्येन पक्षी** । ध्यानस्थ अवस्था में जब कि मन आत्मस्थ हो जाता है, तो यह अवस्था समाधि अवस्था होती है । मन की इस अवस्था की तुलना श्येन पक्षी से की जाती है । श्येन पक्षी के बारे में प्रसिद्ध है, कि इस पक्षी का कहीं घोंसला नही होता है । यह आकाश में अति उच्च होकर उड़ता है तथा इस भूमंडल को देखता है । वहीं से देखकर अपने आहार को पृथ्वी पर पड़ा हुआ पाकर ये नीचे उतरता है और आहार प्राप्ति के बाद पुनः ऊंचा उड़ जाता है । इसका आधार तो धरा अर्थात् पृथ्वी तल होता है किन्तु निवास नीलाम्बर ही बना रहता है । वाल्मिकी रामायण में पक्षी राज जटायू तथा सम्पाति को श्येन पक्षी होना अर्थात् श्येन जाति का पक्षी होना बताया गया है । प्रसिद्ध है कि सन्तानोत्पत्ति हेतु यह पक्षी संसर्ग धरा पर ही करता है किन्तु सन्तानोत्पत्ति हेतु धरा पर उतरना आवश्यक नहीं समझता । यह नीले आसमान में ही अति उच्च ऊंचाई पर उड़ते हुए आसमान में ही अंड़े दे देता है । अंडा नीचे गिरता है । नीले आसमान से गिरता हुआ अंडा जमीन से टकराकर फूट जावे, नष्ट हो जावे इसके पूर्व ही अंडे में बसा हुआ जीव अपने बन्धन को तोड़कर अर्थात् नन्हा श्येन पक्षी अंडे को फोड़कर बाहर निकलता है और आसमान में ही उड़ने लगता है । इस प्रकार नष्ट होने के पूर्व ही वह मुक्त हो जाता है । बच्चे के बाहर निकलने से अण्डे का खोल टूटता है, टूकड़े हो जाता है और ये टूकड़े नीचे गिरते हुए हवा के घर्षण के कारण आंसमान में ही छिन्न हो जाते हैं । धरा पर गिरने तक इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । श्येन पक्षी का ऊंचे आसमान में उड़ना, आसमान में ही रहना तथा उसके द्वारा दिये गये अण्डे और उससे उत्पन्न होने वाले बच्चे अर्थात् नवजात शिशु श्येन पक्षी द्वारा पुनः आसमान की ऊंचाईयों को प्राप्त कर लेने की अर्थात् जन्म लेकर नवजात श्येन पक्षी का अपने माता-पिता के पास पहुंच जाने की यह कथा रूपक कथा के रूप में उपयोग की जाती है, अध्यात्म जगत् में तथा इसके आधार पर मन की मुक्तावस्था को समझा जाता है या मन की मुक्तावस्था का वर्णन किया जाता है । समाधि अवस्था में मन के द्वारा की जाने वाली यात्राओं और प्राप्त किये जाने वाले बोध को इसी प्रकार हम जानें ।

१०.७ ऐतरेयोपनिषद् में ऋषि वामदेव को गर्भावस्था में ही आत्मबोध होने तथा परिणाम स्वरूप जन्मों के बन्धन (चौरासी लाख योनियों के जन्म बन्धन) से मुक्त होने का वर्णन मिलता है । **"श्येनो जनसा विरदीयमिति"** अर्थात् श्येन

पक्षी की भाँति वेग से सभी जन्मों के बन्धनों को तोड़कर अलग हो गया हूँ। (ऐतरेयोपनिषद् - २/१/५-६) इसमें आसमान से गिरते हुए अण्डे की भाँति गिरकर नष्ट होने के पूर्व ही, होने वाले बोध तथा अण्डा फोड़कर मुक्त हो जाने वाले श्येन पक्षी की भांति ही ऋषि वामदेव का मुक्त हो जाना बताया गया है। सन्त परमहंस श्रीरामकृष्ण देव द्वारा भी अपनी चर्चाओं में श्येन पक्षी का वर्णन किया गया है। श्येन पक्षी का उदाहरण प्रतीक रूप में दिया जाता है। यह समाधि अवस्था में स्थित मन की अवस्था को अभिव्यक्त करने का आधार बनता है। समाधिस्थ मन जब विज्ञानमय कोष में होता है, तब वह परम तत्व के विराट् स्वरूप, सम्पूर्ण सृष्टि के एकमेव सृजनकार, पालनहार और लयकार के सानिध्य में होता है, रहस्यों की मंजुषा लिये होता है। एक-एक करके यह रहस्य मन के समक्ष प्रगट होते हैं, उपस्थित होते हैं। श्येन पक्षी की भांति नीले आसमान में अत्यन्त ऊंचाई पर उड़ते हुए मन विचरण कर रहा होता है, ऐसे में रहस्य का प्रगटन - श्येन पक्षी द्वारा दिये गये अण्डे की भांति ही होता है। इस रहस्य से जुड़कर मन इसके सार को पाना चाहता है, समझना चाहता है और गिरते हुए अण्डे से जिस प्रकार नन्हा श्येन पक्षी प्रगट होकर पुनः उड़ने लगता है और अपने स्वभाव के अनुसार ही यह पक्षी आसमान की ऊंचाईयों को प्राप्त कर लेता है, अपने माता-पिता के पास पहुंच जाता है। उसी प्रकार साधक का मन अण्डे से प्रगट हुए पक्षी की भांति अपनी अनुभूति के सारतत्व का बोध प्राप्त कर पुनः ध्यानस्थ ही हो जाता है, समाधिस्थ ही बना रहता है, जिस प्रकार श्येन पक्षी द्वारा दिये गये अण्डे के कोई चिह्न बच्चे के प्रगट होने पर धरा तक आने पर शेष नहीं रहते, उसी प्रकार समाधिस्थ मन द्वारा अनुभव किये गये बोध का कोई प्रगट लक्षण जागतिक धरातल पर देखने को नहीं मिलता है तथा शरीर की जड़ता से बन्धा हुआ मन अपनी मुक्तावस्था का बोध प्राप्त कर लेता है, मुक्त ही हो जाता है और अपने परम निवास स्थान को प्राप्त कर लेता है। मन की इस श्येन पक्षी की भांति प्राप्त की गई मुक्तावस्था को **सन्त कबीर** द्वारा - "हद छाँड़ि बेहदि गया" कहा गया है तथा इस अनुभव या बोध प्राप्ति को मोती चुगना - "कबीर मन हंसा भया, मोती चुगी-चुगी खात" कहा है। मन की यह मुक्त अवस्था होती है, जहां पंच तत्व का कोई बन्धन नहीं होता है, न इनके गुणों का संसर्ग ही। आत्मस्थ मन आत्मा होकर स्वयं आत्मतत्व को ही जान रहा होता है। सन्त कबीर की यह साखी इस अवस्था का संकेत करती है -

"धरती गगन पवन नहि होता, नहीं तोया नहि तारा।
तब हरि हरि के जन हते, कहे कबीर विचारा॥"

(कबीर साखी - परचा को अंग -२७)

विहंग मार्ग को अपनाते हुए समाधिस्थ मन या ध्यानस्थ मन किस सीमा तक यात्रा करे, इसका स्पष्ट उल्लेख महर्षि वाल्मिकी द्वारा रामायण ग्रंथ में तथा आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा श्रीरामचरितमानस ग्रन्थ में किया गया है। आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा किया गया वर्णन निम्नानुसार है-

"हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई । गगन गये रबि निकट उड़ाई ॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा । मैं अभिमानी पूनि निअरावा ॥
जरे पंख अति तेज अपारा । परेऊ भूमि करि घोर चिकारा ॥"

(श्रीरामचरित्मानस - ४/२८/२-४)

महर्षि वाल्मीकि द्वारा भी समाधिस्थ मन द्वारा किये जाने वाले अनुभव अर्थात् परम तत्व के ज्योतिर्मय स्वरूप के दर्शन का वर्णन करते हुए कहा है -

"मनश्चमे हतं भूयश्चतु प्राप्य तु सुश्रयम् ।
यत्नेन ममतास्य ह्ययस्मिन मनः संधाय चक्षुषी ॥
यत्नेन महता भूयो भास्करः प्रतिलोकितः ।
तुल्यपृथ्वीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नो ॥"

(वाल्मीकि रामायण - ४/६१/१२-१३)

अनुवाद - "मेरा मन नेत्र रूपी आश्रय को पाकर उसके साथ ही हतप्राय हो गया - सूर्य के तेज से उसकी दर्शन शक्ति लुप्त हो गयी तदनन्तर महान् प्रयास करके मैंने पुनः मन और नेत्रों को सूर्यदेव में लगाया। इस प्रकार विशेष प्रयत्न करने पर फिर सूर्यदेव का दर्शन हुआ। वे हमें पृथ्वी के बराबर ही जान पड़ते थे।

विहंग मार्ग को अपनाकार यात्रा करते हुए हमें जटायु की भांति लक्ष्य बोध प्राप्त कर लौट आना चाहिये न कि सम्पाति की भाँति स्वयं को विक्षिप्त ही बना लेना चाहिए। इस प्रकार विहंग मार्ग से यात्रा करते हुए भी 'कूर्म' को आदर्श रूप में अपनाने की आवशयकता होती है। आत्मबोध की यात्रा हम कहां तक करें, इस सम्बन्ध में योगेश्वर परमतत्व श्रीकृष्ण का यह कथन भी हमारा मार्ग दर्शन करता है -

"अथवा बहुनेतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १०/४२)

अनुवाद - अथवा ''हे अर्जुन, इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपनी योगशक्ति के एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूं।'' हमें मनः शांति के सोपान के साथ-साथ यात्रा-पथ पर आगे बढ़ना चाहिये।

१०.८ इस प्रकार आत्मबोध की यात्रा में पिपीलिका मार्ग, मत्स्य मार्ग तथा विहंग मार्ग तीनों ही सहायक होते हैं। इनमें न तो कोई एक मार्ग पूर्ण है और न अपूर्ण ही। साधक को पिपीलिका की भांति मन्थर गति से यात्रा करते हुए कछुए की भांति विपरित परिस्थितियों से बचने की क्षमता रखते हुए तथा मत्स्य की भांति परमतत्व की ओर उन्मुख होकर विहंग मार्ग को अपनाते हुए, अपनी सीमाओं के भीतर ही आत्मबोध प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार आत्मबोध की यात्रा में यह तीनों ही मार्ग सहायक होकर पूर्णता प्रदान करने वाले हैं। अन्यथा यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम तो है ही कृपाण की धारा के समान -

''देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥''

(श्रीमद्भगवद्गीता - ७/१४)

अनुवाद - ''यह त्रिगुणमय मेरी योग माया बड़ी दुष्कर है परन्तु जो पुरुष मेरे को निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को अर्थात् संसार समुद्र को पार कर जाते हैं, तर जाते हैं।'' यात्रा मार्ग की दुरुहता को प्रगट करते हुए - उपनिषद् वाणी में कहा गया है -

''क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।''

(कठोपनिषद् - १/३/१४)

''कविगण अर्थात् त्रिकालज्ञ ऋषिगण उस तत्व ज्ञान के मार्ग को छूरे की तीक्ष्ण की गई धार के समान दुर्गम बतलाते हैं।''

''उतिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्नि बोधत्।''

(कठोपनिषद् - १/३/१४)

अर्थात् - ''उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर इस परम तत्व परमात्मा को प्राप्त कर लो'' को आदर्श मानकर हम एकला चलो रे ... का सिद्धांत अपनाकर पिपीलिका मार्ग का अनुसरण करके तथा कूर्म का आदर्श पालन करते हुए इस जगत् की योग माया को पार कर सकते हैं और मीन मार्ग तथा विहंग मार्ग को अपनाकर लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो जाते हैं। हमें जटायु की भाँति परमतत्व का बोध प्राप्त कर लेना चाहिये और मानसिक

धरातल पर तथा साकार स्वरूप में साक्षात्कार भी। यही है - आत्मबोध की यात्रा के सुविचारित और सुस्थापित मार्ग।

॥ हरि ॐ॥
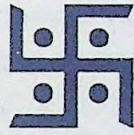
वृणुते अर्थात्
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई

आत्मबोध प्राप्त करना अर्थात् स्व-स्वरूप का साक्षात्कार करना या परम प्रभु - ईश्वर का साक्षात्कार करना उपनिषद् वाणी में वरण कार्य कहा गया है। यह वरण कार्य स्वंयं आत्मतत्व द्वारा परम प्रभु द्वारा किया जाता है, अपनी क्षमताओं का या अपने स्वरूप का बोध कराने के लिये। जैसा कि उपनिषद् वाणी में तथा अन्य सभी धर्म ग्रन्थों में कहा गया है कि वह परम तत्व को जानकर परम तत्व ही हो जाता है, इसे ही आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा - ''जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'' (रामायण - २/१२७/३) कहा गया है तथा आत्मबोध प्राप्त साधक को - ''राम ते अधिक राम कर दासा'' होना वर्णन किया है। यह उपनिषद् वाणी में कहे गये **''ब्रह्म वेद ब्रह्मेव भवति''** (मुण्डकोपनिषद् - ३/२/९) का ही प्रगटीकरण है।

११.२ (१) परम तत्व द्वारा साधक पात्र का स्व-स्वरूप दर्शन हेतु चयन (वरण) किया जाना जागतिक धरातल पर किसी कन्या द्वारा अपने पति का वरण किये जाने वाले कार्य से समानता रखता है। जिस प्रकार कन्या अपने भावी पति का वरण करते समय अपने भावी जीवन की सुरक्षा और सुख-सुविधा, मान-संरक्षण के अतिरिक्त अपने रूप निखार अर्थात् 'जोड़ी ठीक बनी है' पर भी विचार करती है। उसी प्रकार परम तत्व द्वारा भी यह चयन कार्य किया जाता है - पात्र का। परम तत्व द्वारा भी इन्हीं सब बातों पर विचार किया जाता है - अपने स्वरूप को प्रगट करने के पहले। जिनमें शील की सुरक्षा सबसे महत्वपूर्ण होती है। परम तत्व के जो-जो भी गुण श्रुतिपुराण और अन्यान्य धर्म ग्रन्थों में बताये गये हैं, क्या साधक उन्हें जीवन में धारण करता है, उन्हें आचरण में लाता है, यह ही महत्वपूर्ण कसौटी होती है, चयन कर लेने की। परमतत्व का यह चयन, सजातीय द्रव्य के मिलन की भाँति होता है। जिस प्रकार घृत से घृत मिलने पर या दूध में दूध मिलने पर, घृत या दूध विकार रहित ही रहता है, उसी प्रकार परमतत्व का सानिध्य परम तत्व के गुणों को जीवन में अपनाया जाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। गुणों की सजातीयता तथा परम तत्व के मिलन या साक्षात्कार की अनुभूति

को स्पष्ट करने के लिये हम कहेंगे कि जिस प्रकार किसी अम्ल को यदि मिट्टी के पात्र में रखा गया तो यह पात्र को नष्ट कर देगा तथा स्वयं भी ग्रहणशील न होने के कारण व्यर्थ ही नष्ट हो जावेगा। इस प्रकार पात्र भी नष्ट होगा और सम्पूर्ण स्थान भी विकृत या विकार युक्त हो जावेगा। यदि हमने किसी धातु के पात्र में अम्ल को रखा तो यह धातु के पात्र को क्षतिग्रस्त करेगा और स्वयं भी दूषित हो जावेगा। इस प्रकार अम्ल का अस्तित्व ही प्रश्न चिह्न बन जावेगा किन्तु यदि हमने किसी निर्मल स्वच्छ कांच के पात्र में अम्ल को रखा तो इसमें कांच का पात्र तथा अम्ल दोनों ही सुरक्षित बने रहते हैं। पात्र का पारदर्शी होना निर्मल होना अम्ल की उपस्थिति को प्रगट करता है, साथ ही स्वयं के स्वरूप को भी प्रगट करता है। इस परम आवश्यकता को अभिव्यक्त करते हुए, स्वयं परम तत्व श्रीराम द्वारा कहा गया है -

"निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।"

(श्रीरामचरित्मानस - ५/४४/५)

यह निर्मल होना ही प्रथम आवश्यकता होती है - ईश्वर तत्व के संधारण करने की, बोध प्राप्त करने की।

११.२ (२) जिस प्रकार हम अम्ल के संधारण हेतु पात्र का चयन करते हैं, उसी प्रकार अम्ल में या दूध, घृत या तेल या अन्य किसी पदार्थ में मिश्रण करने के लिये हम सजातीय द्रव्य का ही चयन करते हैं। जो कि मूल वस्तु के गुण एवं धर्म में कोई परिवर्तन नहीं करता हो या उसे सुरक्षित रखता हो। यह सजातीयता वस्तु के गुणों पर निर्भर होती है। परम तत्व का साक्षात्कार करने के लिये सजातीय बनना अर्थात् परम तत्व के गुणों को अपने जीवन में धारण करना, उन्हें अपने आचरण में अपना लेना, आवश्यक होता है। जिसे प्रगट करते हुए - साकार स्वरूप ब्रह्मरूप श्रीराम द्वारा कहा गया है -

"सोई सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन माने जोई॥"

(श्रीरामचरितमानस - ७/४३/५)

यह ही दो कसौटियों होती है - परम तत्व द्वारा अपने स्वरूप को प्रगट करने के लिये किसी पात्र के चयन की। यदि हम इन गुणों को नहीं अपनाते हैं, तो कोटि-कोटि जन्म के प्रयास भी परम तत्व का सानिध्य प्रदान करने में असमर्थ होते हैं। परम तत्व का अनुशासन या परम तत्व के गुणों का वर्णन हमारे धर्म ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। उपनिषद् वाणी परम तत्व के स्वरूप का विस्तृत वर्णन करती है। श्रीमद्भगवद्गीता में एवं श्रीरामचरितमानस में परम तत्व के गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस वर्णन में - परम तत्व के या ईश्वर रूप के या आत्मतत्व के प्रमुख

गुण निम्नानुसार प्रगट होते हैं :- परम तत्व या आत्मतत्व का - शांत चित्त होना, आनन्दमय होना, मुदितामय होना, पक्षपात रहित होना, निर्णायक होना, निर्विकार होना, असङ्ग बने रहना, नियन्ता होना, कर्मरत होना, दक्ष होना, अभय स्वरूप होना, अपने गुणों से स्वरूपवान् होना, सभी के लिये कल्याणकारी होना, रसमय होना, नित्य स्वरूप होना, ज्योतिर्मय होना तथा धर्म का संस्थापक होना आदि- ये ऐसे गुण हैं, जो परम तत्व कि अनुभूति को प्राप्त करने के लिये या आत्मबोध प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं साधक को इन्हें अपने जीवन में धारण कर लेना चाहिये । जीवन में सब कुछ होते हुए भी सरल, सहज और कोमल बने रहना चाहिये -

"अति कोमल रघुवीर सुभाऊ । जदपि अखिल लोक कर राऊ ॥"

(श्रीरामचरितमानस - ५/५७/५)

११.३ श्रीरामचरितमानस ग्रन्थ में परम तत्व के निवास स्थान अर्थात् प्रगट होने का वर्णन बहुत ही मनोरम ढंग से किया गया है । आचार्य गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा वे सभी हृदय रूपी स्थान बताये गये हैं - जिनमें उसका प्रगटन हो सकता है, इन्हें अपने हृदय में धारण करके । जिज्ञासु साधक को परम तत्व के साक्षात्कार के लिये यह वर्णन जान लेना और धारण करना अनिवार्य होता है । अतः यह मूल रूप में यथावत् प्रस्तुत है । यह वर्णन श्रीराम के वनवास समय महर्षि भारद्वाज से अपने निवास हेतु पूछे गये स्थानों के विवरण (अयोध्याकांड) में आया है । महर्षि भारद्वाज द्वारा बताये गये निवास के स्थान ही परम तत्व के प्रगट होने के स्थान हैं -

"सुनहु राम अब कहउ निकेता । जहाँ बसहु सिय लखन समेता ॥
जिन्ह के श्रवण समुद्र समाना ॥ कथा तुम्हरि सुभग सरि नाना ॥"

अनुवाद - "हे परात्पर रूप श्रीराम, सुनिये ! अब मैं वे स्थान बताता हूं, जहां आप सीताजी और लक्ष्मणजी समेत निवास कीजिये । जिनके कान समुद्र की भांति आपकी सुन्दर कथा रुपी अनेकों सुन्दर नदियों से" -

"भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे । तिन्ह के हिय तुम्ह कहूं गृह रूरे ॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥"

अनुवाद - "निरन्तर भरते रहते है परन्तु कभी पूरे (तृप्त) नहीं होते, उनके हृदय आपके लिये सुन्दर घर है और जिन्होंने अपने नेत्रों को चातक बना रखा है, जो आपके दर्शन रूपी मेघ के लिये सदा लालायित रहते है ।

"निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी । रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी ॥
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक । बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक ॥"

अनुवाद - तथा जो भारी-भारी नदियों, समुद्रों और झीलों का जल सेवन नहीं करते हैं और आपके सौन्दर्य रूपी मेघों के एक बून्द जल से सुखी हो जाते हैं, हे रघुनाथजी ! उन लोगों के हृदय रूपी सुखदायी भवनों में आप भाई लक्ष्मणजी और सीताजी सहित निवास कीजिये ।

दोहा - "जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनी जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनई राम बसहु हिये तासु ॥"

अनुवाद - "आपके यशरूपी निर्मल मानसरोवर में जिसकी जीभ (जिह्वा) हंसिनी बनी हुई आपके गुण समूह रूपी मोतियों को चुगती रहती है, हे श्रीराम आप उनके हृदय में निवास कीजिये ।"

"प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुवासा । सादर जासु लहइ नित नासा ॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करही । प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥"

अनुवाद - "जिसकी नासिका प्रभु आपके पवित्र और सुगन्धित पुष्पादि सुन्दर प्रसाद को नित्य आदर के साथ ग्रहण करती, सूँघती है और जो आप को अर्पण करके भोजन करते हैं और आपके प्रसाद रूप की वस्त्राभूषण धारण करते हैं ।

"सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी । प्रीति सहित करि विनय विसेषी ॥
कर नित करहि राम पद पूजा । राम भरोस हृदय नहिं दूजा ॥"

अनुवाद - "जिनके मस्तक देवता, गुरु और ब्राह्मणों को देखकर बड़ी नम्रता के साथ प्रेम सहित झुक जाते हैं, जिनके हाथ नित्य आप श्रीराम के चरणों की पूजा करते हैं जिनके हृदय में आप श्रीराम का ही भरोसा है, दूसरा नहीं ।"

"चरन राम तीरथ चलि जाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा । पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा ॥"

अनुवाद - "तथा जिनके चरन आप श्रीरामजी के तीर्थों में चलकर जाते हैं, हे श्रीराम ! आप उनके मन में निवास कीजिये । जो आपके रामनाम रूप मन्त्रराज को जपते हैं और परिवार, परिकर सहित आपकी पूजा करते हैं ।

"तरपन होम करहिं विधि नाना । विप्र जेवाइ देहि बहु दाना ॥
तुम्ह ते अधिक गुरहि जियं जानी । सकल भायं सेवहि सनमानी ॥"

अनुवाद - "जो अनेकों प्रकार से तर्पण और हवन करते हैं तथा ब्राह्मणों को भोजन कराकर बहुत दान देते है तथा जो गुरु को हृदय में आपसे भी अधिक (बड़ा) जानकर सर्वभाव से सम्मान करके उनकी सेवा करते है।"

दोहा - "सबु करि मागहिं एक फलु राम चरण रति होउ।
तिन्ह का मन मंदिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ॥"

अनुवाद - "और ये सब कर्म करके सबका एकमात्र यही फल मांगते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में हमारी प्रीति हो, उन लोगों के मन रूपी मन्दिरों में सीताजी और रघुकुल को आनन्दित करने वाले आप दोनों बसिये।"

"काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दम्भ नहि माया। तिन्ह के हृदह बसहु रघुराया॥
सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहि सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥"

अनुवाद - "जिनके न तो काम, क्रोध, मद, अभिमान और मोह है, न लोभ है, न क्षोभ है, न राग है, न द्वेष और न कपट, दम्भ और माया ही है - हे रघुराज, आप उनके हृदय में निवास कीजिये। जो सबके प्रिय और सबका हित करने वाले हैं, जिन्हें दुःख और सुख तथा प्रशंसा (बढ़ाई) और गाली (निन्दा) समान है, जो विचार कर सत्य और प्रिय वचन बोलते हैं तथा जो जागते-सोते आपकी ही शरण हैं।"

"तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माही।
जननी सम जानहि परनारी। धनु पराव विष तेविष भारी॥
जे हरषहिं पर सम्पत्ति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्राणपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥"

अनुवाद - "और आपको छोड़कर जिनके दूसरी कोई गति, आश्रय नहीं है, हे श्रीरामजी, आप उनके मन में बसिये। जो परायी स्त्री को जन्म देने वाली माता के समान जानते हैं और पराया धन जिन्हें विष से भी भारी विष है। जो दूसरे की सम्पत्ति देखकर हर्षित और दूसरे की विपत्ति देखकर विशेष रूप से दुखी होते हैं और हे राम, जिन्हें आप प्राणों के समान प्यारे हैं, उनके मन आपके रहने योग्य शुभ भवन हैं।"

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात ।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

(दोहा १३०)

अनुवाद - हे तात, जिनके स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु सब कुछ आप ही हैं, उनके मनरूपी मन्दिर में सीता सहित आप दोनों भाई निवास कीजिये ।

''अवगुन तजि सब के गुन गहहीं । विप्र धेनु हित संकट सहही ॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका ॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही । तेहि उर बसहु सहित वैदेहि ॥

अनुवाद - जो अवगुणों को छोड़कर सबके गुणों को ग्रहण करते हैं, ब्राह्मण और गौ के लिये संकट सहते हैं, नीति-निपुणता में जिनकी जगत् में मर्यादा है, उनका सुन्दर मन आपका घर है । जो गुणों को आपका और दोषों को अपना समझता है, जिसे सब प्रकार से आपका ही भरोसा और रामभक्त जिसे प्यारे लगते हैं, उसके हृदय में आप सीता सहित निवास कीजिये ।

''जाति पाति धनु धरमु बड़ाई । प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई । तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई ॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना । जहँ तहँ धरें धनु बाना ॥
करम बचन मन राउर चेरा । राम करहु तेहि कें उर डेरा ॥

अनुवाद - जाति-पाति, धन, धर्म बड़ाई, प्यारा परिवार और सुख देने वाला घर - सबको छोड़कर जो केवल आपको ही हृदय में धारण किये रहता है, हे रघुनाथजी, आप उसके हृदय में रहिये । स्वर्ग-नरक और मोक्ष जिसकी दृष्टि में समान है क्योंकि वह जहाँ-तहाँ (सब जगह) केवल धनुष-बाण धारण किये आपको ही देखता है और जो कर्म से, बचन से और मन से आपका दास है, हे श्रीरामजी, आप उनके हृदय में निवास कीजिये ।

जाहि न चाहिअ कबहुँ तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

(दोहा - १३१)

अनुवाद - जिसको कभी कुछ भी नहीं चाहिये और जिसका आपसे स्वाभाविक प्रेम है, आप उसके मन में निरंतर निवास कीजिये, वह आपका अपना घर है ।

११.४ श्रीरामचरितमानस में आया देख निम्न वर्णन भी हमारा मार्गदर्शन करता है। दोहा -

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाई ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाई ॥

(अरण्यकाण्ड - १४)

अनुवाद - हे प्रभो ! ईश्वर और जीव का भेद भी सब समझाकर कहिये, जिससे आपके चरणों में मेरी प्रीति हो और शोक, मोह तथा भ्रम नष्ट हो जायें।

''थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई । सुनहु तात मति मन चित लाई ॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । बिद्या अपर अविद्या दोऊ ॥

अनुवाद - (श्रीराम ने कहा) हे तात, मैं थोड़े ही में सब समझाकर कह देता हूँ। तुम मन, चित्त और बुद्धि लगाकर सुनो, मैं और मेरा, तू और तेरा - यही माया है, जिसने समस्त जीवों को वश में कर रखा है। इन्द्रियों के विषयों को और जहां तक मन जाता है अर्थात् वाणी और नेत्रों की सीमा तक, हे भाई उस सबको माया जानना। उसके भी - एक विद्या और दूसरी अविद्या, दो भेद हैं इन दोनों को तुम सुनो। -

''एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ॥
एक रचह जग गुन बस जाकें । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ॥
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहिं ॥
कहिअ सात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥

अनुवाद - एक अविद्या दोषयुक्त है और अत्यन्त दुःखरुप है, जिसके वश होकर जीव संसार रूपी कुंए में पड़ा हुआ है और एक विद्या है, जिसके वश में गुण है और जो जगत की रचना करती है, वह प्रभु से ही प्रेरित होती है, उसका अपना बल कुछ भी नही है। ज्ञान वह है, जिसमें मान आदि एक भी दोष नहीं है और जो सबमें समान रूप से ब्रह्म को देखता है। हे तात्, उसी को परम वैराग्यवान् कहना चाहिये, जो सारी सिद्धियों को और तीनों गुणों को तिनके समान त्याग चुका हो।

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव ।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीय ॥

(अरण्यकांड दोहा - १५)

अनुवाद - जो माया को, ईश्वर को और अपने स्वरूप को नहीं जानता, उसे जीव कहना चाहिये । जो कर्मानुसार बन्धन और मोक्ष देने वाला सबसे परे और माया का प्रेरक है, वह ईश्वर है ।

११.५ परमतत्व का साक्षात्कार करना या आत्मबोध प्राप्त करना उपनिषद् वाणी में - **''ब्रह्म वेद ब्रह्मेव भवति''** कहा गया है । जिसे श्रीरामचरितमानस में आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा - **''जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई ।''** (२/१२७/३) वर्णन किया गया है । यह अवस्था तदाकार होने जैसी होती है। तदाकार होने में व्यक्तिगत पसन्द को छोड़ना पड़ता है । जिस प्रकार हम नदी पार करने के लिये नदी के प्रवाह को थम जाने का इन्तजार नही करते, उसके पार जाने हेतु साधन ही जुटा लेते हैं, हम नदी के रिक्त होने की शर्त नही रखते । इसी प्रकार हमें तदाकार होने के लिये स्वयं की सम्पूर्ण शर्तों को साथ में न रखते हुए वे साधन अपना लेना होंगे, जिनके आधार पर हम तदाकार हो सकें। इसके लिये आवश्यक है कि हम परम तत्व के गुणों को जानें तथा उन्हें जीवन में अपनाये । जिस प्रकार कोई फसल पैदा करने के लिये आवश्यक तत्व भूमि, बीज एवं वर्षा तथा तैयारी आवश्यक होती है । हम फसल के लिये बीज लेकर वर्षा का इन्तजार नहीं करते अपितु पूर्व तैयारी में भूमि या खेत को जोतकर, पाटा लगाकर साफ-सुथरा और बीज बोने योग्य बना लेते हैं । फिर वर्षागम पर खेत में बीज बो देते है । बीज बोने पर हम निष्क्रीय नहीं हो जाते । हम खरपतवार और अन्य प्राणियों से, वन्य प्राणियों से उसकी रक्षा करते हैं और अन्ततः फसल प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं । इसी प्रकार ईश्वर तत्व से या आत्मतत्व से तदाकार प्राप्त करने के लिये आवश्यक भूमि यह शरीर है । इस शरीर की आवश्यक तैयारी के साथ बीज रूपी मन्त्र अर्थात् युक्तिज्ञान एवं वर्षा रूपी परमतत्व की कृपा आवश्यक होती है। परमतत्व की प्राप्ति के लिये भूमि रूपी यह शरीर हमें मिला हुआ है - **''बड़े भाग मानुस तन पायो''** । शरीरस्थ जीव तत्व परम तत्व का ही अंश है । इस प्रकार परम तत्व की, ईश्वर की कृपा रूपी वर्षा सदैव हो रही है । आवश्यकता है - भूमि रूप इस शरीर की आवश्यक तैयारी तथा बीज को बो देने की । हम कौन सा बीज बोयें अर्थात् किन-किन गुणों को अपना लेवें इस सम्बन्ध में श्रीरामचरितमानस में आचार्य गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा ऋषि भारद्वाज के मुख से बताया गया स्थान तथा साकार ब्रह्म रूप श्रीराम द्वारा अपने अनुज लक्ष्मण को दिया गया उपरोक्त उपदेश हमारा मार्ग-दर्शन करता है, साथ ही श्रीमद्भगवद्गीता में परमतत्व श्रीकृष्ण द्वारा अपने साक्षात्कार के लिये की

गई निम्न अपेक्षाओं को भी हमें अपने जीवन में अपना लेना चाहिए। इस वर्णन में सामान्य रूप से अधिकांश वह ही बातें बताई गई हैं, जिनका वर्णन आचार्य गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा श्रीरामचरितमानस् में अर्थात् उपर लिखित वर्णन में किया गया है तथापि यह वर्णन अर्थात् अपेक्षाएं यथारूप वर्णित की जाती हैं।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ (३/१९)

अनुवाद - आसक्ति से रहित कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

(६/३६)

अनुवाद - जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, उसके द्वारा इसे प्राप्त करना दुष्प्राप्य है, ऐसा मेरा मत है और जिसके द्वारा अपना मन वश में कर लिया गया है, उस प्रयत्नशील व्यक्ति को प्राप्त होना सहज है।

''अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

(१२/१३-१४)

अनुवाद - जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतु रहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करनेवाले को भी अभयदान देनेवाला है तथा जो साधक निरन्तर सन्तुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चय वाला है, वह मुझ में अर्पण किये हुए मन बुद्धिवाला साधक मेरा भक्त है, मुझको प्रिय है।

''यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

(१२/१५/१६)

अनुवाद - जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि से रहित है - वह भक्त मुझको प्रिय है। जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, अपने काम में दक्ष पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है - वह कर्ताभाव से रहित त्यागी साधक मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

"यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

(१२/१७-१८)

अनुवाद - जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है - वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी, गरमी और सुख-दुःख आदि द्वन्दों में सम है और आसक्ति से रहित है।

"तुल्यन्दिास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(१२/१९-२०)

अनुवाद - जो निंदा-स्तुति को समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है - वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् साधक मुझको प्रिय है परन्तु जो श्रद्धायुक्त साधक मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम प्रेमभाव से सेवन करते है, वे साधक मुझको अतिशय प्रिय है।

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥"

(११/५५)

अनुवाद - "हे अर्जुन, जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण

भूत-प्राणियों में वैरभाव से रहित है। वह अनन्यभक्तियुक्त साधक मुझको ही प्राप्त होता है।

"निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत् ॥"

अनुवाद - "जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति रूप-दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएं पूर्ण रूप से नष्ट हो गयी है, वे सुख-दुःख नामक द्वन्दों से विमुक्त साधक गण परम पद को प्राप्त होते है।

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।" (१८/४५)

अनुवाद - अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म में तत्परता और समर्पण भाव से रत मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८/४६)

अनुवाद - जिस परमात्मा से सभी चर और अचर भूत समुदाय उत्पन्न हुआ है और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है, उस परमात्मा की अर्चना अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्मों द्वारा करके मानव सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

(१८/५४-५५)

अनुवाद - सभी चर और अचर भूत समुदाय में एक परम तत्व का ही रूप मानकर प्रसन्न रहता हुआ, मनुष्य जो न सोचता है और न आकांक्षा ही करता है, वह सभी प्राणी समुदाय में समान भाव रखेवाला मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है। जिसके द्वारा वह मुझे तत्वतः जानता है, कि मैं क्या हूं, कैसा हूं, कितना हूं ? इस प्रकार वह मुझे तत्वतः जानकर मुझ में ही प्रवेश कर जाता है अर्थात् मेरा ही स्वरूप हो जाता है - ब्रह्मवेद ब्रह्मेव भवति - ब्रह्म को जानकर वह ब्रह्म ही हो जाता है। और वह -

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

(१८/५६)

अनुवाद - समस्त कर्मों को सदैव ही करता हुआ मेरे आश्रित हुआ वह साधक मेरे प्रसाद से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है।

११.६ अब हम साधक व्यक्ति के जीवन में निर्विकार तथा निर्लिप्त बने रहने के लिये - प्रकृति के या परम तत्व के 'कर्म तथा उसके फल' या 'कार्य और कारण सिद्धान्त' को नियन्त्रित करने वाले सूत्रों को प्रगट करना चाहेंगे। यह हम सभी मानते हैं तथा यह सर्वमान्य एवं शास्त्रोक्त सिद्धान्त है कि कर्म ही प्रारब्ध का निर्माण करते हैं तथा कर्म द्वारा ही प्रारब्ध के भोग को न्यून किया जाना सम्भव है। हम निर्विकार बने रहकर त्रिगुण रचित कार्यकारण श्रृंखला को तोड़ने में या इससे मुक्त होने में सफल हो सकते हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में बताये गये सिद्धान्त -

''सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥'' (१४/२५)

अनुवाद - ''जो पुरुष सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित है, वह गुणातीत कहा जाता है'' को अपनाकर। इस प्रकार कार्यकारण श्रृंखला से मुक्त होने के लिये, हम किस प्रकार सर्वारंभ परित्यागी बन जावे तथा हमारे कर्म किस प्रकार के हों कि वे प्रारब्ध का पुनर्निर्माण न करने वाले होकर प्रारब्ध का क्षय करने लगें। यह स्थिति प्राप्त कर लेने में निम्न दो सूत्र पालन किये जाने पर हमारे लिये सहायक सिद्ध होते हैं - हमारे मार्ग दर्शन करने वाले ये दो सूत्र जिन्हें कि प्रकृति द्वारा पात्रता के चयन हेतु अपनाये जाने वाला सिद्धान्त कहा जाना ही अधिक उपयुक्त होगा निम्न हैं -

प्रथम है - पाथेय का सिद्धान्त और
दूसरा है - सन्तुलन का सिद्धान्त।

इन्हें हम निम्नानुसार स्पष्ट कर सकते हैं।

११.७ पाथेय का सिद्धान्त, भारतीय जनमानस में प्रचलित अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है। जिसका पालन हमारे पूर्वजों द्वारा अन्न के - ''संवाही-गुणों' को जानकर प्राचीन काल से किया जाता रहा है। पाथेय को सामान्य अर्थ में यात्रा के मार्ग की भोजन आवश्यकता को पूरा करने वाली आहार सामग्री के रूप में लिया जाता है। यह इस शब्द या सिद्धान्त का सांकेतिक स्वरूप हें, जो सम्पूर्ण सिद्धान्त को ही प्रगट करता है। इसे स्पष्ट करने के लिये हम कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार किसी यात्रा पर प्रस्थान करने के पूर्व हम यात्रा अवधि के लिये सम्पूर्ण आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं का आंकलन करके उनका बंदोबस्त करते हैं तथा इस समस्त सामग्री को वस्तु रूप में या नगद मुद्रा रूप में साथ लेकर ही यात्रा पर प्रस्थान करते हैं। यह सामग्री हम इतनी पर्याप्त

मात्रा में साथ में रख लेते हैं या इसका बंदोबस्त कर लेते हैं, जिससे कि हमारी लौट आने तक की यात्रा सुविधाजनक और सुरक्षामय हो जावें। हम जो बंदोबस्त करते हैं या साथ में जो सामग्री लेते हैं, वह सभी पाथेय की श्रेंणी में आता है। यात्रा पर निकलना तीर्थाटन होता है या किसी कार्य से या किसी लक्ष्य से जुड़ी हुई परिभ्रमण कार्यवाही होती है। हम स्वयं यात्रा पर जाते हैं तो अपनी आवश्यकता के अनुरूप सामग्री का बन्दोबस्त करते है। इसी प्रकार यदि हम स्वयं यात्रा पर नही जाते हैं और किसी अन्य को किसी प्रयोजन के लिये यात्रा पर भेजते हैं, तो उस व्यक्ति की आवश्यकता और अनिवार्यताओं का आंकलन करके उसके सकुशल यात्रा सम्पन्न करने और निरापद लौट आने तक की अवधि तक के लिये हम पाथेय की व्यवस्था करते हैं। इसमें हमारा उद्देश्य लक्ष्य की प्राप्ति के साथ-साथ यात्रा की सुख-सुविधाओं की पूर्ति के लिये भी पर्याप्त पाथेय प्रदान करता होता है तथा हम चाहते है कि यात्री हमारा लक्ष्य पूरा करके या सौंपा गया दायित्व पूरा करके सकुशल लौट आवें। यात्री पर्याप्त सामग्री साथ में ले जाकर या उसका बंदोबस्त अपने साथ में रखकर कर्तव्य कर्म को या लक्ष्य को पूरा करके लौटता है, तो यह उसकी यात्रा की सफलता होती है किन्तु यदि यात्री अपने कर्तव्य या लक्ष्य को पूरा न करके दी गई पाथेय सामग्री को अन्य विकारयुक्तें स्वेच्छाचारी कार्य में खर्च कर देवें, तो वह यात्री स्वयं ही अपनी आपदाओं का सृजन कर्ता बनता है तथा लक्ष्य से पतित हो जाता है। वह अपने कार्य में असफल तो होता ही है, साथ ही अपनी वापसी की यात्रा को भी कष्टमय बना लेता है या त्रासमय बना लेता है तथा स्वयं ही उसके परिणामों को भोगता है, जो कि उसके स्वयं के कर्मो का ही फल होते हैं। वह स्वयं ही अपने लिये कष्ट या आपदाओं को जन्म देता है और यदि यात्री अपनी क्षमता, कौशल और बुद्धि का सहारा लेकर अपनी यात्रा एवं लक्ष्य की पूर्ति करता है, तो वह ही सफल होता है तथा अपने स्वामी का प्रिय पात्र भी बन जाता है।

११.८ यह ही पाथेय का सिद्धान्त है। जो हमें कर्म और उसके फल के सिद्धान्त की जानकारी तथा पाथेय सामग्री की उपलब्धता तथा उसके सही-सही एवं नियत कर्म या लक्ष्य के प्रति ही पूर्ति के रूप में व्यय करने का पाठ पढ़ाता है। पाथेय को अपनाकर यात्री अपनी यात्रा की आवश्यकता तथा उसकी पूर्ति के प्रति आश्वस्त रहकर निश्चिंत होता है - अपने यात्रा कर्म को पूरा करने के लिये। यह जगत परम तत्व का कर्म के लिये स्वयं के द्वारा किया गया विस्तार है। परम तत्व स्वयं ही खिलाड़ी रूप में अलग-अलग मानव रूप में बँटा होकर खेल-खेल रहा है - इस जगत में तथा उसके द्वारा ही समस्त सामग्री इस धरा

पर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कराई गई है, जिसका वर्णन उपनिषद् वाणी में करते हुए श्रुति देवी कहती है -

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥"

(ईशावास्योपनिषद् -१)

अनुवाद - "इस सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भी जड़ और चेतन रूप में है, यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। ईश्वर के अनुशासन से परिचालित है। अतः इसका त्याग की भावना से परिपूर्ण होकर भोग करते रहो, आसक्त मत होओ। आखिर ये धन किसका है ? अर्थात् सम्पूर्ण धन किसी का भी नहीं है।" हमें इस उपलब्ध जगत् का भोग अर्थात् अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पाथेय रूप में ही करना चाहिये। स्वयं को ही परम तत्व का एक अंश मानकर अपनी यात्रा के लक्ष्य को स्मरण करके इसे ही पूरा करना चाहिये। परमतत्व का यह खेल बच्चों द्वारा खेले जाने वाले लुका-छिपी के खेल की भांति ही है, जिसमें बालक स्वयं ही छिपते हैं और स्वयं ही एक-दूसरे को खोजते हैं। हमें भी इस यात्रा में स्वयं को खोज लेना चाहिए, अपने स्वयं के परम तत्व के अंश होने को जान लेना चाहिए। इसी प्रकार कर्म एवं फल तथा कार्य-कारण के नियमन का दूसरा सिद्धान्त सन्तुलन का सिद्धान्त है। जिसकी उत्पत्ति इस पाथेय के सिद्धान्त से ही होती है।

११.९ सन्तुलन का सिद्धान्त - सन्तुलन का सिद्धान्त पाथेय का सिद्धान्त का पूरक है किन्तु यह स्वयं में ही परिपूर्णता रखता है। अतः इसे **तुला का सिद्धान्त** भी कहते है तथा इस सिद्धान्त का पालन करने वाला व्यक्ति महाभारत ग्रन्थ में तुलाधार रूप में वर्णित किया जाना पाया जाता है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये हम कहेंगे कि जिस प्रकार तुला के दोनों पलड़ो में समान सामग्री रखने पर दोनों में ही सन्तुलन बना रहता है तथा तुला के कार्य की उपयोगिता पूर्ण हो जाती है। तुला के किसी एक पलड़े में सामग्री की न्यूनता या अधिकता दूसरे पलड़े की स्थिति को प्रभावित कर देती है तथा तुला सन्तुलित नहीं रहती। सामग्री के सन्तुलन को जान लेना ही तुला का कार्य होता है। पाथेय सिद्धान्त का पालन करते हुए जिस प्रकार यात्रा क्रम में दी गई सामग्री का सही एवं नियत कार्य में उपयोग करके यात्री स्वयं के लिये सुविधाएं जुटा लेता है, यदि वह अपनी कुशलता एवं बुद्धि का उपयोग करते हुए मितव्ययता को अपनाता है तो स्वयं ही उसके परिणामों को भोगता है तथा अपनी शेष यात्रा को कष्टदायी बना लेता है। यात्रा का लक्ष्य पूरा न होने पर या तो वह पुनः यात्रा करने वाला होता है या इच्छित कार्य पूरा न करने के कारण अपने स्वामी का

अप्रिय पात्र बनकर किसी दूसरे निम्न श्रेणी के कार्य के लिये ही, जो कि निश्चिततः पद या दायित्व की हैसियत से निम्न श्रेणी का होता है, उसके लिये ही स्वयं को पात्र बना लेता है।

११.१० यदि यात्री यात्रा के लक्ष्य को स्मरण करके नियत कर्म को पूरा करता है। तो स्वाभाविक रूप से वह अपने स्वामी का प्रिय बनकर अन्तरंग ही हो जाता है अपनी कार्य-कुशलता और कार्य-सिद्धि के आधार पर। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म द्वारा बताई गई सिद्धि इस स्थिति को ही प्रगट करने वाली है। यदि हम नियत कर्म को अपनाते है तो दक्ष बन जाते हैं। नियत कर्म अर्थात् स्व-कर्म जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में - **"स्वधर्मे निधनं श्रेयः"** कहा गया है। यह स्वाभाविक रूप से तल्लीनता प्रदान करने वाला क्षमताओं का विकास करने वाला तथा परम तत्व के प्रति समर्पण करने वाला ही होता है। जिस प्रकार यात्रा में पाथेय की राशि नियत कर्म पर, नियत स्थान पर एवं नियत समय खर्च करके हम श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेते हैं तथा इसके विपरीत नियत कार्य के लिये दी गई पाथेय राशि को खर्च न करके या अन्यन्त्र व्यय करके स्वयं ही तात्कालिक रूप से यात्रा को कष्टदायी बना लेते हैं तथा भविष्य के लिये भी अपने कार्यों को या पदीय दायित्वों को परिवर्तित करने का कारण स्वयं ही उपस्थित कर लेते हैं। इसी प्रकार संग्रह वृत्ति को अपनाकर हम इस जगत में भी परम तत्व के कार्य में व्यवधान ही उपस्थित करते हैं। यह असन्तुलन पग-पग पर ही प्रत्येक कर्म और क्रिया से बन्धा होता है तथा इसका कारण राग या द्वेष बनता है। यदि हम प्रत्येक कर्म मे संलग्नता अर्थात् राग और प्रतिरोध अर्थात् द्वेष को छोड़ते हुए तुलाधार के रूप में अपना कार्य करते हैं तो यह स्वतः ही श्रेष्ठता प्रदान करने वाला बन जाता है। इस सन्तुलन को जान लेने के लिये तथा इसे प्रगट करने के लिये ही इस दूसरे सिद्धान्त का नाम **सन्तुलन का सिद्धान्त या तुला का सिद्धान्त** कहा गया है।

११.११ जिस प्रकार लौकिक जगत में तुलाधार अर्थात् तुलावटी अपने नियत कर्म में सही-सही तोल करके एक ओर जहां ग्राहकों में प्रियता प्राप्त करता है, वहीं वह अपने स्वामी की ख्याति भी बाजार में स्थापित करता है। सन्तुलन का सिद्धान्त पालन करने का आशय यह है कि साधक नियत समय पर नियत कार्य को करने वाला बन जावे, अपनी सम्पूर्ण क्षमता मनसा, वाचा, कर्मणा को अपनाते हुए। यदि हम लौकिक सुखों से बन्धकर कोई कार्य नियत समय पर नियत उद्देश्य से नहीं करते हैं तो यह असन्तुलन का ही कारण बन जाता है, परम तत्व के नियति क्रम में। जिसका परिणाम हमें स्वयं ही भोगना पड़ता है और यदि हम क्षणिक सुख या लौकिक सुखों [illegible] में नियति के कर्म

का सन्तुलन नहीं बिगाड़ते है और श्रेष्ठ तुलाधार की भांति अपना कार्य करते हैं, तो यह इस जगत् में श्रेष्ठता या अभ्युदय का कारण बनता है। श्रेष्ठता प्राप्त कर लेना ही एक प्रकार से प्रारब्ध का क्षय है। इसे यों जान लेना चाहिये कि यदि कार्य के सम्पन्न करने से जो श्रेयस मिला है, वह कार्य के न करने से नहीं मिला होता तो हम पूर्व स्थिति से जुड़े हुए होकर ही कार्य कारण श्रृंखला या कर्म व फल का अङ्ग बने होकर पूर्व प्रारब्ध को ही भोग रहे होते। श्रेयस् या अभ्युदय की प्राप्ति इस प्रकार एक प्रकार से निम्न स्तर से जुड़े हुए प्रारब्ध का क्षय है। श्रेष्ठ तुलावटी बनना सन्तुलन के सिद्धान्त का पालन करना है। परम तत्व को जानना है।

११.१२ तुलावटी बनने का अर्थात् प्रवृत्ति के सन्तुलन का यह सिद्धान्त महाभारत ग्रन्थ में शांति पर्व के अन्तर्गत तुलाधार वेश्य के वर्णन में प्रगट हुआ है। यह सम्पूर्ण कथानक शांति पर्व के अध्याय २६१ से २६३ तक में आया है। इस वर्णन में तुलाधार वेश्य को साधक योगी से श्रेष्ठ बताया जाकर परम तत्व का जानकार होना वर्णित किया गया है। परमतत्व की प्राप्ति के लिये हमें तुलाधार ही बन जाना चाहिये प्रत्येक कर्म को अपनाते हुए - इस जीवन में। हम समय पर अपना दायित्व, पूर्ण क्षमता एवं समर्पण के साथ निष्पक्षता पूर्वक पूरा करें। यह ही है सन्तुलन का सिद्धान्त या **परम तत्व की प्राप्ति** का सिद्धान्त।

११.१३ यदि हम जीवन में पाथेय का सिद्धान्त और तुलाधार का सिद्धान्त अपना लेते हैं तो सहज ही उन गुणों को प्राप्त कर लेते हैं, जिनका वर्णन श्रीरामचरितमानस में तथा श्रीमद्भगवद्गीता में उपरोक्तानुसार किया गया है और हमारे लिये सहज हो जाता है, परम तत्व का साक्षात्कार प्राप्त कर लेना जिसे महाभारत ग्रन्थ में निम्न पदों में अभिव्यक्त किया गया है -

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम्।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत् परम्॥

(शां.पं. - १७/१७)

अनुवाद - इस जगत में ममता और आसक्ति बन्धन को आमिष कहा गया है। सकाम कर्म भी आमिष कहलाता है। इन दोनों आमिषः स्वरूप पापों से जो मुक्त हो गया है, वही परम पद को प्राप्त होता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकास्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(शां.प.-१७/२३)

अनुवाद - जब साधक प्राणियों की पृथक्-पृथक् सत्ता को एकमात्र परमात्मा में ही स्थित देखता है और उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार हुआ मानता है, उस समय वह परम तत्व ब्रह्म को प्राप्त होता है।

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदऽऽत्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥

(शां.प. - २१/१३)

अनुवाद - जैसे कछुआ अपने अङ्गों को सब और से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी सब कामनाओं को सब ओर से समेट लेता है, उस समय तुरन्त ही ज्योतिः स्वरूप आत्मा अपने अन्तःकरण में प्रकाशित हो जाता है।

न बिभेति तदा चायं यदा यास्मान्न बिभ्यति।
कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति ॥

(शां.प. २१/४)

अनुवाद - जब मनुष्य किसी से भय नहीं मानता और जब उससे भी दूसरे प्राणी भय नहीं मानते तथा जब वह काम (राग) और द्वेष को जीत लेता है, तब अपने आत्म स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(शां.प. - २१/५)

अनुवाद - जब वह (साधक) मन, वाणी और क्रिया द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों में से किसी के साथ न तो द्रोह करता है न किसी की अभिलाषा ही रखता है, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(शां.प. २६/१५)

अनुवाद - जब वह साधक मन, वाणी और क्रिया द्वारा सम्पूर्ण भूतों के प्रति पाप-बुद्धि का त्याग कर देता है, तब परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

"यदा निवृत्त सर्वस्मात् कामायोऽस्य हृदि स्थितः।
तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्म समश्नुते ॥

(शांतिपर्व -.)

अनुवाद - मनुष्य के हृदय में जो-जो कामनाएं स्थित है, उन सबसे जब वह निवृत्त हो जाता है, तब उसकी विशुद्ध सत्वगुण में स्थित होती है और इसी समय उसे परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

"निवर्तयित्वा रसनां रसेभ्यो घ्राणं च गंधाच्छ्रवणौ च शब्दात्।
स्पर्शात् त्वचं रूपगुणात् तु चक्षुस्ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम्॥"

(शांतिपर्व - २०२/५)

अनुवाद - अतः जो जिह्वा को रस से, नासिका को गन्ध से, कानों को शब्द से, त्वचा को स्पर्श से नेत्रों को रुप से हटाकर अन्तर्मुखी बना लेता है, वही अपने मूलस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है।

"यथाम्भसि प्रसन्ने तु रूपं पश्यति चक्षुषा।
तद्वत्प्रन्नेन्द्रियत्वाज्ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति॥

(शां.प. २०४/२)

अनुवाद - जिस प्रकार मनुष्य स्वच्छ और स्थिर जल में नेत्रों द्वारा अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही मन सहित इन्द्रियों के शुद्ध एवं स्थिर हो जाने पर वह ज्ञानदृष्टि से ज्ञेय स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है।

"यदा तैः पञ्चभिः पञ्च युक्तानि मनसा सह।
अथ तद् रक्ष्यते ब्रह्म मणौ सूत्रमिवापितम्॥

(शां.प. २०६/१)

अनुवाद - जिस समय मनुष्य शब्द आदि पाँच विषयों सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियों और मन को काबू में कर लेता है, उस समय वह मणियों में ओत-प्रोत तागे के समान सर्वत्र व्याप्त परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

"अग्निर्दारुगतो यद्वद् भिन्ने दारौ न दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनेवादृश्यते॥
भग्निर्यथा ह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते॥

(शां.पं. २१०/४१-४२)

अनुवाद - जिस प्रकार अग्नि काष्ठ में व्याप्त रहने पर भी काष्ठ के चीरने पर भी उसमें दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार आत्मा शरीर में रहता है परन्तु दिखायी नही देता - योग से ही उसका दर्शन होता है। जैसे मन्थन आदि उपयोग द्वारा काष्ठ को मथकर उनमें अग्नि को प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी प्रकार योग के द्वारा शरीरस्थ आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

"विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः ।
षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ॥"

(शां.प. २५१/१४)

अनुवाद - शोक शून्य, समता रहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्यहीन और सन्तोषी - इन छः लक्षणों से युक्त मनुष्य पूर्णतः ज्ञान से तृप्त हो मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

११.८ उपरोक्तानुसार यह परम तत्व का साक्षात्कार कर लेने या आत्म बोध प्राप्त कर लेने हेतु स्वयं के पात्र बन जाने हेतु आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है, जिन्हें हमें अपनाना आवश्यक होता है। स्वयं को "वर" सिद्ध करने के लिये। ताकि आत्म तत्व साधक का वरण करके अपने स्वरूप का बोध करा देवें। अपने स्वरूप को प्रगट कर देवें। इस वर्णन के क्रम में यदि उन अयोग्यताओं का वर्णन नही किया जावे जो कि प्रमुख रूप से प्रगट होती हैं तथा बाधा बनती हैं, आत्मबोध प्राप्त कर लेने के मार्ग में तो यह वर्णन अधूरा ही रहेगा तथा चयन प्रक्रिया की जानकारी भी अपूर्ण ही रहेगी। अतः निम्नानुसार निषेधात्मक बातें भी प्रस्तुत है, जिनसे साधक को बचना चाहिये -

"स एव लुलिते तस्मिन् यथा रूपं न पश्यति ।
तथेन्द्रियाकुलीभावे ज्ञेयं ज्ञाने न पश्यति ॥"

(शां.प. २०४/३)

अनुवाद - मनुष्य हिलते हुए जल में जैसे अपना रूप नहीं देख पाता, उसी प्रकार मनसहित इंद्रियों के चंचल होने पर वह बुद्धि में ज्ञेयस्वरूप आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता।

"यथा चाल्पेन माल्येन वासितं तिलसर्षपम् ।
न मुञ्चति स्वकं गधं तद्वत् सूक्ष्मस्य दर्शनम् ॥"

(शां.प. - २८०/१४)

अनुवाद - जैसे थोड़े से पुष्प एवं माला द्वारा वासित किया हुआ तिल और सरसों का तेल अपनी गन्ध नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार थोड़े से प्रयत्न से न तो दोष दूर होते है और न सूक्ष्म ब्रह्म का साक्षात्कार ही हो पाता है।

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥"

(कठो.उ. - १/२/२४)

अनुवाद - सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा भी इस परम तत्व को न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणों से निवृत्त नहीं हुआ है, न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है, न वह शक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसका मन इन्द्रिया संयत नही है और न ही वह व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसका मन शांत नही है।

परम तत्व के साक्षात्कार के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते है -

"न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायनृजवे न च।
दर्शयाम्यहमात्मानं न चाशान्ताय भारत ॥"

(शां.प.५१/११)

अनुवाद - हे भारत, राजेन्द्र जो मेरा भक्त नही है अथवा भक्त होने पर भी सरल स्वभाव का नही है। जिसके मन में शान्ति नही है, उसे मैं अपने स्वरूप का दर्शन नहीं कराता।

परम तत्व को उपनिषद् वाणी में बोधगम्य बताया गया है।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"

(वृहदारण्यकोपनिषद् - ४/५/६)

अनुवाद - आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और निदिध्यासान (ध्यान) करने योग्य है।

हमें प्रयास करके स्वयं को पात्र बनाकर परम तत्व का साक्षात्कार कर लेना व चाहिये तथा आवश्यक शर्तें जुटा लेना चाहिये। श्रुति देवी का कथन मान लेना चाहिए। पाथेय और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाते हुए -

"तेषामसौ बिरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥"

(प्रश्नोपनिषद् - १/१६)

अनुवाद - जिनके मन में न तो कुटिलता है और न झूठ है तथा न माया या कपट ही है। उन्हीं को वह विकाररहित विशुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है। परम तत्व की साप्रत्यता प्राप्त होती है।

११.१४ (अ) हमें नित्य ही विकारों से छुटकारा पाने के लिये महाभारत ग्रन्थ में वर्णित निम्न प्रक्रिया को अपनाते हुए स्वयं को विकार रहित बना लेना चाहिये।

"लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रकृज्यादात्मनो रजः।
बहुयत्नेन महता दोषनिर्हरणं तथा ॥"

(शां.प. २८०/१३)

अनुवाद - जैसे अपने शरीर में लगी हुई थोड़ी सी धूल को मनुष्य साधारण चेष्टा से खेल-खेल में ही झाड़-पोंछ देता है, उसी प्रकार बार-बार किये गये प्रयत्न से अपने महान् राग-द्वेष आदि दोषों को भी दूर कर सकता है।

पांसुभस्मकरीषाणां यथा वै राशयश्चिताः ।
सहसा वारिणासिक्ता न यान्ति परिभावनम् ॥
किञ्चित् स्निग्धं यथा च स्याच्छुष्कचूर्णयभावितम् ।
क्रमशस्तु शनैर्गच्छेत् सर्वं तत्परिभावनम् ॥
एवमेवेन्द्रियग्रामं शनैः सम्परिभावयेत् ।
संहरेत् क्रमशैश्चव सम्यक् प्रशमिष्यति ॥

(शांतिपर्व १९५/१७-१९)

अनुवाद - जैसे धूलि, भस्म और सूखे गोबर के चूर्ण की अलग-अलग इकट्ठी की हुई ढेरियों पर जल छिड़का जाय तो वे सहसा जल से भीगकर इतनी स्नेहासिक्त (तरल) नहीं हो सकती कि उनके द्वारा कोई आवश्यक कार्य किया जा सकें, क्योंकि बार-बार भिगोये बिना वह सूखा चूर्ण थोड़ा सा भीगता है, पूरा नहीं भीगता परन्तु उसको यदि बार-बार जल देकर क्रम में भिगोया जाय तो धीरे-धीरे वह गीला हो जाता है, उसी प्रकार साधक विषयों की ओर बिखरी हुई इन्द्रियों को धीरे-धीरे विषयों की ओर से समेटे और चित्त को ध्यान के अभ्यास के क्रमशः स्नेहयुक्त बनावें। ऐसा करने पर वह चित्त भली-भाँति शान्त हो जाता है, विकार रहित हो जाता है अर्थात् निर्मलता को प्राप्त कर लेता है।

(ब) मन का निर्मल होना तुला के सिद्धान्त (सन्तुलन का सिद्धान्त) से बन्धा हुआ है। यदि हम तुलाधार बनते है, तो मन निर्मल बना लेते है। पाथेय के सिद्धान्त का स्मरण हमें जीवात्मा होने का अनुभव कराता है। हम सदैव ही स्मरण करते है -

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।" (श्रीमद्भगवद्गीता १५/७)

अनुवाद - इस देह में यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है। इस प्रकार हम स्वयं के आत्मस्थ अग्नि रूप को स्मरण करते हुए "वैश्वानर स्वरूप को ही" अनुभव कर लेते हैं।

११.१५ परमतत्व के साक्षात्कार के लिये जीवन में सत्य को अपनाया जाना परम आवश्यक होता है -

"सत्येन लभ्यसतपसा ह्येष आत्मा" (मुण्डकोपनिषद् - ३/१/५)

यह आत्मा सत्य और संयम रूपी तप से प्राप्त किया जा सकता है । साकार ब्रह्मस्वरूप श्रीराम ने स्वयं कहा है - "रामो द्विर्नाभिभाषते ।" (वाल्मीकि रामायण - २/१८/३०) राम दो तरह की बात नहीं करता है । अर्थात् कथनी और करनी में भेद नहीं करता का ही अपना लेना चाहिये , स्वयं को पात्र बना लेने के लिये ।

"यह सुभचरित जान पै सोई । कृपा राम कै जापर होई ॥"

(श्रीरामचरित मानस - १/१९६/६)

हमें परम तत्व को जानने के लिये उसकी कृपा ही प्राप्त कर लेना चाहिये । उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुतिदेवी का कथन है - जो व्यक्ति असत्य का आचरण करता है या असत्य बोलता है, वह (व्यक्ति) जड़ मूल सहित वृक्ष की भाँति सुख जाता है (प्रश्नोपनिषद् - ६/१) । हमें जीवन में सत्य को अपनाकर स्वयं को निर्वैर बनाकर एवं निर्मल होकर परम तत्व को जान लेना चाहिये । परमात्मा का, ईश्वर रूप आत्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिये । जो सुगम है और अनुभवगम्य भी ।

"जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता । अनुभव गम्य भजहि जेहि संता ॥"

(श्रीरामचरितमानस - ३/१३/१२)

अनुवाद - परम तत्व, अक्षर ब्रह्म रुप आत्मा यद्यपि अखण्ड और अनन्त रूप हैं तथापि यह अनुभव गम्य है, इसे जाना जा सकता है । सन्त लक्षण को धारण करने वाले पुरुष इस परम सत्य का ही व्याख्यान करते है ।

परम तत्व के ज्ञात गुणों को अपनाकर हमें स्वयं ही पात्र बनकर पात्रता को प्राप्त कर लेना चाहिये । वरण का पात्र बन जाना चाहिये । स्वयं को ही वरण का पात्र बना लेना चाहिये ।

॥ हरि ॐ ॥

मन के बारे में

१२. १ (१) मन क्या है ? यह वर्णन करना दुष्कर कार्य है । मन की उत्पत्ति ईच्छा शक्ति से होती है और यह समस्त सृष्टि परमतत्व की ईच्छा का ही परिणाम है । **"स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति"** (ऐतरेयोपनिषद् - १/१) अनुवाद - 'उस परम तत्व पुरुष ने ईच्छा की कि मैं निश्चय ही सृष्टि की संरचना करुँ। अतः इच्छा शक्ति कर्मरुप में अभिव्यक्त करने वाले मन की क्षमताओं का या मन के स्वरूप का सर्वागींण विवेचन करना सामर्थ्य से परे है । हम यहां आत्मबोध की यात्रा या अक्षर ब्रह्म के स्वरूप को जान लेने की यात्रा को लक्ष्य करते हुए ही मन के बारे में कुछ जानने का प्रयास करेंगे । ताकि हम अपनी स्वयं की सामर्थ्य एवं गन्तव्य को ही जान सकें - अप्रत्यक्ष रूप में ।

१२.१ (२) इस समस्त सृष्टि का सृजन प्रकृति के आठ अंगों से हुआ माना गया है । जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में परम पुरुष श्रीकृष्ण द्वारा अष्टधा प्रकृति कहा है -

"भूमिरापोऽनलो वायुः रवं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीमं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥"

(७/४)

अनुवाद - "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है ।" इन आठ तत्वों में प्रथम पांच तत्व - भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश को पंच महाभूत कहा गया है । ये जड़ प्रकृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार को चेतन पुरुष को व्यक्त करने वाला माना गया है । मानव शरीर पांच महाभूतों के संयोग से बना है तथा इन महाभूतों के जड़ स्वभाव के कारण ही मानव देह को पार्थिव शरीर कहा जाता है । यह पार्थिव शरीर चेतन अंश के समाहित होने पर ही जीवन की संज्ञा प्राप्त करता है - **"जीवनं सर्वभूतेषु"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ७/९) । समस्त प्राणी परम पुरुष अक्षर ब्रह्म का ही अंश होकर इस जगत में जीवन धारण करते हैं -

"ममेवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।"

अनुवाद - इस संसार में (जीव लोक में) सभी प्राणि में जीवन का कारण मेरा सनातन अंश ही है । मेरी ही सनातन अभिव्यक्ति है । यह जीव तत्व इस

शरीर में अदृश्य रहता है किन्तु यह मन, बुद्धि और अहंकार द्वारा स्वयं के अस्तित्व को प्रगट करता है। मन, बुद्धि और अहंकार जीव तत्व की क्रमेण उच्च अवस्थाएं होती हैं। शरीर में रहकर यह जीव तत्व इस मन के द्वारा ही संपूर्ण शरीर से अर्थात् शरीर के प्रत्येक अवयव से जुड़ा रहता है।

१२.१ (३) सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का सृजन परम पुरुष के द्वारा प्रकृति के सहयोग से माना गया है। अर्थात् इस संपूर्ण सृष्टि के दो ही आधार हैं - प्रकृति और पुरुष। इनमें - पुरुष नर है चेतना से युक्त, रजो गुण को धारण करने वाला। प्रकृति जड़ है - यह मादा है तथा तमो गुण को धारण करने वाली है। दोनों के मिलने से सृष्टि सृजन के संकल्प से प्रथम उत्पत्ति या सृजन कार्य - मन का ही होना बताया गया है -

''महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः।'' (सांख्य दर्शन - १/३६)

''महत् तत्व का जो प्रथम सृजन कार्य है वह मन है।'' यह मन ही महत् मन कहा जाता है - यह ही महत् शरीर रूप भी माना जाता है। मन प्रकृति और पुरुष के संयोग से; उत्पन्न होकर - **''उभयात्मकं मनः''** (सांख्य दर्शन - २/२६) कहा गया है। यह मन-प्रकृति की जड़ता को तथा पुरुष की चेतनता को धारण करता है। इसी कारण इसे जातिय स्वरूप में नपुसंक कहा जाता है। मन अपने उत्पत्ति कर्ता प्रकृति और पुरुष दोनों के ही गुण धारण करता है - यह प्रकृति से विरासत में जड़ता तथा तमोगुण अर्थात् आलस्य और उपेक्षा को प्राप्त करता है, कायरता को प्राप्त करता है तथा पुरुष तत्व से - क्रियाशीलता, साहस तथा रजोगुण प्राप्त करता है। यह दोनों ही गुण संकल्प और विकल्प रूप में प्रगट होते हैं तथा दोनों ही गुणों के आधार पर यह उभयात्मक कहा जाता है। मन एक साथ प्रकृति और निवृत्ति के दोनों ही गुण रखता है। इनका वर्णन करते हुए संत कबीर द्वारा कहा गया है -

''जूझेंगे तब कहेंगे, अबहू कहा जाय।
का जाने मन मसखरा, लड़े किधो भगि जाय॥''

मन के सृजन कर्म के बाद प्रथम गुण प्रवृत्ति का प्रगटन होता है। जिसे - **''चरमोऽहङ्कारः''** (सांख्य दर्शन - १/३७) ''उस महत् के पश्चात् का कार्य अहंकार की उत्पत्ति है।'' परम तत्व का इस अहंकार को अपनाकर ही कर्म को प्रवृत्त होता है। सभी प्राणियों में, अर्थात् सभी भूत समुदाय में यह अहंकार ही प्रवृत्ति का लक्षण लिये होता है। यह ही कर्म का कारण या आधार बनता है, मन से जुड़कर। जिसे सांख्य दर्शन में - **''अहंकारः कर्ता न पुरुषः''** (६/५४)। अनुवाद - ''अहंकार ही कर्ता है, पुरुष तत्व कर्ता नहीं है'' कहा गया है। इस प्रकार देहस्थ होकर भी परम तत्व या अक्षर ब्रह्म स्वयं

अकर्ता ही बना रहता है, जिसे सांख्य दर्शन म - **"असङ्गोऽयं पुरुषः इति"** (१/१५) "यह पुरुष असंग ही है" कहा गया है। देह में रहकर भी यह अकर्ता ही बना रहता है और अपने इस अकर्ता स्वरूप के कारण ही यह कर्म के बंधनों से मुक्त रहता है। इस अवस्था को आधारभूत रूप में प्रगट करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥"

(३/१९)

अनुवाद - "इसलिये तू निरंतर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्य कर्म को भली-भांति करता रह। क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।" इस प्रकार अनासक्त रूप से किया गया कार्य स्व-स्वरूप से ही जुड़ जाने का कारण बनता है।

१२.१ (४) कर्म की प्रवृत्ति में निर्णय की आवश्यकता होती है और इसी क्रम में बुद्धि की संरचना प्रगट होती है। जिसका परिचय देते हुए - **"अध्यवसायो बुद्धिः"** (सांख्य दर्शन - २/१३) "निश्चय करने वाली वृत्ति बुद्धि है" कहा गया है। बुद्धि का गुण विवेक, संयम, धैर्य तथा निश्चय से युक्त होना है। इस प्रकार मन, बुद्धि और अहंकार तीनों ही पृथक्-पृथक् अपने गुण या लक्षण रखते हैं - **"त्रयाणां स्वलक्षण्यम्"** (सांख्य दर्शन - २/३०) मन का गुण उभय रूप होकर संकल्प और विकल्प से युक्त होना, बुद्धि का गुण निश्चयात्मिका होना तथा अहंकार का गुण अभिमान से युक्त होना, सांख्य दर्शन में बताये गये हैं। इन तीनों तत्वों के, यह तीनों गुण ही अन्य सभी शास्त्रों में मान्य किये जाकर इनकी व्याख्या की गई है। मन द्वारा जब बुद्धि के गुण अपनाये जाते हैं, तो यह सत्व गुण की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। बुद्धि के गुणों को अपनाकर मन अधोगामी होने से बचता है और इन्हीं गुणों को अपनाकर अतिशयता से भी स्वयं को बचा लेता है। मन, धैर्य या संयम या विवेक या निश्चय को अपनाकर दोनों ही अवस्था अर्थात् अधोगामी होने या अतिशयता से स्वयं को बचाता है और इसी आधार पर सत्व गुण अपनी पृथकता धारण करता है तथा पृथक् रूप से पहचाना जाता है।

१२.१ (५) अहंकार जब बुद्धि की सीमाओं को छोड़कर मन द्वारा प्रगट होता है, तो यह ही अभिमान बन जाता है। जिसे - **"अभिमानोऽहंकारः"** (सांख्य दर्शन - २/१६)। अनुवाद -'पुरुष शरीर में अभिमान वृत्ति ही अहंकार है" कहा गया है। इस प्रकार परम तत्व का (अहम् तत्व का) अंश इस मानव शरीर में आकर दो अवस्थाएँ धारण कर लेता है। एक अंश तो बुद्धि से पर

होकर अर्थात् श्रेष्ठ होकर बुद्धि का प्रणेता बनता है तथा कर्म की प्रवृत्ति का आधार बनता है। दूसरी ओर यह मन से जुड़कर अभिव्यक्ति का आधार बन जाता है - भोग को अपना लेता है। अहं तत्व का कर्म की प्रवृत्ति वाला स्वरूप अच्छा माना गया है तथा अभिव्यक्ति वाला स्वरूप ही त्याज्य कहा गया है। अभिव्यक्ति वाले स्वरूप को त्यागने का उपदेश देते हुए, श्रीमद्भगवद्गीता में सद्गुरु श्रीकृष्ण द्वारा अपने शिष्य अर्जुन से कहा गया है - **''सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।''** (१२/१६) अनुवाद - ''जो व्यक्ति सभी प्रकार के कर्मो के आरंभ कर्ता की भावना को त्याग देता है, वह ही मेरा भक्त है। वह मुझे प्रिय है।'' तथा इसे ही स्व-स्वरूप से बोध प्राप्त कर लेने का आधार अर्थात् त्रिगुणमय प्रकृत्ति के बंधन से मुक्त होने का आधार बताया गया है।

''सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।'' (श्रीमदभगवद्गीता - १४/२५)

अनुवाद - ''जो व्यक्ति सभी प्रकार के कर्मो के आरंभ कर्ता की भावना को त्याग देता है। वह ही तीनों गुणों से परे चला गया है ऐसा कहा जाता है।'' अहंकार की अभिव्यक्ति वाले गुण को ही निंदनीय माना जाकर इसे मानव का शत्रु होना महर्षि कौटिल्य द्वारा कहा गया है - **''नास्त्यंहकारसमः शत्रु।''** (चाणक्य सूत्र - २८८) अनुवाद - ''अहंकार से बढ़कर मनुष्य का दूसरा कोई शत्रु नहीं है।''

मन की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये अभिमान वृत्ति को छोड़कर कर्मरत् ही हो जाना चाहिए। मन जब अहंकार प्रगट करता है, तो यह अपने गुणों को अभिव्यक्त नहीं करता है। यह अपनी निम्न अवस्था को प्रगट करते हुए ही अपने स्वामी अहम् तत्व का यशोगान करता है। चूँकि मानव शरीर में मन, बुद्धि और अहंकार तीनों ही तत्व पृथक्-पृथक् माने जाकर इनके गुण भी पृथक्-पृथक् ही होना मनीषियों द्वारा अनुभव किये जाकर व्यक्त किये गये हैं। अतः जब मन या कोई भी तत्व अन्य किसी तत्व के गुणों को अपनाता है, तो यह विकारयुक्त ही होता है। श्रेष्ठता से परिपूरित नही होता। इसी कारण मन जब भी अहं तत्व द्वारा किये गये कर्म की अभिव्यक्ति का साधन बनता है, तब-तब ही यह अहंकार को त्याज्य बना देता है। **सृजन कर्ता तत्व को ही मानव का शत्रु बना देता है।** और इस अहंकार तत्व के कर्म प्रणेता स्वरूप को भूल कर हम इसे त्याज्य मान लेते हैं और संपूर्ण मानवता को ही कर्म की विस्मृति का पाठ पढ़ाने लगते हैं।

१२.१ (६) मानव शरीर में मन, बुद्धि और अहंकार की यह तीनों ही अवस्थाएं अदृश्य होकर परस्पर जुड़ी होती हैं। इन्हें समझ लेने के लिये हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार दूध में दही और मक्खन समाया होता है, उसी

प्रकार मानव चेतना में यह तीनों ही गुण या तत्व समाये होते हैं। दूध विकारयुक्त होने का गुण रखता है। दही, मक्खन को प्राप्त करने का साधन बनता है और मक्खन स्वयं सार तत्व होता है। इसी प्रकार ये तीनों ही गुण मानव में समाये होते हैं। मानव शरीर में कुल २५ तत्व (पांच महाभूत, पांच तन्मात्राएं, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष) माने गये हैं। परम पुरुष २६ वां तत्व माना गया है। जिसे निर्विकार रूप या परम पुरुष कहा जाता है। मक्खन इस परम पुरुष रूपी घृत का ही विकृत रूप है। जो कि अहंकार के रूप में प्रगट होता है, मानव शरीर में रहते हुए। मानव शरीर में मन, बुद्धि और अहंकार की क्रियाशीलता को समझने के लिये यह कहना उपयुक्त होता है कि बाह्य जगत में जिस प्रकार दूध, दही और मक्खन पृथक्-पृथक् होते है, उसी प्रकार ये तीनों ही तत्व यद्यपि पृथक्-पृथक् होते हैं किन्तु यह परस्पर परिवर्तनीय बने रहते हैं। अर्थात् एक जीवात्मा ही यह तीनों गुण पृथक्-पृथक् धारण करने वाला होता है। आत्मबोध के प्रयास में इन तीनों ही गुणों से परे होकर शुद्ध स्वरूप घृत रूपी परम तत्व को ही प्राप्त कर लेना होता है। मक्खन में समाये हुए घृत के अस्तित्व को जान लेना होता है। व्यवहार में जब मनुष्य मन, बुद्धि और अहंकार को पृथक्-पृथक् धारण करता है, तो यह एक बार में एक ही तत्व के साथ होता है। अर्थात् मानव मन एक बार में एक ही तत्व के साथ होता है। जिसका वर्णन करते हुए वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है - 'मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए मैने नहीं सुना" (१/५/३)। बोध प्राप्ति के लिये जीवात्मा का मन से युक्त होकर ज्ञानेन्द्रियों से जुड़ना आवश्यक होता है। मन द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के मार्फत या स्वयं ही संकल्प विकल्प को अपनाकर बुद्धि की सहायता से जो निश्चय किया जाता है, वह ही जीवात्मा के लिये बोध बन जाता है। इस संलग्नता को प्रगट करते हुए, श्रुति देवी द्वारा उपनिषद् वाणी में कहा गया है -

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता " (कठोपनिषद् - १/३/४) भोक्ता॥

अनुवाद - आत्म तत्व मन और इंद्रियों से युक्त होकर ही भोक्ता होता है। मन की स्थिति को बताते हुए महाभारत ग्रन्थ में वर्णन किया गया है -

"चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः।
बुद्धिरध्यवसानाय क्षेत्रज्ञः साक्षिवत् स्थितः॥"

(शा.प. - १९४/१३)

अनुवाद - इंद्रियां विषयों को ग्रहण कराती हैं, मन संकल्प-विकल्प करता है। बुद्धि निश्चय कराने वाली है और क्षेत्रज्ञ आत्मा साक्षी की भांति स्थित रहता है।

१२.१ (७) अ - सृष्टि संरचना के क्रम में पंच महाभूतों से पंच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। - **"स्थुलात, पञ्चतन्मात्रस्य"** (सांख्य दर्शन - १/२७)। अर्थात् ये पांचों महाभूत अपने-अपने गुण तथा विषय धारण करते हैं। महाभूतों के इन गुणों अर्थात् तन्मात्राओं से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है और ज्ञानेन्द्रियां ही कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का आधार बनती हैं। सांख्य दर्शन में यह पंच तन्मात्राएं, दशेन्द्रियां एवं मन परम तत्व के अहंकार से ही उत्पन्न होना माने गये हैं - **"एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्।"** (२/१७) अनुवाद - मन सहित ग्यारह इंद्रिया (मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां) और पंच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध) अहंकार के कार्य हैं। महाभारत ग्रंथ में आये वर्णन के अनुसार पंच महाभूत, पंच तन्मात्राओं और दशेन्द्रियों का आश्रय स्थल या लय स्थान मन को होना माना गया है। तथा बुद्धि को अहं तत्व से या परमात्म तत्व से जुड़ा होना माना गया है -

महत्सु भूतेषु वसन्ति पञ्च पञ्चेन्द्रियार्थाश्च तथेन्द्रियाणि ।
सर्वाणि चैतानि मनोऽनुगानि बुद्धिं मनोऽन्वेति मतिः स्वभावम् ॥"

(शांतिपर्व - २०२/२१)

अनुवाद - पांचों इंद्रियों के पांचों विषय तथा पांचों इंद्रियां भी पंच सूक्ष्म महाभूतों में निवास करते हैं, ये शब्द आदि विषय आकाश आदि भूत तथा श्रोत आदि इन्द्रियां सब के सब मन के अनुगामी हैं। मन, बुद्धि का अनुसरण करता है और बुद्धि आत्मा का आश्रय लेकर रहती है।

"इंद्रियेभ्यो मनः पूर्वे बुद्धिः परतरा ततः ।
बुद्धेः परतरं ज्ञानं ज्ञानात् परतरं महत् ॥
अव्यक्तात् प्रसृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः ।
मनः श्रोत्रदिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति ॥"

(शा.प. - २०४/१०)

अनुवाद - इंद्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से ज्ञान श्रेष्ठतर है और ज्ञान से परात्पर परमात्मा श्रेष्ठ है। अव्यक्त परमात्मा से ज्ञान प्रसारित हुआ है, ज्ञान से बुद्धि और बुद्धि से मन प्रगट हुआ है। वह मन ही श्रोत आदि इन्द्रियों से युक्त होकर शब्द आदि विषयों का भली-भांति अनुभव करता है।

ब - इस प्रकार मानव देह में मन की दो स्थितियां हो जाती हैं। जिनके आधार पर आत्मतत्व भी दो भाग में जाना जाता है। एक देहात्म भाव पार्थिव शरीर और दशेन्द्रियों तथा इनके विषयों से जुड़ा हुआ और इनका सेवन करने वाला मन, जो जीवात्मा कहा जाता है तथा दूसरा परम तत्व के अंश रूपी अहं तत्व या अहंकार से जिसे ज्ञान भी कहा गया है। इससे जुड़ी हुई बुद्धि जो आत्मतत्व कही जाती है। यह दोनों ही तत्व एक साथ रहकर अपने पृथक्-पृथक् स्थितियों को धारण करते हुए, इस मानव देह में रहते हैं। यह एक ही जीवात्मा के दो रूप हो जाते हैं। इस शरीर में रहते हुए। देह धर्म से बंधा हुआ मन विषयों का भोग एवं सेवन करता है तथा दूसरा बुद्धि रूप अपने निरपेक्ष स्वरूप में ज्ञान से युक्त होकर परम तत्व का प्रतिनिधी बन जाती है। मन संकल्पशील होकर कर्म को प्रवृत्त होता है, कर्म का आधार बनता है। बुद्धि शांत अवस्था में स्थिर बनी रहती है। यह शांत और स्थिर अवस्था परम तत्व की होती है, जिसे - **''स्थाणुरचलोऽयं सनातनः** (श्रीमद्भगवद्गीता - २/२४) कहा गया है। इस स्थिरता और सनातन स्वरूप के आधार पर ही आत्मतत्व को जीवात्मा से पृथक् माना गया है। यह दोनों ही अवस्थाएं उपनिषद् वाणी में दो पक्षी के रूप में वर्णित की जाकर प्रगट की गई हैं -

''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥''

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् - ४/६)

अनुवाद - ''सदा एक साथ रहने वाले तथा सदैव ही परस्पर स्वभाव रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के (शरीर के कर्मरूपी) फलों को स्वाद ले-लेकर खाता है, दूसरा उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता है।'' मन शरीर में रहते हुए बुद्धि का अनुसरण करता है किन्तु अपने देह बंधन में यह पृथक् होता है। देह से बंधा हुआ मन ही जीवात्मा कहा जाता है। जिसे उपरोक्त मंत्र में फल खाता हुआ पक्षी बताया गया है। जब यह मन शांत अर्थात् निरपेक्ष हो जाता है। अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, जिसे कि सांख्य दर्शन में निर्विषय होना कहा गया है - **''निर्विषयं मनः''** (६/२५) तो यह बुद्धि में समाहित हो जाता है। यह मन का विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करना या विशुद्ध स्वरूप से युक्त होना ही प्रथम आवश्यकता होती है - आत्म बोध प्राप्त करने की यात्रा में। मन देह से जुड़ा हुआ, एक ओर तो विकार ग्रस्त बना रहता है, दूसरी ओर वह अपनी शुद्ध स्वरूप की स्थिति को भी धारण किये रहता है - ''हर दम और हम पल'' अर्थात् सदैव ही। किंतु मन का यह शुद्ध स्वरूप

सामान्यतः दृष्टिगोचर नहीं होता है। जब हम कोई करुण दृश्य देखकर करुणा से विगलित होते हैं, तो अश्रु कणों को प्रगट करके यह मन ही अपने शुद्ध स्वरूप का बोध करा देता है - स्वयं को ही और बता देता है - अपनी चाहत को अर्थात् करुणामय हो जाने को। इस प्रकार मन अपने उभय स्वरूप को ही प्रगट करता हुआ क्रियात्मक रूप में भी द्विविध बना रहता है। जिसका वर्णन करते हुए - मैत्री उपनिषद् में कहा गया है -

"मनस्तु द्विविधं प्रोक्त शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं काम सम्पृक्तं शुद्धं काम विविर्जितम् ॥"

अनुवाद - "मन दो प्रकार का है। उसकी दो दशाएं हैं। एक शुद्ध और दूसरी अशुद्ध। अशुद्ध वह है जो काम में लिप्त होता है और शुद्ध वह है जो काम से संयुक्त न हो।" सभी मनुष्य दोनों ही अवस्थाओं को एक साथ धारण करते हैं - अलग-अलग क्षेत्र में। और इनसे प्रभावित नहीं होते हैं। इस प्रकार मन का यह दो भाग होना ही आत्म साधना को दो भाग में बांट देता है। मन का काम या संकल्पयुक्त होना - **"सम्प्रज्ञात् समाधि या सविकल्प समाधि** का तथा काम से संपृक्त नहीं होना अर्थात् मन का शुद्ध स्वरूप **निर्विकल्प या निर्विषय समाधि** का आधार बनता है। यह मन सदैव ही दो भागों में बंटा होता है। हम इसके आधे भाग से ही जुड़े होते हैं - इस जगत में सांसारिक कर्म करते हुए। किंतु जब हम इसके विशुद्ध स्वरूप को जान कर बुद्धि में समाहित होकर अहम् तत्व से जुड़ जाते हैं, तो यह सुख-दुःख से मुक्ति का कारण बन जाता है। जिसे प्रगट करते हुए उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुतिदेवी कहती है -

"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशिया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥"

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् - ४/७)

अनुवाद - "शरीर रूपी समान वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा (संसार से जुड़ा हुआ मन) अपने दीन स्वभाव के कारण मोहित होकर शोक करता है। वह जिस समय अपने से भिन्न अपने स्वामी (ईशम्) को, उसकी महिमा को जान लेता है, तो सर्वथा शोक रहित हो जाता है।" आत्म साधना के क्रम में मन का शुद्ध स्वरूप धारण करके आत्म तत्व से जुड़ जाना ही शोक अर्थात् दुख मुक्ति का कारण बन जाता है। मन अपने शुद्ध स्वरूप में विकार रहित होता है किन्तु अशुद्ध स्वरूप में यह स्वयं विकार युक्त होकर, मलिन होकर अपने ही आधे भाग को आच्छादित किये रहता है जिस प्रकार कि धुंवा अग्नि को आच्छादित करके रहता है। यह ही इसकी विस्मृति होती है। मन इंद्रियों से

आच्छादित होकर ही भोक्ता बनता है। मन के शुद्ध स्वरूप को प्रगट करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

"इंद्रयाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥" (२/६७)

अनुवाद - "जल में जिस प्रकार वायु नाव को हर लेती है, उसी प्रकार यह मन जिस इंद्री के साथ विचरण करता है/रहता है। वह ही इसकी प्रज्ञा को, विशुद्ध स्वरूप को हरण कर लेती है।" और इन इंद्रियों से जुड़ा हुआ यह मन ही जीवात्मा के भोक्ता होने का आधार बन जाता है।

"श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चयं विषयानुपसेवते ॥ "

(श्रीमद्भगवद्गीता - १५/९)

अनुवाद - "यह जीवात्मा श्रोत, चक्षु और त्वचा, रसना, घ्राण, प्राण और इनके अधिष्ठाता मन को आश्रय करके ही विषयों का सेवन करता है।" हमें स्मरण रखना चाहिये कि दशेन्द्रियों की भोग क्षमता पृथक् से नहीं है। जीवात्मा मन तथा इंद्रियां तीनों ही जुड़कर भोग का साधन बनते है। **"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता।"** (कठोपनिषद् - १/३/४) मन की संलग्नता के अभाव में जीवात्मा द्वारा विषयानुभोग नहीं हो पाता है। वृहदारण्यकोपनिषद् में मन को ही श्रोता तथा देखने वाला कहा गया है। -

"अज्यवयना अन्यथमाऽभूवनादर्शम् अन्यत्रा अभूव नाश्रोषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रणोति"

(१/५/३)।

अनुवाद - "मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने नहीं देखा। मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने नहीं सुना। वह मन से ही देखता हैं और मन से सुनता है।" मन की इस विषय सेवन वृत्ति का वर्णन करते हुए ही - श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन द्वारा कहा गया है -

"चञ्चलम हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवदद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥"

(६/३४)

अनुवाद - हे कृष्ण, मन बड़ा ही चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है तथा बहुत ही दृढ़ और बलवान् है इसलिये उसका वश में करना में वायु की भांति दुष्कर मानता हूं।

१२.१ (८) आत्म साधना के क्रम में मन के इस आधे भाग को ही विशुद्ध करने की आवश्यकता होती है। जब हम आधे भाग को विकार से मुक्त कर देते है अर्थात् धुंए को हटा देते है, तो यह अपने शुद्ध स्वरूप को ही प्राप्त कर लेता है, अग्नि की भांति शुद्धता को ही प्राप्त कर लेता है। इस शुद्ध हुए मन की सामर्थ्य एवं गुणों का वर्णन करते हुए उपनिषद् वाणी में कहा गया है -

"यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिमतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवेतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥

(ऐतरेयोपनिषद् - ३/१/२)

अनुवाद - यह जो हृदय है वह ही मन भी है। सम्यक् ज्ञान शक्ति, आज्ञा देने की शक्ति, विविध रूप से जानने की शक्ति, तत्काल जानने की शक्ति, धारण करने की शक्ति, देखने की शक्ति, धैर्य, बुद्धि, मनन शक्ति, वेग (जूति) स्मरण शक्ति, संकल्प शक्ति, मनोरथ शक्ति, प्राण शक्ति, कामना शक्ति, स्त्री संसर्ग आदि की अभिलाषा, इस प्रकार ये सब के सब, स्वच्छ ज्ञान स्वरूप परमात्मा के ही नाम और उसकी सत्ता के बोधक लक्षण है। मन अपने शुद्ध स्वरूप में इन सबको ही धारण करता है। वृहदारण्यकोपनिषद् में काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणा शक्ति), अधृति (विस्मृति), लज्जा, विचार युक्त बुद्धि (धीः) और भय ये सब के सब मन, कहे गये हैं। (१/५/३) महाभारत ग्रंथ में मन और बुद्धि के गुण पृथक्-पृथक् बताये गये हैं। बुद्धि का वर्णन करते हुए कहा गया है -

"दृश्यं पश्यति यः पश्यन् स चक्षुमान् स बुद्धिमान्।
अज्ञातानां च विज्ञानात् सम्बोधाद् बुद्धिरुच्यते ॥"

(महाभारत, शांतिपर्व - १७/२१)

अनुवाद - "जो स्वयं दृष्टा रूप से पृथक् रहकर इस दृश्य प्रपञ्च (जगत) को देखता है, वही बुद्धिमान है। अज्ञात तत्वों का ज्ञान एवं सम्यक् बोध कराने के कारण अन्तःकरण की एक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।" तथा इसके गुण -

"इष्टानिष्टविपत्तिश्चव्यवसायः समाधिता।
संशयः प्रतिपत्तिश्चबुद्धेः पंचगुणात् बिदुः ॥"

(शांतिपर्व - २५५/१०)

अनुवाद - इष्ट और अनिष्ट वृत्तियों का नाश, विचार, समाधान, संदेह और निश्चय ये पांच बुद्धि के गुण माने गये हैं।

तथा मन के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है -

"धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्चविसर्गः कल्पना क्षमा ।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥ "

(शांतिपर्व - २५५/९)

अनुवाद - धैर्य, तर्क-वितर्क में कुशलता, स्मरण, भ्रांति, कल्पना, क्षमा, शुभ एवं अशुभ, संकल्प और चंचलता ये मन के नौ गुण हैं।

वैशेषिक दर्शन में मन को अति सूक्ष्म **अणु रूप** (वै.द. - ७/१/२३) अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है । अपने इन्हीं गुणों के कारण मन को उपनिषद् वाणी में ब्रह्म ही कहा गया है तथा इसकी उपासना का उपदेश दिया गया है - **"मनो ब्रह्मेत्युपासीत्"** (छांदोग्योपनिषद् - ३/१८/१) । अनुवाद - मन ही ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना करें ।

१२.१ (९) इस प्रकार मन को इसकी क्षमताओं के आधार पर ही उपनिषद् वाणी में इसे ब्रह्म होना ही कहा गया है । मन के ब्रह्म रूप होने से इसमें वे सभी गुण आ गये हैं, जो कि ब्रह्म तत्व के होना कहे गये हैं । यह सभी गुण मन को अपनी उत्पत्ति के आधार पर मिले हैं । सांख्य दर्शन के अनुसार परम तत्व का प्रथम सृजन कार्य महत् मन हैं । शरीरस्थ मन भी महत् मन का ही अंश होकर इन सभी गुणों को धारण करता है तथा अष्टधा प्रकति के क्रम में अहंकार और बुद्धि से निम्न होकर भी साधना के क्रम में अन्ततः बोध प्राप्ति का साधन यह मन ही बनता है । तैतरियोपनिषद् में ब्रह्म को आकाश शरीर वाला अर्थात् सर्वत्र व्याप्त होना बताया गया है - "आकाश शरीरं ब्रह्म (१/६/४) आकाश रूप अर्थात् विशाल रूप जिसे कि भूमा होना कहा गया है को धारण करने के कारणब्रह्म रूप होने मे इस विराटता के कारण ही मन सर्वत्र जानेवाला - **"सर्वगतं मनः"** (महाभारत शातिपर्व - २१०/३१) माना गया है । आत्म तत्व अर्थात् ब्रह्म का अन्य प्रमुख लक्षण उपनिषद वाणी में बताया गया है -

"तदेजति तन्नेजति तद्द दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥"

(ईशावास्योपनिषद् - ५)

अनुवाद - "वह चलता है, वह नहीं भी चलता है । वह दूर है, सबके अंत में है और अत्यन्त समीप भी है । वह इस समस्त जगत के भीतर परिपूर्ण है और इस जगत में बाहर भी है ।" श्रीमद्भगवद्गीता में परमात्म तत्व का गुण - **"स्थाणुरचलोऽयम्"** (२/२४) अर्थात् अचल और स्थिर रहने वाला बताया गया है । यह सभी गुण मन धारण करता है ।

१२.१ (१०) सामान्यतः जब हम मन की चर्चा करते है तो केवल मन के चंचल, हठी, बलि, दृढ़ और प्रमथन स्वभाव से (श्रीमद्भगवद्गीता - ६/३४) से ही परिचित होते हैं। आत्मबोध अर्थात् अक्षर ब्रह्म को जानने के लिये जब हम आगे बढ़ने का प्रयास करते हैं तो हमें मन की उपरोक्त इन सभी क्षमताओं को स्मरण रखना चाहिये, जो कि मन के गुण होकर, मन की सामर्थ्य को, मन के कार्यक्षेत्र को तथा मन के स्वभाव को व्यक्त करते हैं। मन जब अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है तो वह पुनः इन्हीं गुणों की ओर आकृष्ट हो जाता है। अर्थात् जब मन आत्म बोध प्राप्त करने की साधना में विशुद्ध स्वरूप ग्रहण करता है, साधक के प्रयास द्वारा शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है, तो वह पुनः इनकी ओर आकृष्ट हो जाता है अर्थात् जागतिक धरातल की और ही आ जाता है, आत्म तत्व से जुड़ जाने के स्थान पर। जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर ने कहा है -

"कबीर मन पंखी भया, उड़िके चढ़ा अकासि।
उइं ही ते गिरी बढ़ा, मन माया के पासि॥"

(कबीर साखी - मन को अंग - २५)

१२.१ (११) मन की इस शुद्ध और अशुद्ध अवस्था को जिसका कि वर्णन मैत्री उपनिषद् में किया गया है अर्थात् मन को शुद्ध एवं अशुद्ध दो भागों में बंटा होना बताया गया है तथा जैसा कि पूर्व वर्णन में स्पष्ट किया गया है कि मन का आधा भाग तो सदैव शुद्ध रहता है तथा आधा ही विकारयुक्त होकर स्वयं को आच्छादित कर लेता है। धुंआ द्वारा आच्छादित की गई अग्नि की भांति इसे हम चुंबकीय छड़ के उदाहरण से आसानी से समझ सकते हैं। यह उदाहरण आगे चलकर हमारे लिये मन के विभिन्न कोष अर्थात् अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष की चर्चा में तथा इन्हें समझ लेने में भी सहायक होगा। अतः हम आरंभतः ही इसकी चर्चा करते हुए साथ-साथ आगे बढ़ेंगे।

१२.१ (१२) किसी भी चुंबकीय छड़ में अनिवार्यतः दो ध्रुव होते हैं - जिन्हें उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव कहा जाता है। छड़ एक होकर भी उपरोक्त दो ध्रुव अर्थात् चुंबकीय शक्ति के गुण धारण करने के कारण ही चुंबक रूप में दो भाग में जानी जाती है तथा इन्हीं गुणों के कारण वह दिशा बोधक होती है। मन की साम्यता चुंबकीय छड़ से पूर्ण रूप में होना पाई जाती है। मन की क्रिया शक्ति के दो छोर हैं। एक छोर है - जागतिक धरातल पर श्रेष्ठता प्राप्त करता तथा दूसरा छोर है आत्म बोध प्राप्त कर लेना जिन्हें प्रेय और श्रेय कहा गया है। इस प्रकार यह ही इसके प्रवृत्त होने की दो दिशाएं होती हैं।

यह दोनों ही छोर अपरा विद्या तथा परा विद्या को प्रगट करने वाले होते हैं तथा दोनों ही भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि की मांग करते हैं तथा अपना क्रियाक्षेत्र भी भिन्न-भिन्न रखते हैं। इस भिन्नता की हम चुंबकीय छड़ के दक्षिणी ध्रुव और उत्तरी ध्रुव से भली-भाँति तुलना कर सकते हैं। मन जब सांसारिक धरातल पर होता है, तो यह दक्षिणी ध्रुव पर होता है। जागतिक धरातल पर संपूर्ण शक्ति से जुड़ा होता है।

चुम्बकीय छड़

मन जब शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है, तो यह विकार रहित होकर अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थित होता है। विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर वह दोनों ही और अर्थात् पुनः जागतिक धरातल पर लौटना या आध्यात्मिक जगत की ओर आगे बढ़ना इन दोनों ही मार्ग के बीच में (दो राहे पर) होता है। यह स्थिति चुंबकीय छड़ के मध्य बिंदु जैसी ही होती है। चुंबकीय छड़ के मध्य बिंदु पर रखी गई चुंबकीय सुई को ध्रुवीय क्षेत्र में ले जाने के लिये थोड़ा आगे खिसकाने की आवश्यकता होती है। यदि प्रयोगशाला में नवागंतुक छात्र का चुंबकीय छड़ के साथ चुंबकीय सुई का परिचय कराया जाये और यदि दूसरे ध्रुव की जानकारी नहीं दी जाये तो वह चुंबकीय छड़ के परिचित कराये गये ध्रुव की जानकारी नहीं दी जाये तो वह चुंबकीय छड़ के परिचित कराये गये ध्रुव से आगे बढ़कर मध्य बिंदु पर आकर पुनः लौट जाना चाहेगा। यह ही अवस्था होती है - साधक मन की प्रथम बार शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेने पर जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर द्वारा मन का उड़ कर आकाश में पहुंच जाना तथा वहां से पुनः जागतिक धरातल पर गिर जाना - **"उहां ही ते गिरी पढ़ा"** कहा गया है। विशुद्ध अवस्था प्राप्त करके जब मन मध्य बिंदु पर पहुंचता है, तो यह मन की मनोमय कोष की अवस्था होती है। यह बीच की अवस्था है मनोमय कोष से पूर्व अन्नमय कोष तथा प्राणमय कोष की अवस्था होती है तथा बाद की अवस्थाएं विज्ञानमय कोष तथा आनन्दमय कोष की होती है जो निम्न चित्र के अनुसार बतायी जा सकती हैं।

जिस प्रकार मध्य बिंदु पर स्थित चुंबकीय सुई को उत्तरीय ध्रुव क्षेत्र में ले जाने के लिये भी मार्ग दर्शन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मन को विज्ञानमय कोष में ले जाने के लिए या पराविद्या क्षेत्र में ले जाने के लिये परामर्श की आवश्यकता होती है। मन के विज्ञानमय कोष में ले जाने का आधार यौगिक क्रियाओं से युक्त सुषुम्ना नाड़ी का जागरण होता है। साथ ही यह मूलाधार चक्र का जागरण होता है। आत्म बोध की यात्रा में सुषुम्ना नाड़ी के जागरण तथा मूलाधार चक्र के उत्थान में तुला का सिद्धांत सहयोगी होकर **"कारण भूत आधार"** होता है। संतुलन का सिद्धांत अपनाते हुए अर्थात् स्वयं तुलाधार बनकर हम मन को स्वच्छ और निर्मल बनाये रख सकते हैं। परम तत्व का बोध मन के द्वारा ही किया जा सकता है। **"मनसैवेदमऽऽपतव्यं"** (कठोपनिषद् - २/१/११) अनुवाद - "मन से ही परम तत्व का बोध प्राप्त किया जा सकता है तथा मन से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है"।क्योंकि परमतत्व का बोध मन के द्वारा ही प्राप्त होता है अतः जिस प्रकार मध्य बिंदु पर स्थित चुंबकीय सुई को उत्तरी ध्रुव क्षेत्र में ले जाने के लिये उसे आगे खिसकाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मन को विज्ञानमय कोष में ले जाने के लिये, परा विद्या क्षेत्र में ले जाने के लिये भी मार्ग दर्शन की तथा स्वतः प्रयास करने की आवश्यकता होती है। परम तत्व के गुण धारण करने वाले - अदृश्य, अगाह्य, अगोत्र, अवर्ण, अपणिपाद, नित्य, विभू, सर्वगत, अव्यय और अत्यन्त सूक्ष्म मन को विज्ञानमय कोष में ले जाने का आधार यौगिक क्रियाओं से युक्त प्रयास या तपस्वी मन से युक्त सद्गुरु की कृपा के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का जागरण होता है, इसके साथ ही यह मूलाधार चक्र का जागरण होता है जो मन को विज्ञानमय कोष में ले जाने का कारण बनता है। मन को परा विद्या के क्षेत्र में पहुंचा देता है।

१२.१ (१३) मन की अशुद्ध अवस्था और शुद्ध अवस्था दक्षिणी ध्रुव पर स्थित अवस्था और उत्तरी ध्रुव पर स्थित अवस्था को समझ लेने में संत कबीर का यह पद हमारी मदद करता है। -

''पहले मनवा काग था, करता जीवन घात ।
अब मन हंसा भया, मोती चुगी-चुगी खात ॥

संत कबीर का यह पद मार्गदर्शक रूप में संपूर्ण व्याख्या करता है - मन की अशुद्ध अवस्था और शुद्ध अवस्था की । हमें इसी आधार पर मन के संसार से जुड़े हुए, विकार युक्त तमसाच्छादित, आधे भाग को और आत्मलीन मन के विशुद्ध आधे भाग को जान लेना चाहिये - मन की यह दोनों अवस्थाऐं ही - बर्हिमुखी मन और अन्तर्मुखी मन कही जाती हैं । बहिर्मुखी मन अपरा विद्या से जुड़कर अधोगति को प्राप्त करता है तथा अन्तर्मुखी मन परा विद्या से, परम तत्व से जुड़कर उर्ध्वगति प्राप्त करता है । यह ऊर्ध्वगति वाली अवस्था ही ''उत्मती'' कही जाती है, जो अपभ्रंश अर्थात् मुख सुविधा आधार पर मन की उनमनी अवस्था कही जाती है । परम तत्व का बोध प्राप्त करने की, आत्म तत्व का बोध प्राप्त करने की विज्ञानमय कोष की अवस्था ही मन की **उनमनी** अवस्था होती है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में परम तत्व अक्षर ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण द्वारा मन को अपना ही प्रतिरूप कहा गया है - **''इंद्रियाणां मनश्चास्मि''** (१०/२२) । अनुवाद - ''इंद्रियों में मन में स्वयं हूं ।'' उपनिषद् वाणी में मन के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रुति देवी कहती है -

''मनो ब्रह्मेति व्यजानात् । मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायंते ।
मनसा जातानि जीवन्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंविशंतीति ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् - ३/४/१)

अनुवाद - ''मन ब्रह्म है, इस प्रकार जाना गया । क्योंकि निश्चय ही यह ये समस्त प्राणी मन से ही उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होकर मन के द्वारा ही जीवित रहते हैं और अंत में प्रयाण करते हुए मन में ही लीन हो जाते हैं ।'' इस प्रकार मन ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति तथा जीवन का कारण होता है तथा मृत्यु उपरांत भी सभी प्राणी महत् मन में ही समा जाते हैं तथा कर्म और फल सिद्धांत आधार पर पुनः पुनः जन्म लेते हैं । अपनी स्वयं की चिंतना के आधार पर । ऋग्वेद में आये वर्णन अनुसार (पुरुष सुक्त) चंद्रमा की उत्पत्ति विराटपुरुष के मन से मानी गई है । - **''चंद्रमा मनसो जातः''** (पुरुष सुक्त १२) चंद्रमा उत्पन्न होकर सोलह कलाओं से युक्त हो गया है । यह १६ कलाओं वाले गुण मन भी धारण करता है । मन जब प्रफुल्लित होता है तो यह पूर्णिमा के चंद्रमा की भांति ही चमकता है, आलोकमय होता है किंतु जब निराशा को अपनाता है तो यह अमावस्या की काल रात्रि की भांति अंधकारमय हो जाता है । यह निराशामय मन आत्मघात करके अपनी मूलावस्था को अर्थात् महत् मन, मन

के प्रगट होने के पूर्व वाली अंधकारमय अवस्था को ही प्राप्त कर लेना चाहता है। अतः निराशा से ग्रसित मन के लिये जीवन दायी विचारों की, प्रकाशवान् मार्ग की प्रबल आवश्यकता होती है। मन की उत्पत्ति सृष्टि के सृजन क्रम में पुरुष और प्रकृति का प्रथम सृजन कर्म रूप में हुई है। मन, प्रकृति और पुरुष दोनों के ही गुण उभयात्मक स्वरूप में धारण करता है, इसी कारण यह नपुंसक कहा जाता है। मन जब निराशा में होता है तो यह जड़ता को प्राप्त करके जड़ प्रकृति में ही लीन हो जाना चाहता है। इस अवस्था में गये मन को लौटा लिये जाने का आधार इसके उभय रूप अर्थात् "पुरुषत्व" रूप का स्मरण कराना कारगर उपाय होता है। निराशा से ग्रस्त मन को "नामर्द" कहा जाना नहीं सुहाता है, यह मात्र इस शब्द प्रभाव से ही अपने स्वरूप को स्मरण करता है और प्रकाश की ओर लौटने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। मन जिस प्रकार जड़ता का गुण प्रकृति से प्राप्त करता है, उसी प्रकार क्रियाशीलता का गुण परम पुरुष से प्राप्त करता है। परम पुरुष क्रियाशील होने पर ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म का प्रगटन आरंभिक रूप में चार पाद रूप में होता है। छांदोग्योपनिषद् में आये वर्णन के अनुसार ब्रह्म के प्रगटन के चार पाद - प्रकाशवान् होना, अनंतवान् होना, ज्योतिष्मान् होना तथा आयतनमान् होना (४/५-९) बताये गये हैं। मन इन चारों ही गुणों को धारण करता है। प्रकाशवान् होकर यह जीवन का आधार बनता है, अनंतवान् होकर (सर्वगत) स्वरूप धारण करता है। जोतिष्मान् होकर व्यक्ति को ख्यातियुक्त अर्थात् महिमावान् बनाता है तथा आयतनमान् होकर पहचान का आधार बनता है और स्वभाव रूप में जाना जाता है। इस प्रकार मन ही सृजन कर्म में सर्वत्र और सर्वरूप होकर अभिव्यक्त होता है तथा अपने अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष अवस्थाओं से जुड़कर सृष्टि का आधार बन जाता है। सृष्टि को निरंतर बनाये रखता है।

१२.१ (१४) अ - मन की कार्यक्षमता एवं सामर्थ्य का वर्णन हमें यजुर्वेद में आये शिव संकल्प सूत्रों में मिलता है। आचार्य कहते हैं कि -

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति देवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगम ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥"

(३४/१)

अनुवाद - जो जाग्रत अवस्था में दूर-दूर तक गमन करता है और सुप्तावस्था में भी वैसा ही करता है अर्थात् स्वप्न का कारण बनता है - वह दूरस्थ स्थानों पर पहुंचने वाला पथ प्रदर्शकों का भी एकमात्र पथ-प्रदर्शक आत्मरूप मेरा मन शिवसंकल्प अर्थात् आत्मबोध कराने वाले विचारों से युक्त होवें। (इस मंत्र

को समझ लेने में कठोपनिषद् का मंत्र क्रमांक - २/१/४ हमारी मदद करता है।)

"येन कर्माण्यणसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदेथेषु धीराः।
यदपूर्वम् यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (२)

अनुवाद - कर्म करने के विचारों से परिपूर्ण जिस मन द्वारा मनीषिगण स्मार्त कर्म आदि करते हैं। (यज्ञः कर्म समुद्भवम् श्रीमद्भगवद्गीता - ३/१४) तथा वाद-विवाद में और युद्ध में भी धैर्यवान् बने रहते हैं या जानकारों के मध्य में भी धैर्यवान् बने रहकर अर्थान्वेषण करते हैं और मूल अर्थ को प्राप्त कर धैर्यवान् बने रहते हैं। जो मन अपूर्व रूप से प्रजाओं में दृढ़ धारणा का या दृढ़ विश्वास का आधार बनता है, वह मेरा मन कल्याणकारी आत्मबोध कराने वाले विचारों से युक्त होवे।

"यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिरंतरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (३)

अनुवाद - जो प्रजाओं में अंतः ज्योति बनकर या आत्म ज्योति बनकर अमृत रूप, नाशरहित, चेतना और धारण शक्ति का आधार बनता है तथा सदसत् विवेक से परिपूर्ण या ब्रह्म में आस्था रखने वाला बनता है। जिस मन के न रहने पर कोई भी कर्म करते नहीं बनता, वह मेरा मन आत्म ज्योति से संपन्न होकर कल्याणकारी आत्मबोध कराने वाले विचारों से परिपूर्ण होवें (इस मंत्र के आशय को समझने में वृहदारण्यकोपनिषद् का मंत्र - ४/३/६ तथा श्रीरामचरितमानस की चौपाई-आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा ७/११८/२) हमारी मदद करती है।)

"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥" (४)

अनुवाद - जिस मन के द्वारा संपूर्ण भुवन मंडल, भूतकाल में और भविष्यकाल में भी कल्याणकारी रूप में, अविनाशी रूप में, ग्रहण किया जाता अर्थात् सभी प्राणियों द्वारा जीवनदायी रूप में स्वीकार किया जाता है और जिस मन के द्वारा सातों छंदो को धारण करने वाले होता गण यज्ञ कर्म को पूरा करते हैं। यज्ञ कर्म को फैलाते हैं, कामनाओं को पूर्ण करने वाला बनाते हैं या स्वर और राग को अपनाकर फैलाते हैं तथा कर्म को इष्ट पूर्ति करने वाला बनाते हैं। वह मेरा मन अमृतमय विचारों से परिपूर्ण होकर आत्मबोध कराने वाला होवें। (इस मंत्र के आशय को समझने में मुण्डकोपनिषद् का मंत्र क्रमांक २/१/८ हमारी मदद करता है।)

" यस्मिन्नृचः साम यजूँ षि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (५)

अनुवाद - जिस मन में ऋचाओं से परिपूर्ण ऋग्वेद (वृहदता से तात्पर्य है) सामवेद, यजुर्वेद, राग और स्वर ज्ञान के साथ रथ में जुड़े हुए अरों के समान प्रतिष्ठित हैं और जिस मन में सभी प्राणियों के चित्तानुकूल विचार प्रतिष्ठित हैं अर्थात् जो सबके हित साधक विचारों से परिपूर्ण है, वह मेरा मन आत्म बोध कराने वाले शिव संकल्प से युक्त होवें ।}

"सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेद्र भीशुविर्वाजिनअ् इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (६)

अनुवाद - जिस प्रकार उत्तम सारथि घोड़ों को नियंत्रण में रखकर सही मार्ग पर गति पूर्वक चलाता है, उसी प्रकार जो मन मनुष्यों के इंद्री रूपी अश्वों की लगाम धारण करने वाला अर्थात् चलाने वाला और लक्ष्यों तक पहुंचाने वाला हृदय में रहता हुआ वह जरा रहित और वेगवान् मेरा मन आत्मबोध कराने वाला होकर शिवसंकल्पों से युक्त हो । (इस मंत्र के आशय को समझ लेने में कठोपनिषद् के मंत्र क्रमांक - १/३/३-४ व९ हमारी मदद करते हैं ।)

ब मन के स्वरूप को प्रगट करने वाले ऋग्वेद मंडल दस, सुक्त ५८ में आये मंत्र मन के चंचल स्वरूप तथा उसके परिणामों को प्रगट करते हैं इस सुक्त में आये मंत्रों के अनुसार दूर गये मन को मानस रोग माना गया है तथा उसे वापस जीवनदायी रूप में लौटा लाने का संकल्प किया गया है । निम्न मंत्र मन की चंचलता के या दूर गये होने और रागद्वेष के परिणामों को व्यक्त करनेवाले हैं -

"यत्ते मरीचीः प्रवत्तों मनो जगाम दुरकम् ।
तत्तऽऽवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥"

अनुवाद - यह जो मृग-मरीचिका रूपी तृष्णाओं के पीछे मन बहुत दूर चला गया है और जीवन को क्षय कर रहा है वह पुनः लौट आवें । जीवनयापन को सुखदायी बनाने के लिये ।

"यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् ।
तत्तऽऽवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥"

अनुवाद - "भविष्य की कल्पना करता हुआ मन बहुत दूर चला गया है । भूतकाल की घटनाओं से बंधकर जो पीछे चला गया है, इस प्रकार जो जीवन को क्षय कर रहा है वह सुखमय जीवनायापन करने हेतू वापस लौट आवे ।"

अर्थात् हम वर्तमान से जुड़कर जीवन को सुखदायी बनायें। हम भूतकाल की घटनाओं को स्मरण करके दुःखी होते हैं और भविष्य की कल्पनाओं से बंधकर संग्रह वृत्ति अपनाकर जीवन को कष्टमय बना लेते हैं। इन्हीं भूतकाल एवं भविष्यकाल की संलग्नता को छोड़कर मन के वर्तमान से जुड़ जाने की आवश्यकता व्यक्त की गई है - इन मंत्रों में।

१२.१ (१५) 'अ' भविष्य की सुखमय कल्पनाओं में दूर गये मन द्वारा अपनाई जा रही संग्रहवृत्ति को कष्टमय मानता हुआ ईशावास्योपनिषद् का यह मंत्र भूत और भविष्य की चिंताओं से मुक्त करने वाला है। -

"ईशा वास्यमिदँ सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ (१)

अनुवाद - इस जगत में जो कुछ भी जड़ और चेतन रूप है, वह सभी ईश्वर रूप होकर ईश्वर के अनुशासन से परिचालित है। (ईश् धातु अर्थ अनुसार) अतः इन सभी का त्याग की भावना से परिपूर्ण होकर उपभोग करो। आसक्त मत होओ। किसका है यह धन ? अर्थात् ये धन किसी का नहीं है।

हम जगत की गतिशीलता को स्मरण रखकर वर्तमान से जुड़ जावें, इसे ही संवारने का प्रयास करें और जीवन को सुखदायी बना लेवें। हम भूतकाल से व्यथित न हो और भविष्य की कल्पनाओं से बंधकर धन को संग्रह का आधार नहीं बनावें, वर्तमान को दोषपूर्ण नहीं बनावें। यह ही संदेश है उपरोक्त मंत्रों का। प्राचीन काल में राजपुरुषों द्वारा इन मंत्रों का अनुपालन किया जाकर अपना सर्वस्व अर्थात् समस्त धन प्रतिवर्ष दान किया जाकर सभी के जीवन को सुखदायी बनाया जाता रहा है। चीनी यात्री फाह्यान ने अपनी यात्रा संस्मरणों में इसका उल्लेख किया है। यह परम्परा गुप्तकाल तक रही है। आवश्यकता है - आज भी हम इस **वेदोक्त सत्य** को समझें और इसे आचरण में ले आवें। श्रीरामचरितमानस् में दूषित विचारों को ही समस्त रोगों का मूल बताया गया है -

"मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहि बहु सूला॥"

(७/१२१/२९)

हम इस मोह से अर्थात् भूतकाल और भविष्यकाल के मोह अर्थात् राग और द्वेष से बचे रहें, मन को वर्तमान से जोड़े रहें और जीवन को सुखदायी बना लेवें।

'ब' वैदिक वाङ्मय में मन को ही कारण भूत बताया जाकर जीवन का आधार बताया गया है। हमें मन की विशाल सामर्थ्य तथा इसके गतिवान्

स्वरूप को तथा लिप्त होने और लिप्त न होने के आधार को भली-भांति जान लेना चाहिये । मन बहिर्मुखी होकर लिप्त होता है, वह जीवांश से बंधकर ''यह मेरा है, यह मेरा है'' की भावना से जुड़ता है । इन विचारों से बंध जाता है । किंतु अंतर्मुखी होकर जब यह अपना सर्व रूप देखता है, तो यह मन ''यह'' को भूल कर संपूर्ण को ही अपना समझता है । यह ही **''भूमा''** स्वरूप है - **मन का** । जब मन स्वयं को ही सर्वरूप समझता है और सर्व को ही अपना मानता है, तो यह मन की **आत्मानुभूति** होती है । आत्मतत्व का ही बोध होता है । सर्व रूप अनुभव करके मन व्यवहारिक धरातल पर भी निर्विषय बना रहता है । अपने सर्वरूप का बोध करके मन निर्विषय हो जाता है । यह मन का शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेना है - **अहर्निश कर्मरत** रहते हुए भी ।

१२.१ (१६) मन की सामर्थ्य तथा कार्य क्षमता को जान लेने में निम्न सुक्तियां भी हमारा मार्ग दर्शन करती हैं -

''य उ स्वयं वहते सो अरं करत् ।

(ऋग्वेद - ५/४४/८)

अनुवाद - अपने मन से ही काम को करने वाला उसे ठीक तरह से करता है ।

''अनुब्रुवाणो अध्येति, न स्वप्न स्वपन् ।

(ऋग्वेद - ५/४४/१३)

अनुवाद - अभ्यास से ही मनुष्य सीखता है न कि सोते हुए ।

''यो जागार तमृचः कामयंते यो जागार तमु सामानि यन्ति ।''

(ऋग्वेद ५/४४/१४)

अनुवाद - जो जागृत अर्थात् मन से सचेतन है, उसकी ऋचाएं कामना करती हैं - सामानि - ईश्वर गान उसके पास आता है ।

''मनसा वा इदं सर्वमाप्तम् ।''

(श. ब्रा. - १/७/४/२२)

अनुवाद - यह सब कुछ मन से प्राप्त किये जाने योग्य है ।

''स मनसा ध्यायेद् - यद्वाऽहं किंचन मनसा ।
ध्यास्यामि तथैव तद्भविष्यति । तद्ध स्म तथैव भवति ॥

(गो. ब्रा. १/१/९)

अनुवाद - वह मन से ध्यान करता है ''यदि में मन से कोई विचार करूंगा वह वैसा अवश्य ही होगा । वह बिल्कुल वैसा ही होता है ।

'' न ह्युक्तेन मनसा किंचन संप्रति शक्नोति कर्तुम् ।

(श.ब्रा. ६/३/१/१४)

अनुवाद - अधूरे मन से कोई, किसी भी कार्य को ठीक तरह से नहीं कर सकता।

"न चलिचित्तस्य कार्यावाप्तिः।"

(चाणक्य सूत्र - १०३)

अनुवाद - चंचल चित्त वाले व्यक्ति की कार्य सिद्धि नहीं होती है।

"यदेतद् हृदयं मनश्चैतत्।"

(ऐतरेयोपनिषद् - ३/२)

अनुवाद - यह जो हृदय है वह ही मन है।

"मनो वे सम्राट परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपासते ॥"

(वृह.उप. ४/१/६)

अनुवाद - हे सम्राट ! मन ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना अर्थात् धारणा करता है, उसे मन नहीं त्यागता। सभी भूत समुदाय उसकी अभिरक्षा करते है वह देवता होकर देवों को प्राप्त होता है।

१२.२ (१) मन की उत्पत्ति परम तत्व की क्रिया शक्ति से होती है। यह परम तत्व का ही क्रियात्मक रूप होता है किन्तु इसका कार्य क्षेत्र पंचमहाभूतात्मक सृष्टि होता है। यह ज्ञानेन्द्रियों से जुड़ा होता है तथा कर्मेन्द्रियों की सहायता से पंच महाभूतों का रस ग्रहण करता है। रस ग्रहण की इस क्रिया को **सुख** की संज्ञा दी गयी है। सभी सुख इन्द्रिय भोग से जुड़े होकर तथा पंचभूतात्मक प्रकृति पर आधारित होकर अस्थायी होते हैं किन्तु जब यह मन आत्मा से जुड़ जाता है, उर्ध्वमुखी हो जाता है तो इसकी अनुभूति को **आनन्द** कहा जाता है। यह जगत से जुड़कर सुखानुभुति और आत्मतत्व से जुड़कर आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। इन दोनों अवस्थाओं से जुड़ा हुआ मन कर्मशील होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में मन की स्वेच्छाचारिता को सिद्धिदायक नहीं होना बताया गया है। -

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ (१६/२३)

अनुवाद - जो पुरुष शास्त्र विधि को अर्थात् कर्म करने की विधि को त्यागकर अपनी स्वेच्छा से वर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को और न सुख को ही प्राप्त होता है।

१२.२ (२) मन का सामर्थ्यवान् होकर अपने मूल उद्भव कारण अर्थात् स्वयं की प्रथमोत्पत्ति को स्मरण करके कर्म के लिये प्रवृत्त होना ही स्वेच्छाचारिता

के रूप में जाना जाता है, अनुभव किया जाता है किंतु जब हम अपने स्व-स्वरूप को अर्थात् स्वयं के कर्तारूप अहंकार को स्मरण कर इसे अपना लेते हैं और बुद्धि का आश्रय ले लेते हैं, तो यह मन अपनी निम्न स्थिति को स्वीकार कर लेता है। मन का प्रथम उत्पत्ति आधार पर स्वयं को ही प्रमुख मान लेना स्वाभाविक रूप से ही होता है, जिसे हम निम्न "वृत्त स्थिति" आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं। यह जो वृत्त रूप में स्थित होकर मन, स्वयं को ही प्रमुख मान रहा होता है, वह जब अपनी शरीरस्थ स्थिति को स्वीकार कर लेता है अर्थात् अहंकार, बुद्धि और मन इस तीसरे क्रम को स्वीकार कर लेता है, तो यह मन के द्वारा दंड रूप में स्वीकार की गई स्थिति होती है। मन की वृत्त अवस्था तथा दंडवत् अवस्था को हम निम्न प्रकार समझ सकते हैं -
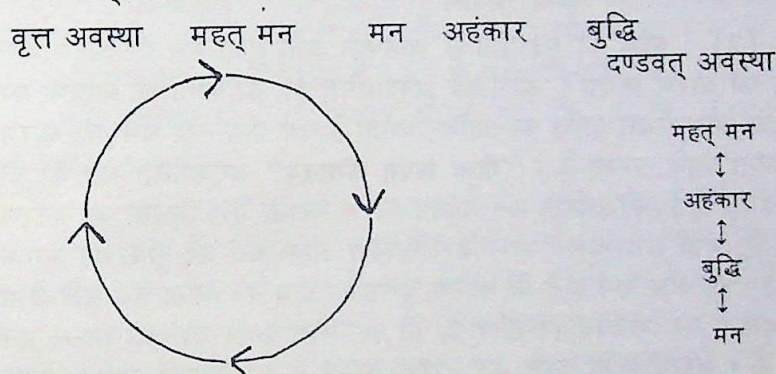
मन जब तक बुद्धि और अहंकार या अहम् तत्व के नियंत्रण में नहीं आता है, तब तक यह स्वयं का महत् रूप अर्थात् महत् मन रूप ही धारण करना चाहता है। यह मन अपने पुरुष (परम पुरुष) रूप को स्मरण करता हुआ स्वेच्छाचारी हो जाता है। जीवांश रूप होकर भी यह अपने वृहत् रूप को स्मरण कर रहा होता है। स्वेच्छाचारी मन के परिणाम को त्रिशंकु की अवस्था से जाना जाता है। इस त्रिशंकु के उदाहरण द्वारा हम चंचल मन के कार्य परिणाम को जान सकते है किंतु जब बुद्धिरूपी अनुशासन में यह मन आ जाता है तो अपनी वृत अवस्था को छोड़कर दंडवत् अवस्था में आ जाता है। तब यह बुद्धि और अहंकार की अधीनता स्वीकार कर लेता है। मन की स्वाभाविक अवस्था वृत्ताकार ही होती है। यह हम इस बात से समझ सकते है कि जब- जब मन बुद्धि के नियंत्रण से हटता है या मुक्त होता है, तब-तब यह दुःसाहस करता है या आत्मघात को या जड़ता को अपनाता है। अतः मन को सदैव ही बुद्धि के नियंत्रण में रखने की आवश्यकता होती है। हमारे प्राचीन मनीषि गण बालकों को नीति वाक्य की तथा पंचतंत्र या

हितोपदेश की कहानियों द्वारा मन को बुद्धि की अधीनता स्वीकार करने का ही पाठ पढ़ाते रहे हैं, बुद्धि को जाग्रत करते रहे हैं। सुव्यवस्थित मन के लिये हमें बचपन से ही नीति वाक्यों को ग्रहण कर लेना चाहिए। बच्चों को पढ़ाना चाहिये, सभी को अवगत कराना चाहिए और स्वयं भी जान लेना चाहिये - अराजकता से बचने के लिये। नीति वाक्य जानकर यह जानकार हुआ मन ही अनुशासित होता है। अपने महत् स्वरूप को अर्थात् दुःसाहस को या फिर जड़ता को भूलकर अनुशासित हो सृजन कार्य में जुड़ता है। आत्मबोध करने का कारण बनता है। इस प्रकार मन की इस मूलभूत अवस्था को हमें आरंभ से ही जान लेना चाहिये। तथा मन को सदैव ही दंडवत अवस्था में अर्थात् बुद्धि की अधीनता में रखना चाहिये।

१२.२ (३) बुद्धि की सहायता से जानकार बना हुआ मन ही अनुशासित स्वरूप को धारण करता है और यह अनुशासित मन ही जागतिक धरातल पर अभ्युदय और श्रेयस् प्राप्ति का आधार बनता है एवं योग तथा धर्म रूप धारण कर जाना जाने लगता है। **"योगः कर्मसु कौशलम्"** अनुशासित मन का ही कार्य होता है। अनुशासित मन दक्षता धारण करता है। उत्थान का कारण बनता है, वहीं उच्छश्रृंखल मन विध्वंशकारी ओर स्वयं की तुष्टि का कारक होता है तथा अंश रूप होने के कारण घृणा का पात्र बन जाता है। यदि ऐसा उच्छश्रृंखल मन राजपद पर होता है, तो वह सत्ता के विनाश का कारण बन जाता है। मानवता के पतन का कारण बनता है। अधिकार सम्पन्न होकर अव्यवस्था का कारक होता है। अतः आवश्यक होता है कि मन सदैव ही मानवता से जुड़ा रहें - अपने सर्व रूप से जुड़ा रहे, आत्मतत्व से जुड़ा रहे, आत्म तत्व को या अक्षर ब्रह्म के विराट स्वरूप को जान लेने का प्रयास करता रहे।

१२.२ (४) मन की उत्पत्ति परम पुरुष तथा प्रकृति से हुई है। यह दोनों ही तत्व के गुण धारण करता है तथा इसके आधार पर ही उभयात्मक होकर, नपुंसक रूप में जाना जाता है। अपने तत्व रूप में यह कृशकाय होकर देह तो पुरुष की धारण करता है अर्थात् प्रगट तो नर रूप में होता है किंतु आचरण में सदैव ही प्रकृति का प्रतिरूप अर्थात् स्त्री रूप होता है। इस प्रकार यह पुरुष होकर भी स्वयं, पुरुषार्थ से विहिन होता है। यह स्वयं भोग करने में असमर्थ होता है। यह सदैव ही इंद्रियों के आश्रय की अपेक्षा करता है। दशेन्द्रियों (पांच कर्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों) की संलग्नता से पृथक् कर देना ही मन को अपने स्वरूप में प्रतिस्थापित कर देना होता है। जिस प्रकार प्रकृति स्वयं कुछ भी करने में असमर्थ है, उसी प्रकार यह मन भी स्वयं में असमर्थ होता

है। मन या तो बुद्धि के आश्रय में होता है या सदैव ही दशेन्द्रियों की संलग्नता में रहता है। यह ही इसके उभय स्वरूप होने का आधार होता है।

१२.२ (५) श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में आत्मबोध प्राप्ति का साधन मन ही बताया गया है -

''मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वम् न संशय॥''

(१२/२ एवं ८)

अनुवाद - ''मेरे में (परम तत्व में) मन को एकाग्र करके निरंतर जो साधक अतिशय श्रेष्ठ या पवित्र श्रद्धा से युक्त होकर मुझ परमेश्वर को भेजते हैं। वे मेरे को अति उत्तम रुप में मान्य हैं। मेरे में मन को लगा, मेरे में बुद्धि को लगा इसके उपरांत मेरे में ही निवास करेगा, मुझे ही प्राप्त कर लेगा इसमें कोई संशय नहीं है।''

इस प्रकार आत्मबोध प्राप्त करने के लिये, ईश्वर का साक्षात्कार कर लेने के लिये या अक्षर तत्व का बोध प्राप्त कर लेने के लिये, मन का लगाया जाना आवश्यक है। अर्थात् हमें आधे मन को ही या अशुद्ध मन को ही शुद्ध कर लेना आवश्यक होता है जो विकारयुक्त अवस्था है, इसे ही शुद्ध अवस्था में लाना होता है। शुद्धता को प्राप्त कर यह मन पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और इसका उभय स्वरूप समाप्त होकर यह बुद्धि से जुड़ जाता है और तत्काल ही **विज्ञानमय कोष** में प्रवेश करके अहम् तत्व को जानने लगता है। स्वयं के स्वरूप को ही जानने लगता है, स्वयं ही साक्षी बनकर।

१२.२ (६) जिस प्रकार चुम्बकीय छड़ के मध्य बिंदु पर स्थित चुंबकीय सुई को ध्रुवीय क्षेत्र में ज्ञाने के लिये उसे थोड़ा सा ही अपने स्थान से हटाने की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार विशुद्ध हुए मन को विज्ञानमय कोष में प्रवेश कराने के लिये अध्यात्म ज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसे उपनिषद् वाणी में - **''अध्यात्मयोगाधिगमेन''** (कठोपनिषद् - १/२/१२) अर्थात् अध्यात्म योग की ओर जाना कहा गया है। यह अध्यात्म ज्ञान सांकेतिक होकर श्रुत परम्परा का ही आधार बनता है - तथा गुरुमुख से सुना गया ज्ञान ही समानता के आधार पर साधक को आगे ले जाने वाला होता है, जिसके संबंध में भगवती श्रुति देवी कहती है -

''आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति।'' (छांदोग्योपनिषद् - ४/९/३)

अनुवाद - आचार्य देव से जानी गयी (प्राप्त की गयी) विद्या ही उत्कृष्टता को प्राप्त होती है (नियत स्थान को पहुंचाने वाली होती है) । आचार्य मुख से प्रतिबोध रूप में जानकर "प्रतिबोध विदितं" आत्मतत्व को ही जानता है। श्रुति देवी कठोपनिषद् में कहती है -

"एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयँू हि लब्ध्वा ॥

(१/२/१३)

अनुवाद - मनुष्य इस धर्ममय (आत्मतत्व को) उपदेश को सुनकर भली-भांति ग्रहण करके और उस पर विचार करके अर्थात् स्वानुभूति आधार पर विचार-विमर्श करके उसको ग्रहण कर या इस सूक्ष्म आत्म तत्व को जानकर, वह आनन्द स्वरूप आत्म तत्व को जानकर मुदिता को ही प्राप्त कर लेता है।

१२.३ (१) मन का गुण संकल्प और विकल्प से युक्त होकर इसे उभयात्मक होना कहा गया है। **"उभयात्मकं मनः"** (सांख्य दर्शन - २/२६) मन का यह गुण प्रत्येक कार्य में लागू होता है। मन ब्रह्म रूप है, जैसे ही यह किसी विषय या शब्द से जुड़ता है, तत्काल ही वहां पहुंच जाता है और अपने स्वभाव के अनुरूप ही पक्ष प्रतिपक्ष की जानकारी ले लेता है। मन की क्षमता-अभाव में भी अस्तित्व को देखने तथा उपस्थिति में अनुपस्थिति अर्थात् नकारात्मक भाव को देखने की होती है। यह तत्काल ही विषय से जुड़कर उसके संबंध में उभयात्मक जानकारी प्राप्त कर संशय युक्त हो बुद्धि की शरण में आकर निर्णय प्राप्त करता है। बुद्धि निश्चयात्मिका कही गई है। बुद्धि से जुड़कर यह संशय रहित हो जाता है। स्वयं की भ्रांति का निवारण कर लेता है। बुद्धि पृथक् तत्व है वह भी विकास का पृथक् स्तर रखती है। बुद्धि जैसे-जैसे विकसित होती है, वैसे-वैसे ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर को देखने की इसकी क्षमता बढ़ती जाती है। बुद्धि के विकास का साधन स्वाध्याय, परामर्श, चिंतन, निदिध्यासन् आदि होते हैं। बुद्धि अपने स्वरूप में शुद्ध तथा निर्विकार होती है। मन अपनी हठधर्मिता के अनुसार ही शब्द और विषयों का अर्थ लगाता है। इन्द्रियों से जुड़ा रहता है किन्तु यह बुद्धि ही संशय रहित करनें में सहायक होती है, निर्णय का आधार बनती है।

१२.३ (२) इस उभय स्वरूप पर आधारित मन की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं - चेतन मन और अचेतन मन। जब हम मन द्वारा कोई कार्य विचारपूर्वक करते हैं, तो यह चेतन मन का कार्य कहा जाता है, इसमें अनुभव स्मृति का आधार बनकर स्मृति कोष में समा जाता है तथा वहां समय के अंतराल आधार पर संस्कार का रूप धारण कर लेता है। जब यह संस्कार व्यवहार में प्रगट

होता है, तो यह चेतन मन का ही कार्य कहा जाता है। किंतु स्मृति या संस्कार और अनुभव से परे जाकर जब मन कोई विचार प्रगट करता है या क्रिया करता है, तो उसे अवचेतन मन का कार्य कहा जाता है। निद्रा में स्वप्न देखना अवचेतन मन का कार्य होता है। चेतन मन तो इस समय विश्राम कर रहा होता है। चेतन मन और अवचेतन मन दोनों एक ही होकर आत्म तत्व से जुड़ा रहता है। अतः हमें जागृत और स्वप्न की स्मृति बनी रहती है। जब चेतन मन और अवचेतन मन दोनों ही अवस्थाएं शांत होती हैं, निष्क्रिय होती हैं, तो यह निद्रा की अवस्था मानी जाती है, निद्रा का कारण मानी जाती है। किंतु जब जागृत अवस्था में चेतन मन और अवचेतन मन शांत होकर परम तत्व से जुड़ जाता है, तो साधक को अपनी उपस्थिति का आभास देता हुआ आनंद की अनुभूति कराता है। मन की यह अवस्था **तुरीय अवस्था या समाधि अवस्था** होती है। विचार रहित आनन्दमय अवस्था **निर्विकल्प समाधि** की अवस्था है और लक्ष्य को लेकर विचारपूर्ण मन की शांत एवं एकाग्र अवस्था सविकल्प या **संप्रज्ञात समाधि** की अवस्था होती है। निर्विकल्प समाधि निराकार ब्रह्म का, अक्षर ब्रह्म का बोध कराती है, जो कि शून्य अवस्था है, परम तत्व से मिलन है, वहीं सविकल्प समाधि सगुण ब्रह्म की गुणमय विराट सत्ता का बोध शनैः-शनैः कराती है। जिसका गान श्रुति द्वारा नैति-नैति शब्दावली में किया गया है।

१२.३ (३) उपनिषद् वाणी में मन को ही आत्मा या ब्रह्म माना गया है। उपनिषद् वाणी में मन के उभय स्वरूप का वर्णन नहीं मिलता है, न ही चेतन मन और अवचेतन मन के रूप में कोई विभाजन ही देखने को मिलता है। उपनिषद् वाणी तथा संपूर्ण वैदिक वाङ्मय में मन को एक ही माना गया है। तैत्तिरियोपनिषद्, भृगुवल्ली में ब्रह्म तत्व की पांच अवस्थाएं मानी गई हैं। तथा ब्रह्म को ही आत्मा माना गया है। शरीरस्थ आत्म तत्व की अभिव्यक्ति तथा बोध का आधार यह मन ही होता है अतः यह मन की ही पांच अवस्थाएं कही जाती हैं तथा इन्हें कोष रूप में संबोधन किया जाता है। मन की ये पांच अवस्थाएं हैं -

(१) अन्नमय कोष

(२) प्राणमय कोष

(३) मनोमय कोष

(४) विज्ञानमय कोष तथा

(५) आनंदमय कोष।

मन की उपरोक्त आरंभिक तीन अवस्थाएं - अन्नमय कोष, प्राणमय कोष तथा मनोमय कोष भौतिक जीवन से जुड़ी हुई अवस्थाएं होती हैं। इन अवस्थाओं से जुड़ा हुआ मन ही चेतन मन कहा जाता है। इनमें स्थित मन जागतिक आनंद की अनुभूति करता है, जिसे हम **सुख** कहते है। श्रीमद्भगवद्गीता में इन्हीं सुखों को अनित्य कहा गया है - **"अनित्यं सुखं इमं"**। इन कोष में स्थित रहकर मन कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से या परस्पर आश्रित होकर कर्म प्रेरणा देता रहता है, जिन्हें तीन गुणों सत, रज और तम का प्रभाव कहा जाता है और इन्हीं तीनों गुणों के आधार पर मन कर्म का प्रणेता बन जाता है -

"त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।" (श्रीमद्भगवद्गीता - ७/१३)

अनुवाद - 'यह समस्त जगत सत, रज और तम इन तीन गुणों से प्लावित होकर इनके भावरूपी कर्मो से बंधा है।' चेतन मन की इस अवस्था में किये गये कर्म ही कार्य - कारण सिद्धान्त से जुड़कर कर्म और उसके फल का निर्माण करते हैं। जिन्हें प्रारब्ध कहा जाता है। यह प्रारब्ध ही जन्म और पुनर्जन्म का कारण बनता है। मन की शेष दो अवस्थाएं विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष अवचेतन मन की अवस्थाएँ कही जाती हैं। इन अवस्थाओं में मन अध्यात्म विद्या से जुड़कर आत्म स्वरूप या स्व-स्वरूप का जिन्हें कि प्रकृति के रहस्य या परम तत्व का बोध कहा जाता है को प्राप्त करता है। विज्ञानमय कोष की अवस्था तथा आनंदमय कोष की अवस्था परा चेतना से जुड़ी हुई अवस्थाएं हैं। इस प्रकार संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि चेतन मन अपराविद्या से जुड़ा हुआ मन है जो कर्म के क्रियात्मक स्वरूप को देखकर, अनुभव कर तथा विश्लेषण या गवेषणा करके जागतिक सिद्धान्त निर्धारित करता है, पालन करता है और इनके आधार पर मनुष्य के कर्मों का नियमन करता है। वहीं अवचेतन मन की अवस्था परा विद्या का बोध कराने वाली होती है। सही माने में मन की अवचेतन अवस्था जागृतिक और स्वप्न के आगे की अवस्था है, जिसे **"तुरीय अवस्था"** कहा गया है। इस अवस्था में मन सांसारिक धरातल से ऊपर उठकर प्रकृति से जुड़ जाता है तथा प्रकृति के रहस्यों को जानने और प्रगट करने का प्रयास करता है। चूँकि इस अवस्था में मन द्वारा प्राप्त किये गये अनुभव या बोध का कोई जागतिक आधार नही होता है अतः इसे अवचेतन मन का कार्य कहा जाता है। किंतु साधक के लिये यह मन का अति चेतन स्वरूप होता है तथा चेतन मन की भांति ही अनुभव एवं विश्वास का आधार बनता है। अब चेतन मन या अति चेतन मन की आरंभिक अवस्था जिसमें मन जिज्ञासु होकर प्रकृति के या परम पुरुष की विराट सत्ता के रहस्य जानता

है, वह विज्ञानमय कोष की अवस्था कही जाती है। और जब मन इस अवस्था में प्राप्त किये गये अनुभव पर विश्वास करके संशय रहित हो जाता है तथा अनुभव की गई प्रकृति के रहस्य की जानकारी को जागतिक धरातल पर सत्य तथा अस्तित्व वान् किंतु असंभव अवस्था में पाता है, तो इस विस्मय पर स्वतः जो आनंदस्फूर्त होता है, वह अनुभव करते हुए मन की जो **मुदितामय** अवस्था होती है, वह आनंदमय अवस्था या आनंदमय कोष की अवस्था कही जाती है। यह अवस्था ही वाक् साधना के क्रम में पश्यन्ती वाक् की अवस्था होती है। यह साधक के कर्म फल का क्षय करने वाली होती है तथा अनंत ज्ञान का बोध अर्थात् प्रकृति के रहस्य का बोध कराकर कर्म के बंधन से मुक्त करती है एवं स्व-स्वरूप का बोध कराने में, आत्म बोध कराने में या अक्षर ब्रह्म का बोध कराने में सहायक होती है।

१२.३ (४) मन की उपरोक्त पांचों कोष की अवस्था को संक्षेप में हम इस प्रकार प्रगट कर सकते हैं, समझ सकते हैं -

(१) अन्नमय कोष अवस्था -

यह मन की आरंभिक अवस्था है। मन की अन्नमय कोष अवस्था का आधार यह शरीर होता है। यह शरीर से जुड़ी हुई अवस्था है। यह मन की स्वाभाविक अवस्था है। सामान्यतः इस जगत् के सभी प्राणी मन की इस सामान्य अवस्था से जुड़े रहते हैं तथा आजीवन इस अन्नमय कोष अवस्था में ही रमण करते रहते हैं। अन्नमय कोष की यह सामान्य अवस्था निम्न नीति वाक्य में प्रगट हुई है -

"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
बुद्धिर्हि तेषामधिको विशेषो बुद्धिर्विहिना पशुभि समाना॥"

अनुवाद - आहार, निद्रा, भय और मैथुन की क्रियाएं पशुओं और मनुष्यों में समान है, मनुष्यों में बुद्धि गुण अधिक है, इसी में उसकी विशिष्टता है। बुद्धि विहिन मनुष्य और पशु एक समान ही हैं।

अन्नमय कोष अवस्था में मानव बुद्धि इन्हीं चार विषयों तक सीमित होती है। मानव शरीर में मन की उत्पत्ति अन्न से होना बताई गई है। अन्न का जो सूक्ष्म अंश होता है, वह ही मन की उत्पत्ति का कारण होता है, मन को प्रभावित करता है। व्यक्ति द्वारा ग्रहण किये गये अन्न का स्थूल भाग मल बनता है, मध्यम भाग मांस बनता है तथा जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग होता है वह मन बनता है (छांदोग्योपनिषद् - ६/५/१)। जिस प्रकार दूध का सूक्ष्म भाग घृत होता है, उसी प्रकार अन्न का सूक्ष्म भाग मन होता है

(छांदोग्योपनिषद् - ६/६/१-२) । अन्न से पोषित होने वाले इस शरीर को अन्न-रसमय कहा गया है - **"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"** (तैत्तिरियोपनिषद् - २/१/९) । अनुवाद - "वह यह पुरुष निश्चय ही अन्नरसमय है ।" शरीर का धारण और पोषण आदि सब अन्नरस पर ही आधारित होता है । अन्नमय कोष अवस्था का संबंध इस अन्न प्राप्ति से ही होता है, जो आहार से संबंध रखती है । वयस्क अवस्था में यह आहार उदर पूर्ति के साथ-साथ इंद्रिय पोषण से जुड़ जाता है । इंद्रिय रमण भी रस प्रदान करने वाला होता है । इस प्रकार इन दो अवस्थाओं अर्थात् आहार पूर्ति और वासनापूर्ति इन दो ध्रुवों के ईर्द-गिर्द जुड़ी हुई अवस्था को धारण करने वाला मन अन्नमय कोष अवस्था का कहा गया है । उपनिषद्वाणी में श्रुति देवी कहती है -

"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भुतानि जायन्ते ।
अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।"

(तैत्तिरियोपनिषद् - ३/२)

अनुवाद - अन्न ब्रह्म है, इस प्रकार जाना । सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं । अन्न से ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते हुए अन्न में ही समा जाते हैं ।

इस अवस्था से जुड़ा मन का बाह्य व्यवहार में तुनक मिजाज, अड़ियल रूख अपनाने वाला, सदैव स्वयं को ही ठीक मानने वाला और सामंजस्य प्रवृत्ति से रहित होता है, यदि उसमें स्वयं का स्वार्थ न हो । मन की यह अवस्था पशुवत् ही होती है । यह मेले में स्थित कीड़े जैसा होता है, भरण-पोषण और संतति वृद्धि ही इसका लक्ष्य होता है । अन्नमय कोष की स्थिति को प्रगट करने वाला उदाहरण प्रकृति प्रदत्त रूप में 'श्वान की भांति' होता है । श्वान का आहार पूर्ति के लिये छीना-छपटी करना और आहार पूर्ति के लिये आपस में जुड़े रहना, अपने ही परिक्षेत्र से बंधे रहना, स्वच्छता या पवित्रता का बोध अपने बैठने, रहने तक के स्थान तक ही सीमित मानना और निर्लज्ज होकर कामोपभोग करना, की अवस्थाओं के आधार पर, श्वान से तुलना करते हुए अन्नमय कोष की अवस्था को प्रतिबोधात्मक रूप से जाना जा सकता है । यह तमोगुण की प्रधानता वाली अवस्था होती है ।

१२.३ (५) परावाक् या अक्षर ब्रह्म का बोध प्राप्त करने में या आत्म बोध की यात्रा में मन की पवित्रता के लिये आहार शुद्धि पर बहुत बल दिया गया है । उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुति देवी कहती है -

"आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः ।" (छांदोग्योपनिषद् - ७/२६/२)

अनुवाद - "आहार शुद्ध होने पर अंतःकरण की अर्थात् सत्वरूपी मन की शुद्धि होती है । अंतःकरण की शुद्धि होने पर निश्छल स्मृति प्राप्त होती है अर्थात् मन की चंचलता समाप्त होती है तथा स्थिर वृत्ति या स्मृति के प्राप्त होने परजड़ता रूपी ग्रंथियों का नाश होता है ।" शुद्ध अन्न का आहार मन को अपने स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है । अंतः मन की चंचलता को समाप्त करने के लिये साधक को अन्न की शुद्धता अवश्य ही अपना लेना चाहिये, अक्षर ब्रह्म की बोध प्राप्ति हेतु या आत्म साक्षात्कार करने के लिये । अन्न की अशुद्धता के प्रभाव को प्रगट करने वाला यह मंत्र दृष्टव्य है -

"दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठते ।
यो हि यस्यान्नमश्नाति स तस्याऽन्नाति किल्विषम् ॥"

अनुवाद - मनुष्यों द्वारा किये जाने वाले दुष्कृत्य उसके अन्न का आश्रय लेकर रहते हैं । अतः जो जिसका अन्न खाता है वह मानों उसका पाप ही खाता है ।

अन्न की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी जाकर यह शरीरस्थ जीव तत्व की आहारपूर्ति का साधन माना गया है (ऐतरेयोपनिषद् - ३/१/१-२) । अन्न को देखकर शरीरस्थ जीव अन्न को ग्रहण करता है या इसे देखकर ग्रहण करना चाहता है । दृष्टा व्यक्ति का यह अन्न को भक्षण करने या ग्रहण करने का भाव पके हुए अन्न में दृष्टिदोष उत्पन्न करता है । अतः हमें अन्न को या आहार को इस दृष्टि दोष से, संपर्क दोष से बचाना चाहिये । स्वामी विवेकानंद का यह कथन कि - विदेश में रहते हुए जिन-जिन व्यक्ति के हाथों से गुजर कर उनके आहार का टिफिन आता था, उन सब व्यक्तियों के बारे में वे आहार ग्रहण करते समय जान जाया करते थे । अन्न के ग्रहणशीलता वाले गुण को प्रगट करता है । अन्न और अन्नमय कोष की यह अवस्था अक्षर ब्रह्म का बोध प्राप्त करने वाले सभी साधकों के लिये या आत्म साक्षात्कार के जिज्ञासु साधकों के लिये प्राथमिक स्तर पर ही मनन और निदिध्यासन का विषय है । हमें अन्न की पवित्रता को अपना लेना चाहिये । अक्षर ब्रह्म या परावाक् की बोध यात्रा में ।

१२.३ (६) प्राणमय कोष अवस्था -

मन की प्राणमय कोष अवस्था जीवनदायी परिस्थितियों से जुड़ी हुई या बंधी हुई अवस्था है । मन जब अन्नमय कोष अवस्था से ऊपर उठकर जीवनदायी परिस्थितियों से जुड़ता है और बुद्धि का आश्रय लेकर जीवन

की मूलभूत आवश्यकताओं यथा - स्वच्छ वायु, स्वच्छ पानी, साफ-सुथरा आवास, शुद्ध व स्वच्छ आहार, स्वास्थ्य कर परिवेश आदि तथा संयमित भोग आदि को अपनाकर इनकी पूर्ति या उपलब्धता से जुड़ता है तथा इन्हें अनिवार्य माननें लगता है, तो यह प्राणमय कोष की अवस्था होती है । यह शरीर से ऊपर उठकर पर्यावरण से जुड़ना है, परिवेश से जुड़ना है, आस-पास के वातावरण से जुड़ना है । यह मन की विकसित क्रियाशील अवस्था है, जो रजोगुण का आधार लिये होती है । अन्नमय कोष अवस्था में मन आहार पूर्ति, कामनापूर्ति, से जुड़ा रहता है - इस अवस्था को प्राप्त कर मन आलस्य, उपेक्षा तथा जड़ता का त्याग करता है । प्राणन् क्रिया से, क्रियाशीलता से जुड़ता है । वह सामंजस्य को अपनाता है, सामाजिक आवश्यकताओं एवं नीति नियमन के प्रति उपेक्षायुक्त नहीं रहता है । वह इनकी आवश्यकताओं को जानकर इन्हें अपनाता है । प्राणमय क्रियाशील मन प्रकृति से जुड़ता है । नित्य ही प्रकृति का परिवेश देखना चाहता है । मन में प्रकृति के गुणों का आकर्षण बढ़ता है। प्राणमय मन घर में ही प्रकृति की उपस्थिति चाहता है, वह हरियाली रूपी पौधे लगा लेता है, कार्य स्थल पर बगीचे का सृजन करता है और वृक्षारोपण या वृक्षों के अस्तित्व को आवश्यक मानने लगता है, अपने आसपास साफ-सुथरे आवास के साथ ही परिवेश को प्राणमय बना लेता है । प्राणमय कोष की अवस्था का वर्णन करते हुए उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुति देवी द्वारा कहा गया है -

"प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
प्राणेन जातानि जीवन्ति, । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥"

(तैत्तिरियोपनिषद् - ३/३)

अनुवाद - प्राण ही ब्रह्म है, इस प्रकार जाना । प्राण से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होकर प्राण से ही जीवित रहते हैं और अंत में प्रयाण करते हुए, प्राण में ही समाहित हो जाते हैं ।

इस अवस्था से जुड़ा मन व्यवहारिक धरातल पर स्वयं के प्रति ही सचेतक रूप में प्रगट होता है, जिसे सामान्यतः स्वार्थी होना कहा जाता है । प्राणमय कोष में स्थित मन की तुलना पक्षी से की जा सकती है । जो फल खाना चाहता है, वृक्ष पर समुह में रहता है, अपने लिये सुरूचि पूर्ण घोंसला (घर) बनाता है किंतु संकट आने पर तत्काल ही उड़ जाता है, इन सभी को छोड़कर, वह मुक्त ही हो जाता है । प्राणमय कोष अवस्था के गुण लगन, एकाग्रता, तल्लीनता आदि होते हैं । दृढ़ता तथा भय का सामना करना आदि गुण मनोमय अवस्था के होते हैं, प्राणमय कोष अवस्था के नहीं ।

१२.३ (७) मनोमय कोष अवस्था -

मनोमय कोष अवस्था मन की स्वयं की संतुष्टी की अवस्था होती है। अन्नमय अवस्था में रहकर मन मात्र आहार पूर्ति या कामना पूर्ति के चिंतन और तदनुरूप प्रयासों से जुड़ा होता है तथा उन्हें अपनाकर एवं प्राप्त करके संतुष्ट बना रहता है अन्य कोई ध्येय नहीं रखता है। प्राणमय कोष अवस्था में आकर मन अपनी अन्य प्राण संवर्धक आवश्यकताओं और कामनाओं केप्रति सजग होता है। वह सामाजिक नियमन को हितकारी मानकर स्वीकार करता है, जीवन की उपलब्ध परिस्थितियों को विवशता में स्वीकार करता है। इस प्रकार प्राणमय कोष तथा अन्नमय कोष से जुड़ी हुई अवस्था में मन जब इनमें ही संतुष्ट हो जाता है, तो यह मन की मनोमय अवस्था होती है - एक प्रकार की निम्न श्रेणी की। आगे कोई ध्येय नहीं अपनाना मनोमय कोष का अन्नमय कोष अवस्था और प्राणमय कोष अवस्था से जुड़कर त्रिभुज की संरचना के सदृश्य होता है और मन इसमें ही पूर्णता मान लेता है, अपने अस्तित्व की। यह मन की निम्न स्तर की मनोमय अवस्था होती है किंतु जब तमोगुण और रजोगुण अवस्था को लेकर मन सतोगुण से सतत जुड़ता है, सतोगुण की श्रेष्ठता से आकर्षित होता है अर्थात् बुद्धि के गुण धैर्य, संयम, विवेक और निश्चय को अपनाता है, तो वह नित्य के सुविधा सम्पन्न जीवन में भी असंतोष का अनुभव करता है। स्वयं कुछ क्रियात्मक या रचनात्मक कार्य करना चाहता है, तो बुद्धि तत्व की प्रबलता प्रगट होती है। जीवन प्रगतिमय हो, सुव्यवस्थित और उत्कृष्ट चेतना से युक्त हो, यह लालसा प्रगट हो जाती है। मन स्वयं के अतिरिक्त समाज से जुड़कर सामाजिक नियमन में, व्यवस्थाओं में अपनी महत्वकांक्षाओं के अनुरूप कमियाँ देखकर उनके सुधार हेतु, आदर्श व्यवस्था का प्रयास करता है। चिंतन को अपनाता है और इस प्रकार मन, मन से ही जुड़ जाता है। मनोमय ही हो जाता है।

मन की मनोमय अवस्था का वर्णन करते हुए उपनिषद्वाणी में भगवती श्रुतिदेवी कहती है - **''मनोमयोऽयं पुरुषः''** यह पुरुष मनोमय ही है। मानव जीवन का नियंता यह मन ही ब्रह्म कहा गया है -

''मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥''

(तैत्तिरियोपनिषद् - ३/४)

अनुवाद - मन ब्रह्म है इस प्रकार जाना। समस्त प्राणी मन से उत्पन्न होते हैं। मन से ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करने पर मन में ही समाहित हो जाते हैं।

इस प्रकार मनोमय अवस्था सत, रज और तम तीनों ही गुणों से बंधी हुई अवस्थाएं होती हैं। इन्हीं गुणों में रहकर मन परिपूर्णता मान लेता है और इन्हें ही अनिवार्यताएं मान लेता है तथा जीवन की पूर्णता का आधार बना लेता है। जिसका वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥" (१४/५)

अनुवाद - हे महान बलिष्ठ भुजाओं वाले अर्जुन - सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते है।

"प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।" (३/२९)

अनुवाद - प्रकृति के गुणों में अत्यन्त सम्मोहित हुए मनुष्य, गुणों में और तद्जनित कर्मों में आसक्त रहते हैं। - **"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति स्थानि कर्षति ॥"** (१५/७) अर्थात् मन सहित छः ज्ञानेन्द्रियाँ ही मनुष्य को प्रकृति जनित गुणों की ओर खींचती हैं, आकर्षित करती हैं। प्रकृति जनित इन गुणों से जुड़ना विकारयुक्त मन का ही कार्य होता है। जीवात्मा इनसे परे बना रहता है। अपने शुद्ध स्वरूप में रहता है। यह सृष्टि संरचना क्रम का - मन के बहिर्मुखी कर दिये जाने तथा कर्म और उसके फल से बंध जाने का प्रागट्य है। परमात्म तत्व एवं मन की संलग्नता को स्पष्ट करने वाला श्रीमद्भगवद्गीता का यह मंत्र मनोमय कोष में स्थित मन के कर्ता स्वभाव को समझने में हमारी मदद करते हैं -

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

(५/१४-१५)

अनुवाद -"परम तत्व परमात्मा, मनुष्यों के न तो कर्तापन की, न कर्मों की और न कर्म फल के संयोग की ही रचना करते हैं। यह स्वभाव ही बर्त रहा होता है। सर्वव्यापी परमेश्वर न तो किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ही ग्रहण करता है। यह अज्ञान से ज्ञान ढ़ँका हुआ है। (धुंए में छिपी हुई अग्नि की भांति ही)। उसी से सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं।"मनोमय मन की प्रकृति से यह संलग्नता ही जन्म और पुर्नजन्म तथा विविध योनियों में जन्म लेने का कारण बनती है -

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥"

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - १३/२१)

अनुवाद - प्रकृति में स्थित पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणों को भोगता है, और इन गुणों को अपनाया जाना ही जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है ।

उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुतिदेवी कहती है -

"अथो खलुवाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामों भवति । तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥

(क.उ. - ४/४/५)

अनुवाद - "कोई-कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है । वह जैसी कामना वाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है, जैसे संकल्प वाला होता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है ।" तथा जो कामना नहीं करने वाला पुरुष है वह -

"योऽकामों निष्काम आप्तकाम आत्मकामों न तस्य प्राणा ।
उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥"

(वृहदारण्यकोपनिषद् - ४/४/६)

अनुवाद - "जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्म काम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता । वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है ।" आत्मकाम व्यक्ति के लिये मृत्यु कष्टकर न होकर हाथी के गले से निकलकर गिरने वाली पुष्पमाला की भांति हो जाती है -

"सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग"

(श्रीरामचरितमानस ४/१०)

इस प्रकार मनोमय कोष की अवस्था प्रकृति से बंधी हुई अवस्था है । जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि मन की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष दोनों से ही हुई है तथा मन इन दोनों ही तत्वों के गुण धारण करता है और इसी कारण उभयात्मक कहा जाता है । मन की प्रकृति और पुरुष से जुड़ी हुई अवस्था को चुंबकीय छड़ अवस्था आधार पर स्पष्ट करते हुए हम कहेंगे कि जिस प्रकार चुंबकीय छड़ के दो भाग उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव होते हैं, उसी प्रकार शरीरस्थ मन की दो अवस्थाएं होती हैं - **प्रथम** प्रकृति से जुड़ा, प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होने वाले पदार्थों का भोग करने वाला मन, जो जन्म और पुनर्जन्म का कारण बनता है । **द्वितीय** - विज्ञानमय कोष से जुड़ा मन,

जो विज्ञानमय कोष में प्रवेश करके अपने स्वरूप को, पुरुष तत्व को जानता है, तो वह प्रकृति के गुणों तथा उससे उत्पन्न कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाता है। यह ही दो अवस्थाएं होती है मन की। जिन्हें हमारे द्वारा आरम्भ में, मन के दो भाव रूप में व्यक्त किया गया है। इसे हम चुंबकीय छड़ आधार पर दक्षिणी ध्रुव अवस्था एवं उत्तरी ध्रुव अवस्था रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं। मन का दक्षिणी ध्रुव अवस्था वाला मन का एक भाग प्रकृति रूप होता है तथा दूसरा उत्तरी ध्रुव वाला रूप वाला भाग पुरुष तत्व रूप वाला होता है। इन दोनों ही अवस्थाओं को उपनिषद् वाणी में प्रेय मार्ग और श्रेय मार्ग कहा गया है -

"श्रेयश्चप्रेयश्चमनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्द् वृणीते ॥"

(कठोपनिषद् - १/२/२)

अनुवाद - श्रेय और प्रेय ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं। बुद्धिमान मनुष्य उन दोनों के स्वरूप पर भली-भांति विचार करके उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है और वह श्रेष्ठ बुद्धि मनुष्य परम कल्याण के साधन श्रेय को ही भोग साधन अर्थात् प्रेय की अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है। परंतु मंद बुद्धि वाला मनुष्य लौकिक योगक्षेम की इच्छा से भोगों के साधन रूप प्रेय को अपनाता है।

१२.३ (८) - (१) मन की अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय अवस्थाएं प्रकृति से बंधी हुई अवस्थाएं हैं, इन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने के लिये हम एक उदाहरण देना चाहेंगे - हम प्रायः एक दृश्य देखते हैं, राह चलते हुए या सड़क से गुजरते हुए कि कोई किसान जो बैलगाड़ी में बैठा हुआ जा रहा है, उसने किसी बछड़े को साथ ले जाने के लिये उसके गले में रस्सी का फंदा डालकर उसे बैलगाड़ी के पीछे बांध रखा है। वह गाड़ी को हांकता हुआ ले जाता है, इस अवस्था में बैलगाड़ी से बंधा हुआ बछड़ा घसीटता हुआ पीछे-पीछे चलता है। कभी कोई किसान कुछ चारा बैलगाड़ी के पीछे बांध लेता है, जिसके लालच में बछड़ा आराम से पिछे - पिछे चला आता है। कभी हम देखते हैं कि कोई बछड़ा बगैर घसीटाते हुए तथा कोई चारा नहीं होने पर भी स्वेच्छा से बैलगाड़ी के पीछे-पीछे चला जाता है। किसान नियत मुकाम पर पहुंचकर बछड़े को छोड़ देता है और इसके साथ ही उसके लिये घास-पानी उपलब्ध करा देता है और फिर वह बछड़ा वहीं रमण करने लगता है। कभी-कभी हम यह पाते हैं कि कोई-कोई बछड़ा भागकर पुनः अपने मूल उत्पत्ति स्थान पर अकेला ही पहुंच जाता है, जहां से उसे लाया गया था। इस अवस्था में बछड़े

को पुनः लाने के लिये विशेष प्रयास करना पड़ता है। अब उसे मात्र रस्सी से बांधकर नहीं लाया जाता अपितु पीछे से हांकते हुए लाया जाता है। तथा उसे नये स्थान पर लाकर स्वतंत्र या खुला नहीं छोड़ा जाता है अपितु उसकी चौकीदारी की जाती है। कालान्तर में पुष्टता के आधार पर बछड़े को कृषि-कर्म में लगा दिया जाता है। कृषि-कर्म में लगने पर बछड़ा बैल बनकर वहीं रमण करने लगता है और कृषि-कर्म भी करने लगता है। वह अपने उत्पत्ति स्थान को भूल चुका होता है, अब भागकर वह कहीं नहीं जाता। वह बुद्धिरूपी किसान के इशारे मात्र पर गन्तव्य तथा किये जाने वाले कार्य को समझता है तथा उसका पालन करता है। इसमें ही वह जीवन की पूर्णता प्राप्त कर लेता है तथा कभी-कभी कोई किसान अपने बैलों का उपयोग करके ऐसा निर्माण कार्य करने में सफल हो जाता है या निर्माण कार्य कर देता है, जो आनेवाले वर्षों में युगों तक सृजन कार्य की गाथा के रूप में बदल जाता है तथा लोक गीत और लोक संगीत का आधार बनकर संपूर्ण जीवन को ही रसमय बना देता है।

(II) यह मन भी इस अज्ञानी बछड़े की भांति ही कार्य करता है। यह अन्नमय कोष की अवस्था से ऊपर उठना ही नहीं चाहता है। आगे बढ़ना इसके लिये प्राणों का संकट उपस्थित करता है। यदि किसी प्रकार हम इसे ऊपर उठाने में सफल हो जाते हैं, प्राणमय अवस्थाएं भी जुटा लेते हैं तथा मनोमय व्यवस्था भी कर लेते हैं तो भी यह पुनः भागकर अपने उत्पत्ति स्थान को ही पहुंच जाता है किंतु जब हम बछड़े की भांति प्राणमय अवस्था अर्थात् चारा-पानी और कर्म की व्यवस्था कर देते हैं तो यह फिर भागकर नहीं जाता अपितु अपने उत्पत्ति स्थान को विस्मृत करके नियत कर्म में ही जुट जाता है वहीं रमण करने लगता है। बछड़े का रुका रहना या मन का अन्नमय कोष में ठहरे रहना तमोगुण की अवस्था है। किंतु जब बछड़ा या मन विवशता में आगे बढ़ता है, कर्म को अपनाता है तो यह रजोगुण की उत्पत्ति का कारण बनता है। किंतु यदि बछड़ा आरंभ में ही बुद्धि के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है तो वह अन्नमय तथा प्राणमय अर्थात् चारे की अवस्था को छोड़कर स्वेच्छा से बैलगाड़ी के पीछे-पीछे चलने लगता है, गंतव्य तक आराम से पहुंच जाता है। इसी प्रकार यदि अन्नमय कोष अवस्था में ठहरा हुआ मन बुद्धि को अपना लेता है, तो वह प्राणमय कोष की अवस्था को पार करके मनोमय अवस्था में पहुंच जाता है। वह तमोगुण और रजोगुण की अवस्था से आगे बढ़कर सतोगुण को भी अपना लेता है। मनोमय कोष अवस्था को प्राप्त कर आरंभ में रजोगुण की प्रधानता रहती है किंतु यहां आकर यदि मन संतुष्ट बना रहता है तो यह तमोगुण का प्रभाव रहता है। इच्छानुकूल कर्म करना

रजोगुण का प्रागट्य है किंतु यदि साधक मन बुद्धि के पूर्ण रूप अर्थात् संयम, मनन, विवेक और धैर्य को अपना लेता है, तो यह स्वतः ही सतोगुण के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। सतो गुण मन को उत्कृष्टता की ओर ले जाने में जागतिक धरातल पर सहायक होता है। यदि मन सतोगुण को अपना लेता है तो यह मनोमय कोष की उच्च अवस्था होती है। साधक मन सुख-सविधा पूर्ण जीवन में भी इस अवस्था को प्राप्त कर जागतिक तत्वों को, रहस्यों को या सांसारिक विषयों को आधार रूप में जानने का प्रयास करता है। वह स्वयं अनुभव करना चाहता है, वृहद आधार पर तथा इस हेतु चिंतन एवं कर्म में अन्वेषण पद्धति को अपना लेता है। यह अन्वेषण उसे किसी निष्कर्ष पर पहुंचा देता है तथा निश्चित परिणाम सम्मुख उपस्थित कर देता है। अपने अन्वेषण का परिणाम या कर्म का फल प्राप्त कर साधक व्यक्ति का मन सुख की अनुभूति करता है। वह अपनी उपलब्धी के प्रति हर्षित होता है, आनंदित पाता है स्वयं को। इस अवस्था को प्राप्त कर साधक मन सफल लेखक, सफल डॉक्टर, सफल इंजिनियर या प्रोफेसर या सफल व्यवसायी या कृषक या सफल प्रशासक बन जाता है किंतु इस अवस्था में प्राप्त सुख या आनंद अस्थाई होता है - **"अनित्यं सुखं इमं।"** यह सब मनोमय कोष की ही अवस्था के अंतर्गत आता है। साधक मन इससे ही जुड़कर विश्राम क्रिया और निष्कर्म अर्थात् तम, रज और सतगुणों के बीच इनके साथ खेलता रहता है। यह जागतिक आधार पर मन की विभिन्न मनोमय अवस्थाएं होती हैं। यदि इन्हीं अवस्थाओं में रहकर साधक व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त कर लेता है, तो वह अपने कर्मों के बंधन को भोगता हुआ पुनर्जन्म को प्राप्त करता है, यह मन ही मनुष्य मात्र के लिये बन्धन और मोक्ष का कारण होता है - **"मन एव मनुष्याणां कारण बंधन मोक्षयो।"** यह जिस प्रकार का कर्म अपनाता है परिणाम स्वरूप वैसा ही जन्म प्राप्त करता है -

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथा श्रुतम् ॥

(कठोपनिषद् २/२/७)

अनुवाद - "यह मानव देह धारी मरने के बाद अपने कर्मों के और शास्त्र श्रवण (पठन) द्वारा प्राप्त किये गये भाव के अनुसार अन्य योनियों में स्थाणु अर्थात् अचर या चर योनि देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि में जन्म लेता है।"

इसे ही स्पष्ट करते हुए - श्रीमद्भगवद्गीता में परम तत्व श्रीकृष्ण द्वारा -

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।" (७/१४)

अनुवाद - मेरी यह त्रिगुणमयी देवी या अलौकिक माया अद्‌भुत एवं बड़ी दुष्कर है। कहा है तथा इस प्रकृति के बंधन से पार पाने का मार्ग -

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" (७/१४)

अनुवाद - "मुझे जो स्मरण करते हैं या जो मुझसे जुड़ जाते हैं, वे इस माया का उल्लघंन कर जाते हैं। प्रकृति के बंधन रूपी संसार से तर जाते हैं अर्थात् कर्म एवं फल तथा कार्य कारणश्रृंखला से मुक्त को जाते हैं" - बताया गया है।

१२.३ (९) **"मामेव ये प्रपद्यन्ते"** परम पुरुष को स्मरण करना तथा उससे जुड़ना अर्थात् अपने स्वयं के शरीर में ही स्थित परम पुरुष रूपी अंश को स्मरण करके उससे जुड़ जाना है। यह परम पुरुष से जुड़ जाना ही विज्ञानमय कोष में प्रवेश करना होता है। परम पुरुष के अंश रूपी जीवात्मा से जुड़कर जब हम परम तत्व को जानते हैं तो यह ही **आनंद** की स्थिति होती है। स्वयं के स्वरूप को जान लेना ही असीम आनंद का कारण होता है। यह ही आनंदमय कोष की अवस्था होती है। यह आत्मबोध प्राप्त कर लेना ही हमारे धर्म शास्त्रों में पुरुषार्थ रूप में वर्णित किया जाकर इसे मोक्ष रूपी पुरुषार्थ कहा गया है। परम तत्व श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को इस त्रिगुण माया से ऊपर उठने का उपदेश दिया जाकर - **"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।"** (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - २/४५)। त्रिगुणातीत अवस्था अर्थात् तीनों गुणों से परे होने का उपदेश दिया है, अपने ही आत्म स्वरूप को स्मरण करने का उपदेश दिया है। कठोपनिषद् में आत्म तत्व के जिज्ञासु नचिकेता को उपदेश देते हुए, जब यमराज (मृत्यु के देवता) कहते हैं कि -

"इह चेदशकद्‌ बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥" (२/३/४)

अनुवाद - "यदि इस शरीर का पतन होने से पहले-पहले, इस मनुष्य शरीर में रहते हुए परमात्मा को साक्षात् कर सका तो ठीक है, नहीं तो फिर अनेक कल्पों तक नाना लोकों में, नाना योनियों में शरीर धारण करने को यह जीव विवश होता है।" तो यह जागतिक धरातल पर मनोमय कोष अवस्था से आगे बढ़कर विज्ञानमय कोष अवस्था से जुड़ जाने का उपदेश होता है।

१२.३ (१०) I मन की अन्नमय कोष अवस्था से आनंदमय कोष तक की यात्रा पैदल चलने की भांति अत्यंत धीमी गति से होती है। इसे समझने के लिये हम पद यात्री का ही उदाहरण देना चाहेंगे। मन जब उत्पन्न होता है, तो यह अन्नमय कोष से ही जुड़ा होता है। अन्नमय कोष अवस्था एक पैर पर खड़े होने

जैसी होती है। जिस प्रकार चलने के लिये हम एक पैर पर देर तक खड़े नहीं रह सकतें, उसी प्रकार साधक या किसी भी प्राणी का मन देर तक अन्नमय कोष अवस्था में नहीं रहता है, यह खड़े होने या टिके रहने के लिये दूसरा पैर आगे बढ़ाता है और प्राणमय कोष से जुड़ जाता है। मन अन्नमय कोष और प्राणमय कोष अवस्था में टिककर या खड़े होकर पैदल यात्री की भांति कभी एक पग आगे बढ़ाता है, तो यह मनोमय कोष अवस्था को प्राप्त कर सुखानुभूति कर लेता है। अन्यथा पीछे अर्थात् अन्नमय कोष और प्राणमय कोष अवस्था इन दोनों में ही टिका रहकर संघर्षमय जीवन व्यतीत करता है, जीवन-भर रोटी और मकान की छत जिसे रोटी, कपड़ा और मकान कहा गया है, इसमें ही बंधा रहता है। वह मनोमय कोष में खड़े रहकर एक कदम भी आगे बढ़ना नहीं चाहता। साधक मन जैसे ही एक कदम आगे बढ़ाता है अर्थात् मनोमय कोष में खड़े रहते हुए, विज्ञानमय कोष में, प्रवेश करना चाहता है, वैसे ही उसके समक्ष प्राणमय कोष के छूटने अर्थात् प्राण का संकट ही उपस्थित हो जाता है। इस अवस्था को स्पष्ट करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है।

"चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥" (१६/११)

अनुवाद - वे मृत्यु पर्यन्त रहने वाली असंख्य चिंताओं का आश्रय लेने वाले, विषय भोगों को भोगने में तत्पर रहने वाले और - **"इतना ही सुख है"** इस प्रकार मानने वाले होते हैं। इन विषय भोगों की संलग्नता को ही परम तत्व श्रीकृष्ण द्वारा **"दुरत्यया"** (७/१४) श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया। इस प्रकार सामान्य मन जहां खड़ा होता है अर्थात् प्राणमय कोष और मनोमय कोष में जहां मन सामान्यतः होता है, वहां से दो कदम की दूरी पर ही यह परमात्म तत्व होता है या आत्मबोध होता है। साधक मन से केवल दो कदम की दूरी पर ही परम प्रभु का स्वरूप साक्षात्कार के लिये खड़ा होता है। साधक को मात्र एक कदम आगे बढ़कर विज्ञानमय कोष में पैर रखना है तथा विज्ञानमय कोष में खड़े होकर, जब उसका एक पैर आनंदमय कोष तक जाता है, आगे की दिशा में तथा लौटते हुए पुनः मनोमय कोष में आता है। इस प्रकार परम तत्व की संपूर्ण दूरी मनोमय कोष से मात्र दो कदम की होती है। इस दो कदम के बाद ही परावाक् रूप में परम तत्व या अक्षर ब्रह्म अपने साक्षात्कार के लिये उपस्थित होता है। जिसे मनोमय कोष की चुंबकीय छड़ आधार पर मध्य बिंदु अवस्था को दृष्टिगत रखते हुए ढाई कदम की दूरी कहा

जाता है तथा यह ढाई कदम की दूरी ही विविध रूप में सदियों से ढाई अक्षर के रूप में गाई जाती रही हैं भक्तों द्वारा सभी के लिये।

II मन की प्राणमय कोष और मनोमय कोष से आगे बढ़ने की स्थिति चुंबकीय छड़ के मध्य बिंदु से आगे बढ़ने जैसी होती है। जिस प्रकार चुंबकीयसुई मध्य बिंदु पर पहुंचकर मुक्तावस्था प्राप्त कर लेती है और उसे आगे कोई चुंबकीय क्षेत्र नजर नहीं आता है, उसी प्रकार साधक मन के सामने भी समस्या आ जाती है। वह विज्ञानमय कोष में आगे बढ़ने पर **"प्राण का संकट"** ही महसूस करता है और प्राणमय कोष से ही जुड़ा रहना चाहता है तथा आगे की यात्रा को असम्भव मान लेता है। इस असंभवता को प्रगट करते हुए ही उपनिषद् वाणी में इसकी तुलना कृपाण की धार से की गई है तथा आगे के मार्ग को दुर्गम कहा जाकर प्रगट किया गया है।

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम् पथस्तत्कवयो वदन्ति।"

(कठोपनिषद् - १/३/१४)

अनुवाद - "छूरे की तीक्ष्ण की गई धार के समान अत्यन्त दुर्गम पथ होना विज्ञजन (कवयः) बतलाते हैं।" इस दुर्गमता के साथ ही मृत्यु के देवता यमराज द्वारा दिया गया संदेश -

"उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" (कठोपनिषद् - १/३/१४)

अनुवाद - "उठो, जागो, प्राप्त कर लो, परम तत्व को (आत्म तत्व को) ज्ञानी पुरुषों के पास जाकर" ही इस मार्ग की निष्कंटकता को प्रगट करता है। जिसका वर्णन करते हुए परम तत्व श्रीकृष्ण स्वयं कहते है -

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ९/२२)

अनुवाद - "जो अनन्य चित्त होकर मुझे अर्थात् अपने पुरुष तत्व के अंश होने को स्मरण करते हुए निष्काम भाव से मेरी उपासना करते हैं अर्थात् कर्म को ही अपना लेते हैं, निरंतर मेरे में ही मनसा, वाचा, कर्मणा निरत या लगे रहने वाले व्यक्तियों का योगेक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं।" परम तत्व के इस सत्य को ही प्रगट करते हुए, श्रीरामचरितमानस में कहा गया है -

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥

(३/४३/४ से ८)

समान रूप से ऐसा ही आश्वासन परमहंस संत रामकृष्ण देव द्वारा मां भगवती दुर्गा की शरण प्राप्त कर लेने के संबंध में दिया गया है। साधक को श्रद्धा विश्वास और समर्पण की त्रिवेणी को अपनाकर - **"मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा** (श्रीरामचरितमानस - ३/३६/१) को अपनाते हुए मध्यमा वाक् का आश्रय लेकर इस दुर्गमता को पार कर लेना चाहिये। यह मार्ग बताते हुए कहा गया है -

"नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ भवसागर तरहि।"

(श्रीरामचरितमानस - ६/सोरठा एक)

तथा -

"भवसागर चह पार जो पावा। राम कथा ता कहँ दृढ़नावा॥"

(श्रीरामचरितमान ७/५३/३)

उपनिषद् वाणी में मृत्यु के देवता यमराज स्वयं मुक्ति का मार्ग बताते हुए कहते हैं -

"एतदालंबनँ श्रेष्ठमेतदालंबनं परम्"

(कठोपनिषद् - १/२/१७)

"यह प्रणवरूपी ओंकार मंत्र श्रेष्ठ आलंबन है सबसे श्रेष्ठ आधार है।" ये ओंकार मंत्र ही सेतु है, इस त्रिगुण माया से पार जाने के लिये इसे ही मुक्ति मार्ग के रूप में अपना लेना चाहिये।

"यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतँ शकेमहि॥"

(कठोपनिषद् - १/३/२)

अनुवाद - हे नचिकेता, अक्षर ब्रह्म जो परम स्वरूप है, उसे जान लेने का यह सेतु है। जो इस संसार समुद्र से पार जाने की इच्छा रखते हैं, उन सबके लिये यह अभय प्रदान करने वाला है। इसे अपनाकर संसार समुद्र से पार जाने में समर्थ हो सकते हैं।

III सृष्टि के विस्तार क्रम को प्रगट करते हुए, भगवती श्रुतिदेवी उपनिषद् वाणी में प्रगट करती हैं, कि परम तत्व द्वारा मानव शरीर की संरचना करके इसमें सभी इंद्रियों को बहिर्मुखी बना दिया गया है। ये सहज ही आत्म तत्व की ओर अभिमुख नहीं होती हैं। (कठोपनिषद् - २/१/१) इंद्रियों की इस बहिर्मुखता को उसी प्रकार जानना चाहिये, जिस प्रकार कि हम गतिवान् पहिये को निकलकर गिर जाने से रोकने के लिये हम उसमें कोई चाबी लगा देते हैं या उसमें उल्टे कसाव बनाकर उसके स्वतः ही निकलने को रोक देते हैं। इंद्रियों का यह बहिर्मुख होना, भोक्ता बने रहने तक, राग-द्वेष से युक्त बने

रहने तक इस प्रकार मन के विकारयुक्त बने रहने तक ही रहता है। साधक जैसे ही तुलाधार सिद्धान्त को अपनाता है, स्वयं को तुलावटी बना लेता है मांग अनुसार शुद्ध माल का प्रदाता बन जाता है तथा पाथेय का सिद्धांत अपनालेता है, तत्क्षण ही इंद्रियों की इस बाह्य प्रवृत्ति पर स्व-प्रेरित रोक लग जाती है, बहिर्मुखता रूक जाती है तथा साधक द्वारा किये जाने वाला कर्म कार्य-कारण या कर्म और उसके फल की श्रृंखला से मुक्त होकर यज्ञ कर्म ही बन जाता है, इस धरा पर। यह नित्य यज्ञ ही मुक्ति का कारण बन जाता है - आत्मबोध का आधार बन जाता है तथा साधक के लिये मनोमय कोष में रहते हुए विज्ञानमय कोष के द्वार खोल देता है, आनंदमय कोष की अवस्था उपलब्ध करा देता है।

१२.४-(१) सभी भौतिक सुख-सुविधाओं के रहते हुए अर्थात् मन की मनोमय कोष अवस्था में रहते हुए भी जब साधक मन संतुष्ट नहीं होता है या शांति का अनुभव नहीं करता है तथा उसे समस्त जागतिक सुविधाएं अपूर्ण लगती हैं, तो वह शाश्वत शांति और आनंद की खोज में निकल पड़ता है। मन ऐसी शांति और आनंद की कामना करता है, जो उससे कभी बिछुड़े नहीं, मृत्यु तक उसके साथ बनी रहे। संपूर्ण शेष जीवन को शांतिमय, आनंदमय बना लेने की आकांक्षा को लेकर ही वह इसकी खोज में निकल पड़ता है। वह सृष्टि के रहस्यों को जानना चाहता है, परातत्व की जानकारी प्राप्त करना चाहता है, स्वयं के स्वरूप को एवं स्वयं की आवश्यकताओं को जान लेना चाहता है। यह सृष्टि के रहस्यों की खोज, सृष्टि के नियंता की खोज, परम तत्व की खोज, स्वयं के स्वरूप की खोज तथा शाश्वत शांति की खोज ही उसे अंतर्मुखी बनाती है। इस हेतु वह आरम्भिक सीढ़ी के रूप में चिंतन को अपनाता है। चिंतन की इस एकाग्र अवस्था में ही मन अपने स्वरूप में प्रवेश कर जाता है, जिसे अवचेतन मन कहा गया है, इस अवस्था में मन स्वयं ही खोजकर्त्ता और स्वयं ही उसका साक्षी बनकर स्वयं ही बोध प्राप्तकर्ता बन जाता है। अपने इस परिवर्तन के संबंध में वह कोई बाह्य प्रमाण नहीं पाता है और न कोई बाह्य चिह्न ही प्रकट होता है। इस प्रकार मन अध्यात्मिक जगत में प्रवेश करके स्वयं तो चेतन बना रहता है किंतु सांसारिक व्यवहार में इस अवस्था को अवचेतन मन की अवस्था कहा जाता है। अंतर्मुखी मन द्वारा प्राप्त किया गया बोध अवचेतन मन का बोध या अतिचेतन मन का बोध होता है, मन अतिचेतन अवस्था में बने रहने के लिये अग्रसर हो जाता है। मन की यह अतिचेतन मय अवस्था ही **विज्ञानमय कोष** की अवस्था कही जाती है। मन इसी चेतन अवस्था में बने रहने के लिये अग्रसर हो जाता है।

१२.४-(२) मन के अतिचेतन अवस्था में प्रवेश करने का मार्ग महर्षि पतञ्जलि द्वारा धारणा, ध्यान और समाधि रूप में बताया गया है। धारणा अर्थात् विचार को या लक्ष्य की धारणा करता हुआ मन जब ध्यानस्थ होता है या उस धारणा के साथ तल्लीन हो जाता है, तो यह ध्यान की अवस्था होती है। और जब धारणा, ध्यान और ध्याता तीनों ही मिलकर एक हो जाते हैं अर्थात् ध्याता का देहाध्यास छूट जाता है, तो यह एकरूप अवस्था ही समाधि अवस्था होती है। परमतत्व का रहस्य प्राप्त करने की अवस्था होती है। ध्याता का यह देहाध्यास साधना करते हुए ध्यान में मुश्किल से ही छूटता है किंतु कर्मरत रहते हुए लक्ष्य से जुड़कर यह शीघ्र ही छूटता है। युद्ध के मैदान में योद्धा का देहाध्यास छूटा होता है। इसी प्रकार विचाररत मन का भी देहाध्यास छूट जाता है। इस संबंध में प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन का देहाध्यास छूटने अर्थात् भूख नहीं लगने या भोजन नहीं करने तथा भोजन सामग्री यथावत् रखी रहने का अधुनातन उदाहरण हमे पढ़ने को मिलता है विज्ञान जगत में। कर्म देहाध्यास छोड़ने में सहायक होता है अतः इस तल्लीनता को प्रगट करने या प्राप्त कर लेने के लिये ही परमतत्व श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में **"नियतं कुरु कर्मः"** का उपदेश देते हुए **"स्वधर्मे निधनम् श्रेयः"** अर्थात् अपने कर्म को करते हुए मृत्यु को प्राप्त कर लेना श्रेयस्कर कहा है। इसी आधार पर क्षत्रिय योद्धा की युद्ध के मैदान में हुई मृत्यु को **अमृतत्व** की प्राप्ति कहा गया है, **मोक्ष की प्राप्ति** माना गया है। कर्म से तल्लीनता जिस प्रकार कर्म के रहस्य को प्रगट करने वाली प्रगट जगत् में हमारे द्वारा अनुभव की जाती है, उसी प्रकार चिंतन के स्तर पर धारणा के साथ ध्यान की तल्लीन अवस्था ही मन को विज्ञानमय कोष में ले जाने वाली होती है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने का साधन या माध्यम महर्षि पतञ्जलि द्वारा **"क्रिया योग"** कहा गया है - **"तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानिक्रियायोगः।"** (योग दर्शन - २/१)

अनुवाद - तप, स्वाध्याय और ईश्वर के प्रति आधान् - कर्मों का समर्पण, चिंतन का समर्पण, सर्वस्व समर्पण अर्थात् ईश्वर को ईशान्-नियंता या प्रशासक मान लेना (ईश्वर प्राणिधान्) "क्रियायोग" है।

तप - साध्य की प्राप्ति हेतु की गई तितिक्षा, किये गये प्रयास, अपनाया गया धैर्य, किया गया चिंतन, सहन किये गये कष्ट सभी तप के अंतर्गत आते हैं। तपःक्रिया व्यापक अर्थ रखती है। भीषण गर्मी में अग्नि के पास बैठकर भोजन तैयार करना भी तपःक्रिया है, पकवान रूपी साध्य की प्राप्ति हेतु। इसी प्रकार छात्र द्वारा परिश्रम पूर्वक अध्ययन करना परीक्षा के लक्ष्य से जुड़ी हुई तपःक्रिया है। हमें "तपः" शब्द को इन्हीं विस्तृत अर्थों में समझना चाहिये। तपःक्रिया

मन को निरपेक्ष बनाती है, एकलयता प्रदान करती है तथा मन को शुद्धता प्रदान करते हुए उच्चावस्था में ले जाती है। **तप** शब्द का अर्थ है - तप्त करना या तपाना या स्वयं ताप प्राप्त करना। जिस प्रकार - तप्त किया जाने पर सोना शुद्ध अवस्था प्राप्त करता है। वह ही अर्थ है - तप का साधना के क्रम में भी। स्वयं को शुद्ध करना विकार रहित करना, लक्ष्य के प्रति समर्पित करना ही तप है। अपने जीवन में संतुलन के सिद्धांत को अपना लेना पाथेय के सिद्धान्त का अनुपालन करना तप करना ही होता है साधक के लिये। संयम तप कहा गया है - इन सिद्धांतों को अपनाकर हम जीवन में संयम को ही अपना लेते हैं तथा तप से जुड़ जाते हैं। यह तप ही सफलता और सृजन तथा पूर्णता की प्राप्ति का आधार होता है। तपः शब्द को इसी क्रियात्मक अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। हम जहां खड़े हैं या जिस काम से जुड़े हैं, वहां या इस काम में यदि हम श्रेष्ठता धारण करते हैं, तो यह हमारे तप का ही परिणाम है। ब्रह्मा द्वारा आरंभ में सृष्टि का सृजन कार्य इसी तपः क्रिया द्वारा किया गया है अर्थात् श्रेष्ठता को धारण करके ही किया गया है।

स्वाध्याय - में श्रृवण या पठन, मनन और निधिध्यासन तीनों ही क्रियाएं आती हैं। "स्व" शब्द आत्म स्वरूप का, स्वयं के स्वरूप का बोध कराता है तथा स्वाध्याय शब्द का अर्थ होता है, मन में स्वयं के स्वरूप का आधान कर लेना या स्वयं के स्वरूप को धारण कर लेना। मैं ही ब्रह्म का अंश हूँ, इस विचार को मन में धारण कर लेना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय शब्द का अर्थ हम पठन-पाठन या अध्ययन क्रिया मात्र से लेते हैं किंतु आत्म बोध प्राप्त करने या अक्षर ब्रह्म परावाक् का बोध प्राप्त करने के लिये स्वाध्याय शब्द तपः क्रिया से जुड़ा होकर स्वयं के स्वरूप को धारण करने का अर्थ रखता है अर्थात् स्वयं के स्वरूप से ही संबंध रखता है, जो इसका स्वाभाविक अर्थ है। स्वाध्याय शब्द को हमें अन्य विषयों के संबंध में भी उस विषय से जुड़ी हुई अवस्था के आधार पर ही समझना चाहिये। अक्षर ब्रह्म परम तत्व या आत्म बोध प्राप्त कर लेने या परावाक् के साक्षात्कार हेतु स्वाध्याय शब्द को समझने में उननिषद्वाणी में आया श्रुति देवी का निम्न कथन हमारा मार्गदर्शन करता है -

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।" (तथा)

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।"

(मुण्डकोपनिषद् - २/३ व ४)

अनुवाद - यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त किया जा सकता है, न बुद्धि से न बहुत सुनने या पढ़ लेने से प्राप्त किया जा सकता है (और) यह आत्मा

बलहीन पुरुष (व्यक्ति) द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। न तर्क-वितर्क के द्वारा ही, न तप से अर्थात् पंचाग्नि तापने से और न विविध वेशभूषा धारण करने से ही मिल सकता है।

इस प्रकार स्वाध्याय शब्द केवल पठन या श्रवण या मनन या तर्क-वितर्क तक सीमित नहीं है। "क्रिया योग" बनने के लिये स्वाध्याय शब्द का अर्थ है - परमात्म तत्व के गुणों को धारण करना। जिस प्रकार विविध भाव - दया, करुणा, शौर्य आदि "स्व" से जुड़कर स्वभाव का सृजन करते हैं, उसी प्रकार स्व-स्वरूप का आधान कर लेना अर्थात् आत्म तत्व के गुणों का आधान या धारण कर लेना ही स्वाध्याय शब्द के अंतर्गत महर्षि पतञ्जलि द्वारा सूचित किया गया है, इसी प्रकार आवश्यक शर्त के रूप में, उपरोक्त श्रुति कथन को स्पष्ट करते हुए ही आत्म बोध प्राप्त कर लेने के लिये महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग दर्शन ग्रंथ में। **ईश्वर प्रणिधान** = को भी व्यक्तिगत् भावना से बंधी हुई स्थिति कहा है, जिसे श्रद्धा, विश्वास और समपर्ण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार करने या आत्मबोध की यात्रा में या परावाक् को जान लेने के मार्ग में ईश्वर प्रणिधान शब्द के क्रियात्मक स्वरूप को समझ लेने में कठोपनिषद् के निम्न मंत्र हमारी सहायता करते हैं -

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

(२/३/१२-१३)

अनुवाद - वह परम तत्व अर्थात् परमेश्वर न तो वाणी से, न मन से, न नेत्रों से ही प्राप्त किया जा सकता है। "वह है" - इस प्रकार कहने वाले के अतिरिक्त (स्मरण करें - रामो द्विर्नभिभाषते) दूसरे को कैसे मिल सकता है। वह परम तत्व है, इस प्रकार निश्चयपूर्वक ग्रहण करना चाहिये अर्थात् पहले उसके अस्तित्व की दृढ़ धारणा करना चाहिये तदनंतर तत्व भाव से ही उसे प्राप्त करना चाहिये, इन दोनों में से वह परम तत्व अवश्य ही है, इस प्रकार निश्चयपूर्वक परम तत्व की सत्ता को स्वीकार करने वाले साधक के लिये वह परम तत्व अपने तात्विक स्वरूप में प्रगट हो जाता है।

परम तत्व की प्राप्ति हेतु या आत्मबोध प्राप्त कर लेने के लिये या आत्म साक्षात्कार कर लेने के लिये जब हम इन तीनों ही क्रियाओं को अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को उपरोक्तानुसार इनके तात्विक

अर्थ में अपना लेते हैं या जीवन में धारण कर लेते हैं तो यह ''क्रिया योग'' बन जाता है, प्रत्येक साधक के लिये सहज रूप में ही।

१२.४ (३) अतिचेतन मन जिसे अवचेतन मन भी कहा जाता है, इसकी दो अवस्थाएं होती है, जिन्हें विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष की अवस्था कहा गया है। यह दोनों ही एक साथ मिली-जुली अवस्था होती है। यह दोनों ही मिलकर आत्मबोध रूपी सिक्के का सृजन करने वाली होती हैं। इन दोनों कोष की अवस्थाओं का जागतिक क्रियाओं से कोई संबंध नहीं होता है। ये अवस्थाएं पराविद्या का बोध कराने वाली, आत्म स्वरूप का बोध कराने वाली, अक्षर ब्रह्म या परावाक् का बोध कराने वाली या ईश्वर तत्व का साक्षात्कार कराने वाली होती हैं। ईश्वर रूप के साकार स्वरूप तथा पश्यंती वाक् का बोध कराने वाली होती हैं। यह अवस्था मन की जागृति और स्वप्न से आगे की अवस्था होती है। बाह्य दृष्टि के अनुसार यह निद्रा या जड़ता होती है, जिसे ''चित्रलिखे से'' कहा गया है, वह यह संचेतना की उच्चतम अवस्था होती है। इस अवस्था में मन सांसारिक धरातल से ऊपर उठकर प्रकृति से जुड़ जाता है तथा प्रकृति के रहस्यों को या विराट पुरुष के साम्राज्य को जानने का प्रयास करता है। जब प्रकृति मन के समक्ष अपने रहस्य खोलने लगती है, तो यह मन की विज्ञानमय कोष अवस्था होना कहीं जाती है। यहां स्थित रहकर मन प्रकृति के अज्ञात रहस्यों की जानकारी प्राप्त करता है तथा अपनी बुद्धि के द्वारा उनकी सत्यता का साक्षात् अनुभव करता है। जिससे उसका ज्ञान दृढ़ भूमि को प्राप्त होकर संशय निवारण में सहायक होता है। जब प्रकृति के रहस्य मन के समक्ष श्रृंखलाबद्ध रूप में खुलने लगते हैं, तो यह उसके विस्तृत साम्राज्य या विराट स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करके स्वतः ही नतमस्तक हो जाता है तथा स्वयं को संशयरहित अवस्था में पाता है। मन के संशय निवारण की यह स्वतः होने वाली क्रिया मन को जिज्ञासु बना देती है और यह प्रत्येक नये अनुभव के साथ आनंद प्राप्त करने लगता है। आनंद की यह दिव्य अनुभूति ही आनंदमय कोष की अवस्था होती है। यह अवस्था परम शान्ति - ''परांशांतिं'' (श्रीमद्भगवद्गीता - १८/६२) को प्रदान करने वाली होती है। यह अवस्था प्राप्त कर साधक मुदिता को ही प्राप्त कर लेता है। परम तत्व के इस रसमय विराट स्वरूप को जानकर साधक मन स्वयं भी रसमय ही हो जाता है, जिसका वर्णन करते हुए भगवती श्रुति देवी कहती है - ''स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा'' (कठोपनिषद् १/२/१३) वह आनंद स्वरूप परम तत्व को प्राप्त कर आनंद में ही मग्न हो जाता है, मुदिता को प्राप्त कर लेता है। साधक मन प्रत्येक नये अनुभव के साथ आनंद प्राप्त करने लगता है, स्वयं

ही ''नैति- नैति'' का बोध प्राप्त कर इससे ही जुड़ जाता है । यह आनंद साधक के लिये द्विविध होता है । साधक मन को, अनुभव किये गये रहस्य की स्मृति भी आनंद प्रदान करने वाली हो जाती है साथ ही प्रगट होने वाला रहस्य उसके लिये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है । जिस प्रकार गोदी में खेलने वाला बालक प्रत्येक नवागन्तुक व्यक्ति के साथ घर से बाहर जाने के लिये हरदम तैयार और लालायित रहता है, उसी प्रकार मन इस अवस्था में सदैव ही उत्कंठित बना रहता है, प्रकृति नटी के रहस्यों को जानने के लिये, परम तत्व के विराट रूप का या ''भूमा स्वरूप'' का बोध प्राप्त कर लेने के लिये । यहाँ आकर मन बाह्य सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण रहित हो जाता है, स्थिर अवस्था प्राप्त कर लेता है । मन की यह अवस्था गहरे नर्मदा जल की भांति ऊपर से तो शांत और स्थिर नजर आती है किंतु भीतर ही भीतर यह तीव्र विचार प्रवाह से आलोड़ित होता रहता है । मन में सतत् मनन एवं चिंतन की क्रिया चलती रहती है । स्थिरता हेतु वह निदिध्यासन में ही स्थित हो जाता है अर्थात् विचारों को आचरण में अपना लेता है । यह अनुभव साधक को परा अनुभूतियों के प्रति स्वयं के निष्कर्ष आधार पर ही संशय रहित बना देता है । मन, विहंग (पक्षी या हंस) रूप धारण कर लेता है, जिसकी यात्राओं के कोई पद-चिह्न देखने को या जानने को नहीं मिलते हैं । साधक मन अपने स्वयं के अनुभव और निष्कर्ष के आधार पर ज्ञान का कोठार बनता जाता है । उसके प्रत्येक शब्द ''आप्तवाक्य'' बन जाता है - समुची मानवता के लिये वह बुद्धि की उच्चतम अवस्था में होता है, पश्यंती वाक् को देख रहा होता है, परम तत्व के नियति क्रम को जान रहा होता है, जिसे ज्ञान या प्रज्ञा कहा जाता है । साधक मन स्वयं ही महत् को जानकर असीम आनंद से भर जाता है । इस अवस्था को प्राप्त कर साधक मन संशय रहित होकर परम तत्व के सृष्टि चक्र (क्रिया-कलापों) का, नियमन का, ईशान् स्वरूप का साक्षी बन जाता है और महत् को जानकर स्वयं भी महत् ही हो जाता है । मन की यह आनंदमय कोष की उच्चतम अवस्था ही परम तत्व के, ईश्वर तत्व के, आत्मबोध के या परावाक् का साक्षात्कार कर लेने का आधार होती है या कारण बनती है । इसका अनुभव करके साधक सर्वथा मुक्ता अवस्था को ही प्राप्त कर लेता है, जिसे उपनिषद् वाणी में -

''भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।'' (मुंडकोपनिषद् - २/२/८)

अनुवाद - 'हृदय की गांठ खुल जाती है और सभी संशय कट जाते हैं ।' कहा गया है । हृदय की ग्रन्थि खुलने का आभास साधक को स्पष्टतः आन्तरिक विस्फोट से उत्पन्न प्रकाश रूप में होता है । जिसका साक्षी साधक मन स्वयं ही

होता है। यह अवस्था प्राप्त कर लेना ही मोक्ष प्राप्ति का आधार बन जाती है, जिसे सांख्य दर्शन में - ''ज्ञानान्मुक्तिः'' (३/२३) अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाना कहा है। इस अवस्था को ही उपनिशद् वाणी में -

''क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।'' (मुण्डकोपनिषद् - २/२/८)

अनुवाद -''उस कार्य कारण स्वरूप परम तत्व का बोध प्राप्त कर लेने पर कर्म श्रृंखला समाप्त हो जाती है।''कहा गया है।

यह परम तत्व का साक्षात्कार करना होता है। मुक्ति प्राप्त कर लेने का आधार होता है -

''सन्मुख होहि जीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नासहु तबहिं।''

(श्रीरामचरित्मानस - ५/४४/२)

यह अवस्था प्राप्त कर लेने पर साधक व्यक्ति जगत् में रहते हुए भी विशुद्ध अवस्था को धारण करता है। वह स्वयं परमहंस रूपी संत रामकृष्ण ही बन जाता है। साधक मन पयस्विनी मंदाकिनी के जल की भाँति ही हो जाता है और वह जगत में रहकर लोक व्यवहार से जुड़ा रहता है - चित्रकूट के घाट पर पारदर्शी जल को देखते हुए नाव में बैठकर की जा रही यात्रा की भाँति ही या भक्त नरसिंह मेहता की भांति अपने दायित्वों को पूरा कर रहा होता है या आदि प्रणय पुरुष मनु और सतरूपा के रूप में इस सृष्टि चक्र को गति प्रदान करने का कारण या आधार बन रहा होता है। अंततः परम तत्व का साक्षात्कार कर लेने पर भी।

१२.४ (४) मन यह अवस्था प्राप्त कर के भी मनोमय कोष से जुड़ा रहता है, जिसे कि चुंबकीय छड़ के मध्य बिंदु के आधार पर उत्तरी ध्रुव की ओर विज्ञानमय कोष से जुड़ा हुआ भाग प्रगट किया गया है अर्थात् साधक मन मनोमय कोष की उस अवस्था से जुड़ा होता है जो कि मध्य बिंदु पर होकर एक ओर तो विज्ञानमय कोष से जुड़ी हुई अवस्थां होती है तथा दूसरी ओर प्राणमय कोष से जुड़कर संपूर्ण मानव चेतना तथा शरीर चेतना का आधार बनती है। इस प्रकार साधक मन जिस तरह जगत में रहकर मनोमय होता है, उसी प्रकार परम तत्व को जानकर भी मनोमय ही हो जाता है, मनोमय बना रहता है - ''मनोमयः अयं पुरुषः।'' साधक मन की अवस्था दर्पण की भांति हो जाती है, वह शांत स्थिर रहकर भी सर्व ज्ञाता बन जाता है। जिस प्रकार दर्पण को देखते हुए उसे जिस-जिस दिशा में घुमाया जाता है, उस दिशा की दृश्यावली दर्पण में नजर आने लगती है। उसी प्रकार साधक मन जिस विषय पर या वस्तु के बारे में स्वयं को केंन्द्रित करता है, उस विषय या वस्तु के बारे में साधक मन स्वयं ही आध्योपांत जानकारी का जानकार हो जाता

है। मन का यह क्षमता क्षेत्र ऐतरेयोपनिषद् के मंत्र क्रमांक - ३/१/२ में वर्णित क्षमताओं के (१ पैरा १२.१-८ देखिये) आधार पर अत्यन्त विस्तृत होता है। इस अवस्था को प्राप्त कर प्राचीन ऋषियों द्वारा अनुभव किया गया और प्रगट किया ज्ञान सुश्रुत संहिता, चरक संहिता, विभिन्न व्याकरण ग्रंथ आदि कालजयी रचनाओं में होकर मन की इसी अवस्था को प्रगट कर रही है। यह ''हस्तामलक'' अवस्था होती है। जिसे प्राप्त कर मन का विशुद्ध स्वरूप विचार को कालजयी स्वरूप प्रदान कर देता है, त्रुटि रहित बना देता है। मन यह अवस्था प्राप्त कर सर्व ज्ञाता बन जाता है। मन की यह सर्वज्ञाता अवस्था ही सांसारिक जगत में उसके परिक्षण का आधार होती है। वह परमहंस श्रीरामकृष्ण देव की भांति अनपढ़ या निरक्षर होकर भी विद्वानों की शंकाओं का समाधान करने लगता है। उनके परामर्श का स्थल एवं प्रेरणास्रोत बन जाता है या फिर वह संत कबीर की भांति या संत आचार्य गोस्वामी तुलसीदास की भांति युग सृष्टा, युग पुरुष बन जाता है। साधक मन अन्नमय कोष तथा प्राणमय कोष अवस्था से और जगत से जुड़ी हुई मनोमय कोष अवस्था से उसी प्रकार का संबंध बनाये रखता है, जिस प्रकार कि कमल का संबंध जल में रहते हुए भी उसकी पत्तियों और पुष्पों का जल से अलग होना है। चुंबकीय छड़ के आधार पर मन की यह उत्तर ध्रुवीय अवस्था ही श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिबोध रुप में मुक्ति का आधार बताई जाकर सूर्यनारायण देव की उत्तरायण अवस्था होती है, जिसका वर्णन करते हुए कहा गया है -

''तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।'' (८/२४)

अनुवाद - उस मार्ग में मरकर गये हुये ब्रह्म वेत्ता साधक जन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं," उपनिषद् वाणी में भी इस अवस्था का वर्णन करते हुए भगवती श्रुति देवी कहती हैं

''अथोत्तरेण तसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विण्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतन मे तदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः।

(प्रश्नोपनिषद् - १/१०)

अनुवाद - अर्थात् -"इस प्रकार जो तप के साथ ब्रह्मचर्यपूर्वक श्रद्धा से युक्त होकर अध्यात्मविद्या के द्वारा परमात्मा की खोज करके उत्तरायण मार्ग से सूर्य लोक को जीत लेते हैं या प्राप्त कर लेते हैं इस प्रकार यह सूर्य ही (उत्तरायण अवस्था ही) प्राणों का आश्रय है, यह ही अमृत है, यह ही अभय है और यह ही परागति है। इसे प्राप्त कर फिर नहीं लौटते अतः इस प्रकार यह निरोध है। इस बात को स्पष्ट करनेवाला यह श्लोक या मंत्र है।

१२.४ (५) I मन की इस अन्नमयकोष से आनन्दमयकोष की यात्रा को चुंबकीय छड़ से सायुज्जता प्रदान करते हुए तुला के आधार पर प्रगट किया जा सकता है तथा इस यात्रा को प्रतिबोधात्मक रूप में जाना या समझा जा सकता है। मन की अन्नमय कोष से आनंदमय कोष तक की यात्रा का पथ पांच कोष में - अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष में बँटा होता है। यह पांच कोष ही इस यात्रा के पांच सोपान होते हैं। इस प्रकार जगत में रहते हुए परम तत्व के साक्षात्कार करने या आत्मबोध प्राप्त करने तक की यात्रा का निम्नरूप होता है -

१. अन्नमयकोष

२. प्राणमयकोष

३. मनोमयकोष

४. विज्ञानमय कोष

५. आनंदमयकोष।

इस यात्रा पथ का आधा भाग इस प्रकार अन्नमय कोष, प्राणमय कोष तथा मनोमय कोष का आधा भाग होता है, जो जगत सत्ता से जुड़ा हुआ होता है तथा दूसरा आधा भाग मनोमय कोष अवस्था का आधा भाग एवं विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष होता है। जिसका अंतिम छोर यात्रा की पूर्णता का अंतिम स्थान है यह ही ब्रह्म सत्ता से जुड़ा हुआ स्थान होता है। इस यात्रा मार्ग पर जीवात्मा द्वारा की जाने वाली यात्रा, पद यात्री की भांति ही अत्यन्त मंथर गति से की जाने वाली होती है। अतः हम इसे तुला के आधार पर भली-भांति प्रकट कर सकते हैं। यात्रा पथ के मध्य बिंदु आधार पर यदि इसे हम तुला का मध्य बिंदु मान लेवें तथा इसके एक भाग को जगत सत्ता से या अन्नमय कोष से जुड़ा हुआ तथा दूसरे भाग को आध्यात्मिक जगत या ब्रह्म सत्ता से जुड़ा हुआ आनंदमय कोष को मान लेते हैं तो निम्न तुलाकृति बनती है -
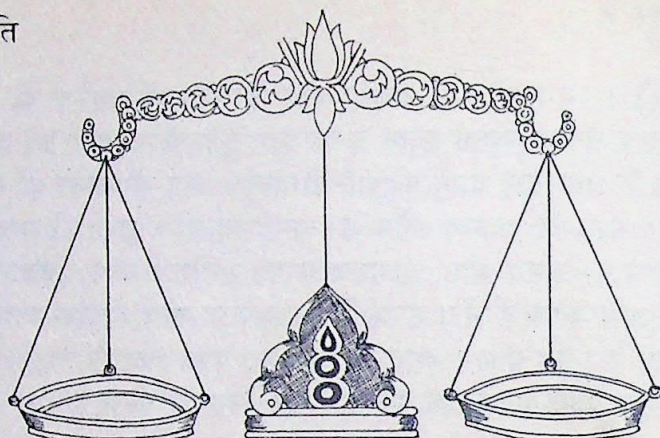
ब्रह्म सत्ता (योगक्षेम वहाम्यहम्) जगत सत्ता (मम माया दुरत्यया)

II यह तुलाकृति आत्मबोध के यात्रा पथ की सुगमता तथा दुरुहता को प्रगट करने वाली है। यह दोनों ही स्थितियों का बोध सहज रूप से कराती है। चूँकि मन की यात्रा पथ के पांचों सोपान मन में अर्थात् मानव शरीर में ही स्थित होते हैं, अतः इस तुला का आधार यह मानव शरीर ही बनता है तथा कर्म रुपी या कर्म को अपनाने वाले दोनों हाथ ही तुला की दोनों बाजुएं (पलड़ें) बन जाते हैं। मानव शरीर में स्थित मन जब जगत में रहकर अन्नमय कोष से बंधा होता है, तो तुला की स्थिति निम्न आकृति लिये होती है। अन्नमय कोष से बंधे होकर, जब हम कर्ता रुपी भाव अहंकार से बंधे होकर अर्थात् देह से बंधे होकर जागतिक आधार पर खड़ें होते हैं। प्राणमय और मनोमय कोष के साथ रहते हुए हम इस तुला के एक ही भाग पर स्थित होते हैं। जब तक हम देह रूपी स्व से बंधे होते हैं, तुला की आकृति एक ही पक्ष से अर्थात् प्रकृति से ही जुड़ी होती है। अन्नमय कोष एवं प्राणमय कोष की संलग्नता ही मनोमय कोष में रहते हुए भी साधक मन को
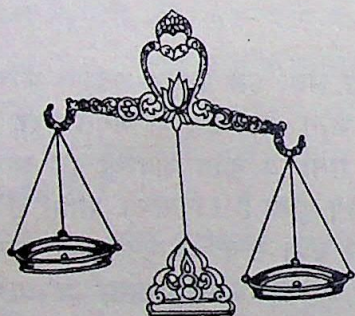
सांसारिक जगत या प्रकृति से बंधा हुआ बना देती है। जिसे कि जगत के नियमन कर्ता परम तत्व श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में - ''मम माया दुरत्यया'' (७/१४) कहा गया है तथा इस अवस्था को ही त्रिगुणों का खेल कहा गया है -

''सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।'' (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - १४/५)

अनुवाद - हे अर्जुन, यह (प्रकृति से जुड़ी हुई सतरजतम गुणों की) अवस्था ही इस देह में जीवात्मा को बांधने वाली होती है। इस अवस्था में रहकर भी परम तत्व का अंश विशुद्ध मन असंलग्न जगत् में असंलग्नता की स्थिति को लिये होता है (श्रीमद्भगवद्गीता - ५/१४-१५)। जब साधक मन स्वार्थ से या जागतिक सुखों से बंधा होता है, तो यह माया के बंधन में या प्रकृति के बंधन में होता है। यह ही इस यात्रा पथ की दुरुहता है। साधक मन जब देह से बंधे होकर अहंकार तत्व को कर्ता नहीं मानते हुए स्वयं को ही - "अहम् को ही कर्ता मान रहा होता है" तो वह प्रकृति के बंधन में होता है किंतु जब सांख्य दर्शन के सूत्र "अहंकारः कर्ता न पुरुषः" (६/५४) एवं "असंगोऽयं पुरुषः" (१/१५) को अपना लेता है, तो स्वतः ही माया के बंधन से या प्रकृति के बंधन से बाहर होता है। यह स्वयं के देह में स्थित जीव रूपी परमात्म तत्व से जुड़ जाना है, जिसे सद्गुरु श्रीकृष्ण द्वारा - "मामेव ये प्रपद्यन्ते" (श्रीमद्भगवद्गीता - ७/१४) कहा गया है। यह देह भाव छोड़कर परम तत्व से जुड़ जाना है, सदैव उसमें ही स्थित रहते हुए कर्म करते रहना होता है। प्रकृति का यह बंधन और पुरुष स्वरूप की मुक्तता "अर्धनारिश्वर" की अवधारणा के रूप में प्रगट हुई है। प्रकृति से जुड़कर ही पुरुष तत्व जगत में अग्रसर होता है तथा स्व से जुड़ कर स्वयं पुरुष तत्व में ही स्थिर हो जाता है और जब हम सजग होकर इस स्थिति को जान लेते हैं किन्तु जब हम एकमैव आत्मसत्ता या ईश्वर साक्षात्कार की यात्रा पर निकल पड़ते हैं और जागतिक अवधारणा या जगत सत्ता का पूर्णतः त्याग कर देते है तो तुला की स्थिति निम्न हो जाती है। जगत को छोड़कर यदि हम परम तत्व से जुड़ने का प्रयास करते हैं, तो हम परम तत्व से जुड़े होने की भ्रांति से बंधे होते हैं। देह सत्ता की अवहेलना करते हुए हम स्वयं ही अपने यात्रा मार्ग को कंटकाकीर्ण बना रहे होते हैं। अर्थात् जगत में रहते हुए देह धर्म के निर्वहन हेतु हम पराश्रित होते हैं, आहार पूर्ति तथा अन्य आवश्यकताओं की
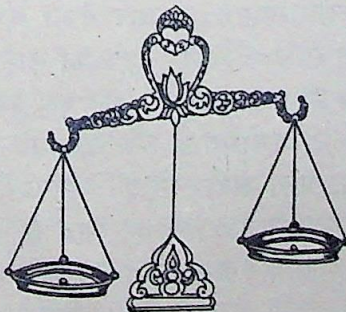
पूर्ति हेतु भी । इस प्रकार हम जिस बंधक को छोड़ते हैं, उससे ही चिंतन के क्षेत्र में बंध जाते हैं । इंद्रियों को हठपूर्वक रोकना और मनः चिंतन द्वारा जगत से जुड़े रहना मिथ्याचार ही कहा गया है, परम तत्व को प्राप्त कर लेने की बोध यात्रा में -

''कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥''

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ३/६)

अनुवाद - जो मूढ़ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर इंद्रियों के भोगों को मन से चिंतन करता रहता है । वह मिथ्याचारी ही कहा जाता है ।

१२.४ (६) I परम तत्व को सत्य से प्राप्त किया जाने वाला - **''सत्येन लभ्यें''** (मुण्डकोपनिषद् - ३/१/५) बताया गया है तथा परम तत्व का गुण ''रामो द्विर्नाभिभाषते'' (वाल्मीकि रामायण - २/१८/३०) अनुवाद - राम दो तरह की बातें नहीं करता है अर्थात् जो कहता है वह ही करता है । कहा गया है । अतः जब हम इस तुलाकृति पर आधारित यात्रा पथ की पूर्णता के लिये परम तत्व के गुणों को जीवन में या आचरण में अपना लेते हैं, स्वयं को परम तत्व का अंश मानकर उसके ही स्मरण से जुड़ जाते हैं, तो सहज ही इस शरीर में रहते हुए इस जगत में रहते हुए तथा कर्मरत रहते हुए मनोमय कोष में रहकर संतुलन का सिद्धान्त अपनाते हुए, परम तत्व का बोध प्राप्त कर लेते हैं, आत्म बोध प्राप्त कर लेते हैं, ईश्वर का साक्षात्कार कर लेते हैं, अक्षर ब्रह्म या परावाक् को जान लेते हैं, जिसे वेदांत दर्शन में इस जगत का धारण कर्ता और प्रशासन कर्ता कहा गया है । -

''अक्षरमम्बरान्तधृतेः । सा च प्रशासनात् ॥'' (१/३/१०-११)

साथ ही हम कर्मरत रहकर तुलाधार वेश्य की भांति ही (महाभारत शांतिपर्व अध्याय - (१९६ से २००). परमं तत्व को जानकर जीवन यापन कर रहे होते है एवं इसके साथ ही परम तत्व के अंश रूप इस जीवात्मा को ही पूर्णता प्रदान कर रहे होते है, जो मनोमय है और प्राणमय होकर इस शरीर का नेता भी है - **''मनोमयः प्राण शरीर नेता''** (मुण्डकोपनिषद् - २/२/७) अनुवाद - प्राण और शरीर का नेता आत्मा मनोमय है । यह जगत में रहकर प्रकृति और पुरुष का बोध प्राप्त कर लेना होता है । तुला का संतुलन बनाये रखते हुए कर्मरत रहकर भी । जो कि कर्मरत संत कबीर या संत रैदास के आधार पर निम्न तुलाकृति से स्पष्ट है -

(II) अक्षर ब्रह्म की बोध यात्रा या ईश्वर तत्व के साक्षात्कार की यात्रा में प्रथम तीन कोष में अन्नमय कोष, प्राणमय कोष के साथ मनोमय कोष में मध्य बिंदु को ही पार करना होता है। शेष विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष दोनों एक ही होते हैं। जगत का सुखों पर आधारित बंधन जो कि जागतिक ऐश्वर्य का प्रलोभन कहा जाकर ईशावास्योपनिषद् में "हिरण्यमयेन पात्रेण" (मंत्र - १५) कहा गया है। मध्य बिंदु के पार करने तक ही होता है। मन की इस बोध यात्रा की पूर्णता को प्रगट करने वाला विवरण अष्टादस पुराणों के रचयिता महर्षि वेदव्यास के अरणि पुत्र - शुकदेवजी द्वारा विदेह राजा जनक से मोक्ष ज्ञान प्राप्त करने हेतु की गई यात्रा तथा मोक्ष ज्ञान प्राप्ति के वर्णन में प्रतिबोधात्मक रूप में महाभारत ग्रंथ के पर्व अध्याय ३२५ व ३२६ में प्रकट हुआ है। यह विवरण साधना पथ के संशयो का समाधान कारक तथा मार्गदर्शक होने के कारण परिशिष्ट "ग" अनुसार यथा रूप होकर हमारी बोध यात्रा में सहायक है।

१२.४ (७) मन द्वारा की जाने वाली बोधयात्रा में अर्थात् - "मनसा पश्यंती" अवस्था को प्राप्त करने में इस यात्रा पथ के मध्य बिंदु को पार करना ही दुष्कर कार्य होता है। यह दुरुहता ही अपरा विद्या और परा विद्या की भेद कारक होती है। इस मध्य बिंदु को पार करने में महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित "क्रिया योग" का पालन "एकलव्य साधना" का आधार बनता है। इसके साथ ही यदि हम राजा जनक द्वारा ब्रह्म जिज्ञासु महर्षि वेदव्यास के पुत्र शुकदेवजी को प्रदाय की गई - "गो" रूपी वेखरी मुद्रा को अपना लेते हैं, तो हम यह सांसारिक जगत की वेतरणी पार कर लेते हैं - इस जीवन में ही। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार जल से परिपूर्ण एक बड़े कलश से हम कई छोटे-छोटे रिक्त पात्र भर लेते हैं, उसी प्रकार परम तत्व से जुड़ा सदगुरु का तपस्वी मन

- सानिध्य रूप में, उपदेश रुप में सहायक होता है। परिपूर्ण मन महर्षि रमण के सानिध्य की भांति मौन रहकर भी सहायक हो जाता है।

ii. श्रीमद्भगवद्गीता में परम तत्व के साक्षात्कार के चार मार्ग बताये गये हैं -

"ध्यानेनात्मनि पश्यन्ती केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥"

(१३/२४)

अर्थात् परम तत्व का साक्षात्कार -

१. ध्यान द्वारा आत्मा में, आत्मा को, आत्मा रूपी मन से देखकर अर्थात् "ध्यान योग" द्वारा,

२. सांख्य दर्शन के सिद्धांत आधार पर प्रकृति और पुरुष के भेद को जानकर उसे अपनाते हुए अर्थात् "ज्ञानयोग" द्वारा,

३. योग दर्शन में वर्णित योग साधना या सोऽहम् साधना को अपनाकर अर्थात् "राजयोग" द्वारा,

४. जीवन में तुलाधार सिद्धांत को अपनाते हुए कर्मरत रहकर या "सिद्धिर्भवति कर्मजा" (श्रीमद्भगवद्गीता - ४/१२) को अपनाकर राजा अश्वपति और राजा जनक की भाँति अर्थात् "कर्मयोग" द्वारा किया जाता है।

यदि हम किसी प्रकार मन की चुंबकीय छड़ के मध्य बिंदु रूपी अवस्था को पार करके धान का छिलका निकालकर प्राप्त किये गये स्वच्छ एवं निर्मल चांवल की भाँति मन की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं या महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित क्रियायोग आधार पर या सद्गुरू के दीक्षा बोध आधार पर शरीरस्थ जीवात्मा के उपदृष्टा और अनुमंता स्वरूप (श्रीमद्भगवद्गीता - १३/२२) से परिचित होकर इससे जुड़ जाते हैं, तो हम वह मूलभूत पात्रता प्राप्त लेते हैं, जो उपरोक्त चारों ही मार्गों के लिये आधार रूप में आवश्यक होती है। इस विशुद्ध अवस्था को प्राप्त मन द्वारा ही परम तत्व अक्षर ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार कर लिया जाता है। जो जड़ और चेतन रूप होकर सर्वत्र व्याप्त है तथा जो अत्यन्त समीप है और अति दूर भी -

"बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - १३/१५)

अनुवाद - वह परमात्मा जड़ और चेतन सभी भूतों में बाहर-भीतर परिपूर्ण है। चर-अचर अर्थात् चेतन और जड़ रूप भी वह ही है और वह अति सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा वह ही अति समीप और अति दूर भी स्थित है।" मन की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर परमतत्व को जान लेना अमृतत्व को प्राप्त कर लेना है, जन्म - मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाना है।

१२.४ (८) मन की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करना त्रिगुण रहित होना कहा गया है, जिसका उपदेश सद्गुरु श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को आत्मबोध प्राप्ति के लिये दिया गया है - "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (श्रीमद्भगवद्गीता - २/४५) तथा सत, रज और तम इन तीनों गुणों से रहित होना ही परम तत्व के साक्षात्कार की पात्रता प्राप्त कर लेना बताया गया है - **"गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते"** (श्रीमद्भगवद्गीता - १४/२६) अनुवाद - इन तीनों गुणों को सम्यक रूप से उल्लंघन कर के ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये योग्य बन जाता है। इस प्रकार "ब्रह्मेव भवति" की आवश्यक शर्त त्रिगुण रहित होना है किंतु इसके साथ ही परम तत्व श्रीकृष्ण कहते हैं कि -

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - १८/४०)

अनुवाद - "और, पृथ्वी में या स्वर्ग में या देवताओं में या कहीं भी वह प्राणी नहीं है अर्थात् कहीं भी कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो।"

इस प्रकार यह जानकर त्रिगुणरहित होना दिवास्वप्न की भाँति असंभव कार्य बन जाता है, प्रत्येक साधक के लिये। किंतु यहां इस समस्या रूपी पहेली को हल करने में श्रीमद्भगवद्गीता में दिया गया सूत्र - "यः पश्यति स पश्यति" हमारी मदद करता है। इस सूत्र के आधार पर निंस्त्रेगुंण्य - (त्रिगुण रहित) होने का अर्थ है - उपस्थिति में अनुपस्थिति को देखना। जब हम जीवन में यह सूत्र अपना लेते हैं, तो सहज ही मूढ़ता का परित्याग करके ज्ञान चक्षु से जुड़ जाते हैं -

"विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः" (श्रीमद्भगवद्गीता - १५/१०)

अनुवाद - "मूढ़ बुद्धि-जन नहीं देख पाते हैं, बुद्धिमान व्यक्ति ज्ञान चक्षु से देख लेते हैं," तो वह आधार प्राप्त कर लेते हैं, जो पथ प्रदर्शक रूप में हमें परम तत्व रूप श्री संत गुरुनानक देव द्वारा बताया गया है -

"सभि गुण तेरे मैं नाहि कोइ। विणु गुण कीते भगति न होइ॥"

(श्रीगुरुग्रंथ साहिब जी पृ. - ४)

अनुवाद - सभी गुण जो कि सत, रज, तम होकर आपस में मिलकर कुल नो हो जाते हैं तथा यह नौ गुण ही मिलकर नवरस या नवगुण का आधार बनते हैं, यह सभी परम तत्व प्रभु तेरे ही हैं। मेरा इनमें से कोई भी नहीं है। यदि इन गुणों का त्याग कर दिया जाये तो भक्ति कैसे होगी।

इन गुणों को अपनाकर ही भक्ति की जा सकती है। नवधा भक्ति को अपनाया जा सकता है।

इस उपदेश को अपनाकर हम गुणों के बीच रहकर भी गुण रहित हो जाते हैं, जल के भीतर स्थित कमल पत्र की भाँति ही, जल प्रवाह में बहकर जा रहे ''काष्ठ खंड'' की भांति ही, दर्पण में दिखाई दे रही आकृति के समरूप ही। आवश्यकता है, स्वयं के दर्पण रूप बन जाने की। सर्वरूप धारण कर परम तत्व के अंश जीवात्मा द्वारा किये जा रहे कर्मों को परम तत्व के प्रति समर्पित कर देने की।

१२.४ (९) इस प्रकार मन की अवस्थाओं के जो पाँच कोष वर्णित किये जाते हैं, वह मन की अवस्थाएं न होकर शरीरस्थ जीवात्मा की ही पांच अवस्थाएं होती हैं। उपनिषद् वाणी में तथा संपूर्ण वैदिक वाङ्मय में मन की एक ही अवस्था मानी गई है वह है - मन का मनोमय होना। यह मनोमय अवस्था दोनों ही धरातल पर टिकी होती है तथा दोनों ही आधार लिये होती है अशुद्ध और विशुद्ध। अथवा श्रेय या प्रेय मन सदैव मनोमय ही रहता है, उसे आप किसी भी अवस्था गुण या कार्य में लगावें। इस प्रकार उत्थान कार्य जीवात्मा का ही किया जाना होता है। हमें मन का परिष्कार करते हुए अपने आत्म स्वरूप का ही परिष्कार कर लेना चाहिए। अन्नमय कोष की मनोमयता के स्थान पर आनंदमय कोष की मनोमयता प्राप्त कर लेना चाहिये। विज्ञानमय कोष से जुड़कर संसार भय से छुटकारा प्राप्त कर लेना चाहिये -

''विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते ॥''

(चाणक्य प्रणीत कौटिल्य अर्थशास्त्र सूत्र - ५६५)

अनुवाद - 'ब्रह्म तत्व के ज्ञान दीपक से संसार भय नष्ट हो जाता है'। परम तत्व मुदितामय है हमें अपने इस मुदितामय स्वरूप करते हुए मुदिता में ही स्थित हो जाना चाहिये, शाखा पर खिले हुए पुष्प की भाँति। मुदिता को अपना लेना चाहिये, जल में रहते हुए कमल के पत्ते और पुष्प की भांति ही। मन को मुदितामय बना लेना चाहिये, कमल के पत्ते और पुष्प की भांति ही ॥

॥हरि ओम्॥ ॥तत् सत्॥

जपयज्ञ - एक सेतु

जपयज्ञ भारतीय मानस में पुरुश्चरण रूप में जाना जाता है। पुरुश्चरण व्रत, जपयज्ञ का ही सामयिक स्वरूप है। पुरुश्चरण शब्द का शाब्दिक आशय है - परम पुरुष के चरणों तक पहुंचने का माध्यम। आचार्य संत गोस्वामी तुलसीदास जी की यह चौपाई - "राम चरन पंकज उर धरहू।" (श्री रामचरित मानस - ६/१/८) पुरुश्चरण व्रत अर्थात् जप यज्ञ का सही - सही परिचय देती है। यह मन को बाह्य जगत से विमुख करके अंतर्जगत में ले जाने का माध्यम है, पुरुश्चरण व्रत राजयोग के द्वार तक पहुंचने की सीढ़ी है। इस यज्ञ में संकल्पित मंत्र का जप एकाग्रचित्त से किये जाने पर यह धारणा, ध्यान और समाधि का बोध कराने वाला होता है। सामान्यत: जपयज्ञ अर्थात् पुरुश्चरण व्रत के लिये मंत्र जप की संख्या सवा लाख निर्धारित है। पुरुश्चरण व्रत का पालन में साधक द्वारा की जाने वाली अंगन्यास और करन्यास, विनियोग आदि क्रियाएं पंच महाभूतों से जुड़ी होना मानी गई हैं। इस समय हमारी लेखनी का प्रयोजन आत्मबोध साधना या अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार या स्व स्वरूप बोध प्राप्ति हेतु जपयज्ञ या पुरुश्चरण व्रत के महत्व से अवगत होना है। अत: हम सीधे इस जपयज्ञ के, आत्म बोध हेतु सेतु रूप पर ही चर्चा करेंगे। इसके अंतर्गत मंत्र का निर्धारण, जप विधि तथा इससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव तक ही हम स्वयं को सीमित रखेंगे। अस्तु।

१३.२ ईशावास्योपनिषद् के १५ वें मंत्र में साधक ब्रह्म विद्या के जिज्ञासु ऋषि द्वारा परम तत्व के गुण एवं लक्षण तथा स्वरूप को स्मरण करते हुए प्रार्थना की गई है -

"हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥"

अनुवाद - "हे सब का भरण पोषण करने वाले, सबके स्वरूप परमेश्वर आपका श्री मुख ज्योतिर्मय सूर्य मण्डल रूप से (भौतिक सुख-सुविधाओं से) ढंका हुआ है, सत्य धर्म का अनुष्ठान करने वाले मुझको, अपने दर्शन कराने के लिये, उस आवरण को आप हटा लीजिये।" यह प्रथम आधार भूमि है जिसे हमें जप-यज्ञ के दौरान सदैव स्मरण रखना चाहिये। ब्रह्म जिज्ञासा का शमन बोध प्राप्ति द्वारा

होता है, जिसे सामान्य भाषा में हम ज्ञान प्राप्ति कहते हैं। जपयज्ञ में जब साधक का लक्ष्य ब्रह्म जिज्ञासा या अक्षर ब्रह्म का बोध प्राप्त करना ही एकमेव लक्ष्य बन जाता है, तो इस ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में आनेवाली बाधाओं का वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

"धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

(३/३८-४०)

अनुवाद - "जिस प्रकार धुंए से अग्नि और मल से दर्पण ढँका होता है जैसे - जेर से गर्भ ढँका हुआ है , वैसे ही काम के द्वारा यह ज्ञान ढँका है। और हे अर्जुन, इस अग्नि सदृश्य कभी पूर्ण न होने वाले - कामरूप ज्ञानियों के नित्य वेरी से यह ज्ञान ढँका हुआ है। इस काम के इंद्रियां, मन और बुद्धि वास स्थान कहें जाते है और यह काम इन मन, बुद्धि और इंद्रियों द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके इस जीवात्मा को मोहित करता है।"

१३.३ (१) परम तत्व की या अक्षर ब्रह्म के ब्रह्मानुभूति के मार्ग में आने वाली इन बाधाओं को हटाने या दूर करने में यह जपयज्ञ या पुरुश्चरण व्रत हमारी मदद करता है। जपयज्ञ मंत्र जप पर आधारित होता है। इस मंत्र जप को ही श्रीमद्भगवद्गीता में सर्वश्रेष्ठ यज्ञ तथा स्वयं परमतत्व श्री कृष्ण की विभूति बताया गया है - **"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"** (१०/२५) अर्थात् सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ स्वयं मै हूं।

(२) परम तत्व की प्राप्ति हेतु श्रीमद्भगवद्गीता में मन, वचन और कर्म अर्थात् शरीर के द्वारा किये जाने वाले तीन प्रकार के तप बताये गये हैं -

" देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शोचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

(१७/१४-१६)

अर्थात् इष्ट देवता, ब्राह्मण, गुरु (मार्गदर्शक) और ज्ञानीजनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा (यह) शरीर संबंधी तप कहा जाता है। ॥१४॥ तथा जो उद्वेग को न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है और जो वेद शास्त्रों के पढ़ने का एवं परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यास है, वह निःसन्देह वाणी संबंधी तप कहा जाता है ॥१५॥ मन की प्रसन्नता और शांतभाव एवं भगवत् चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अंतःकरण की पवित्रता ऐसे यह मन संबंधी तप कहा जाता है ॥१६॥"

पुरुश्चरण व्रत रूपी जपयज्ञ इन तीनों - मानसिक, वाचिक और शारीरिक तप को समाहित किये है। अपने इस सर्वश्रेष्ठ स्वरूप के आधार पर ही भगवान् श्रीकृष्ण ने इसे स्वयं की विभूति - "**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**" कहा है।

१३.४ (१) आराधना किसकी करें - यह गूढ़ प्रश्न है। पुरुश्चरण व्रत में हमारे द्वारा मंत्र के माध्यम से ॐकार की, प्रणव की साधना की जानी चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा प्रणवाक्षर का महत्व सर्वाधिक बार बताया गया है। यह निम्नानुसार है - "**प्रणवः सर्ववेदेषु**" (७/८) संपूर्ण वेदों में ॐकार हूँ। "**अक्षरं ब्रह्म परमं**" (८/३) - जिसका कभी नाश नहीं होता, ऐसा ॐ वह परम ब्रह्म है। "**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति**" (८/११) - वेद के जानने वाले विद्वान जिस सच्चिदानंदघनरूप परम पद को ओंकार नाम से कहते हैं। "**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मानुस्मरन्**" (८/१३) - ॐ ऐसे इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और इसके अर्थरूप मेरे को चिन्तन करता हुआ "**अव्यक्तोऽक्षरं इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्**" (८/२१) - अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है उस अक्षर नामक ॐ, अव्यक्त भाव को परम गति कहते हैं। "**वेद्यं पवित्रमोंकार**" (९/१७) - जानने योग्य पवित्र ॐकार। "**गिरामस्म्येकक्षरम्**" (१०/२५) - वाणी में एक अक्षर ओंकार मै हूँ। "**अक्षराणामकारोऽस्मि**" (१०/३३) - अक्षरों में अकार मैं हूँ।

(२) यह अक्षर स्वरूप ओंकार ही जानने योग्य कहा गया है - "**त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं**" (११/१८) - आप ही जानने योग्य परम अक्षर हैं। इस एकाक्षर ब्रह्म परम पद ओंकार की उपासना करने का निर्देश श्रुति देवी छांदोग्योपनिषद् में सभी ब्रह्म जिज्ञासुओं को, उपासक साधकों को देती है।

"**ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासित**" (१/१/१)

"ओम यह अक्षर उद्गीथ अर्थात् गाये जाने वाला शब्द है। इसकी उपासना करनी चाहिये।" उद्गीथ अर्थात् ऊपर की ओर ले जाने वाला संगीत ही उद्गीथ

है। मन की उनमनी अर्थात् ऊर्ध्वगति को प्राप्त अवस्था में जो ब्रह्मनाद या अनहद नाद सुनाई देता है और जो मन, बुद्धि तथा अहंकार को मृग की भांति अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, वह नाद ध्वनि ही उद्‌गीथ है। यह नाद ध्वनि प्रणवाक्षर के प्लुत्त स्वर का ही प्रतिरूप होती है। मध्यमा वाक् को अपनाकर या कण्ठजप की अजपावस्था में जब साधक द्वारा स्व प्रयास से उत्पन्न की जाने वाली प्रणवाक्षर ॐ की प्लुत स्वर ध्वनि लुप्त होती है, तब यह अन्तः स्फुटित, स्व-प्रस्फुटित नाद ही उद्‌गीथ होता है। यह ही मानव शरीर में स्थित कूटस्थ अक्षर रूप आत्मतत्व को क्षर शरीर से परे ले जाने वाला होकर परम तत्व से जोड़ने वाला (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता १५/१६-१७) होता है तथा उसकी अनुभूति कराने वाला होता है। इस प्रकार परम तत्व की ओर उन्मुख होकर अपने ही स्वयंभू स्वरूप में सुनाई देने वाला तथा जीवांश रूपी आत्म तत्व को परम तत्व में लीन करने वाला लय कर्ता स्वर ही उद्‌गीथ है। इस उद्‌गीथ स्वर अर्थात् प्लुत ध्वनि ॐ के द्वारा ही परम तत्व का वरण किया जा सकता है, उसे प्राप्त किया जा सकता है अतः इसी क्रिया के आधार पर ॐकार ध्वनि प्रणव कही गयी है - **प्रणयात् वृणीयते इति प्रणव** । कठोपनिषद् में इस उद्‌गीथ स्वर प्रणवाक्षर ॐ को ही सर्वश्रेष्ठ आलंबन बताया गया है।

"एतदालंबनं श्रेष्ठमेतदालंबनं परम् ।"

(१/२/१७)

ॐ यह श्रेष्ठ आलंबन है, यह उत्कृष्ट आलंबन है महानारायणोपनिषद् में ओंकार ध्वनि द्वारा ही चित्त को शांत करने का उपदेश दिया गया है - **"ओमित्यात्मानं युञ्जीत"** (महानारा. २४/१) - मुंडकोपनिषद् में अन्य वाणी या मंत्रों का त्याग करते हुए ॐकार ध्वनि या मंत्र द्वारा ही आत्म बोध साधना करने का निर्देश दिया है। **"अन्या वाचो विमुन्द्राथ"** (२/२/५) अन्य वाणी का त्याग करें - **"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्"** (२/२/६) - ओम इस प्रकार आत्मा का ध्यान करें तथा इस ओंकार को ही अमृत का सेतु **"एषः अमृतस्य सेतुः"** (२/२/५) कहा गया है।

१३.५ (१) उपनिषद् वाणी के उपरोक्त अनुशासन का पालन करते हुए हमें आत्मबोध प्राप्त करने या अक्षर ब्रह्म का बोध करने के लिये प्रणवाक्षर ओंम मंत्र को अपनाते हुए ही जप-यज्ञ करना चाहिये। अक्षर ब्रह्म के साकार स्वरूप के दर्शन हेतु तथा साकार स्वरूप का साक्षात्कार करने हेतु संतों द्वारा श्रीरामनाम मंत्र का जप करने का निर्देश दिया है। आचार्य गोस्वामी तुलसीदास राम नाम की महत्ता बताते हुए कहते हैं

"उलटा नाम जगतु जगु जाना । वालमीकि भए ब्रह्म समाना ॥
जिन्हकर नामु लेत जग माहीं । सकल अमंगल मूल नसाहीं ॥"

(श्रीरामचरितमानस - २/१९४/८ एवं १/३१५/१)

"जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक तें एका ॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका।होउ नाथ अध खग गन बधिका॥"

(श्रीरामचरितमानस - ३/४२/७-८)

राम नाम का महत्व बताते हुए आगे कहा गया है -

"नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भव सागर तरहिं॥"

(श्रीरामचरितमानस सोरठा - ६/१)

इसी प्रकार भगवान् शंकर स्वयं कहते है -

"उमा कहऊँ मै अनुभव अपना । सत हरि भजनु जगत सब सपना। ।"

(श्रीरामचरितमानस - ३/३९/५)

जगत में सफल जीवन जीने तथा आत्मबोध प्राप्त करने का मार्ग भी इसी राम नाम पर आधारित होना कहा गया है -

"राम नाम मनिदीप धरू जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहेर हूँ जो चाहसि उजिआर॥"

(श्रीरामचरितमानस दोहा -१/२१)

तथा इस मंत्र जप पर ही विश्वास किया गया है । **"मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा"** (३/३६/१)

संत कबीर द्वारा आत्मबोध प्राप्ति का एकमेव मार्ग राम नाम का जप करना ही बताया गया है । निम्न पद दृष्टव्य है -

"कबीर पढ़िवा दूरि करि, पुस्तक देह बहाइ ।
बावन आखर सोधि करि, ररे ममे चित्त लाइ॥"

(साखी - कथनी विना करनी को अंग - २)

"कबीर राम रिझाइ ले, मुखि अमृत गुण गाइ ।
फूटा नग ज्यों जोड़ि मन, संधिहि संधि मिलाई॥"

(साखी - सुमिरन को अंग - ३१)

संत कबीर का राम नाम पर इतना दृढ़ विश्वास है कि वे स्वयं तो राम नाम जपते ही हैं, दूसरों से भी राम नाम जपने का ही कहते हैं -

"कबीर आपन राम कहि, औरन राम कहाइ ।

जिहि मुखि राम न ऊचरै, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥"

(साखी - सुमिरन को अंग - २३)

तथा राम नाम को ही अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार का तथा परम तत्व की प्राप्ति का एकमेव मार्ग बताते हैं -

"जैसे माया मन रमे, यों जे राम रमाइ ।
(तो) तारा मंडल बेधि के, जहां के सो तहं जाइ ॥"

(साखी - सुमिरन को अंग - २४)

संत कबीर अन्य सभी मंत्रों को या नाम जप को व्यर्थ ही बताते हुए कहते हैं -

"राम पियारा छांडि करि, करे आन का जाप ।
वैस्या केरा पूत ज्यों, कहै कौन सों बाप ॥"

(साखी - सुमिरन को अंग - २२)

राम नाम के प्रति संत कबीर का यह समर्पण भाव पराकाष्ठा को लिये हुए है, जो हमें निम्न पद में देखने को मिलता है -

"कबीर कुत्ता राम का, मोतिया मेरा नाउँ ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊं ॥"

साखी - निहकर्मी पतिव्रता को अंग - १४

इस प्रकार अक्षर ब्रह्म या आत्मबोध की प्राप्ति हेतु नाम जप का एकमात्र मंत्र ॐ अर्थात् प्रणव ध्वनि उपनिषद् वाणी में बताया गया है तथा साकार ब्रह्म के साक्षात्कार एवं आत्मबोध प्राप्ति हेतु राम नाम का मंत्र ही एकमेव मंत्र होना संतो द्वारा कथन किया गया है । श्रीरामचरितमानस में आये वर्णन अनुसार आदि पुरुष मनु एवं सतरूपा द्वारा "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इस द्वादश अक्षर मंत्र द्वारा परम तत्व का निराकार एवं साकार स्वरूप दोनों का ही बोध एवं साक्षात्कार करने का वर्णन श्रीरामचरितमानस - १/१४३ में मिलता है । किन्तु आचार्य संत तुलसीदास राम नाम को ही सार्थक बताते हैं -

"एक छत्रु, एकु मुकुटमनि, सब बरननि पर जोउ ।
तुलसी रघुवर नाम के, बरन बिराजत दोउ ॥"

(श्रीरामचरितमानस - १/२०)

उक्त दो मंत्रों के अलावा मृत्युञ्जय महामंत्र "ॐ नमः शिवाय" मंत्र तथा गायत्री मंत्र द्वारा पुरुश्चरण व्रत या जपयज्ञ किया जाता है । हम कोई सा भी मंत्र ले सकते हैं किन्तु उपनिषद् वाणी में मंत्र के अधिक अक्षरों को तो वाणी

का श्रम ही बताया गया है -

"नानुध्यायाद् बहून्छब्दान् वाचो विग्लापन् हि तदिति ।"

(छांदोग्योपनिषद् - ४/४/२१)

साधक यदि गायत्री मंत्र को अपनाता है तो ठीक अन्यथा अन्य किसी मंत्र को अपनाता है, तो उसे अवश्य ही वह मंत्र लेना चाहिये, जिसमें प्रणव ध्वनि आती हो । आत्मबोध की प्राप्ति हेतु लंबे मंत्र का त्याग करने का अनुशासन मुंडकोपनिषद् में भी श्रुतिदेवी द्वारा किया गया है -

"अन्यावाचों विमुन्वथ"

(मुंडकोपनिषद् -२/२/५)

१३.५ (२) वैदिक साहित्य में परम तत्व की उपासना हेतु गायत्री मंत्र को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । हमें लौकिक ऐषणाओं से मुक्त अवस्था में गायत्री मंत्र का ही जप करना चाहिये । साधक अन्य मंत्रों को भी रुचि अनुसार या मनोभाव के अनुसार अपना सकता है । सभी मंत्र मन की संकल्प भूमि से जुड़कर संकल्प की पूर्ति करने वाले होते हैं । अतः कौन सा मंत्र, किस संकल्प से जुड़ा है या बंधा है यह मंत्र साधना में प्रमुख हो जाता है । तथा इसके अनुसार ही साधक की उपलब्धि तथा अनुभूति होती है । श्रीमद्भगवद्गीता में परम तत्व भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है -

"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ७/२१)

अनुवाद - " जो - जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस - उस भक्त की उस ही देवता के प्रति मैं श्रद्धा को स्थिर करता हूँ ।"

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता -१७/३)

अनुवाद - "यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है ।"

१३.६ (१) जपयज्ञ की आराधना में हमें उपरोक्त मूलभूत जानकारी को अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिये । जपयज्ञ के लिये मंत्र के निर्धारण हेतु वृहदारण्यकोपनिषद् में आया महर्षि याज्ञवल्क्य एवं गार्गी तथा याज्ञवल्क्य एवं उनकी विदुषी पत्नी मैत्रयी का संवाद हमारी मदद करता है । अक्षर ब्रह्म या आत्मा

का स्वरूप जानने की कामना रखने वाले साधक को अवश्य ही इस संवाद का मूल ग्रन्थ से अध्ययन कर इसका अनुशीलन करना चाहिये। विस्तार को सीमा में बांधने के लिये हम यहां महर्षि याज्ञवल्क्य तथा उनकी पत्नी मैत्रयी के संवाद का निम्न अंश उल्लेख करना चाहेंगे । आत्म ज्ञानी, ब्रह्म वेत्ता ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा -

"मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थादस्मि हस्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् - २/४/१)

अनुवाद - अरी मैत्रेयी, ऐसा याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी से कहा । मैं इस स्थान से (गृहस्थाश्रम से) ऊपर अर्थात् ब्रह्म बोध की प्राप्ति हेतु सन्यास धर्म अपनाकर अरण्य में जाने वाला हूं ।अतः तेरी अनुमति चाहता हूं और इस कात्यायनी (दूसरी पत्नी) के साथ तेरा बंटवारा कर दूं ।

"सा होवाच मैत्रेयी । यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्थात्कथं तेनामृता स्यामिति नैति होवाच याज्ञवल्क्यो यथेवोपकरणवतां जीवितं तथेव ते जीवित्‌ ँ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ।"

(बृहदारण्यकोपनिषद् - २/४/२)

अनुवाद - उस मैत्रेयी ने कहा, "भगवन्, यदि धन से संपन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, भोग-सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायेगा । धन से अमृतत्व की तो आशा है नहीं ।

"सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं
तेन कुर्याम् यदेव भगवान्वेद तदेव में ब्रूहीति ॥"

(बृहदारण्यकोपनिषद् -२/४/३)

अनुवाद - उस मैत्रेयी ने कहा, "जिससे में अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर में क्या करूँगी ? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व का साधन जानते हो वहीं मुझे बतलावें ।"

जिज्ञासु मैत्रेयी को अमृतत्व का मार्ग बताते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य ने उपदेश दिया है -

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वम् विदितम् ॥"

२/४/५

अनुवाद - अरी मैत्रेयी, यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी, इस आत्मा के ही दर्शन, मनन एवं विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।

प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्म विद्या के जिज्ञासु शिष्य सत्यकाम को सद्गुरु ऋषि पिप्पलाद ने आत्मज्ञान हेतु उपदेश देते हुए कहा है -

"ओमित्येतेनेवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत"

(प्रश्नोपनिषद् - ५/५)

अनुवाद - ॐ इस अक्षर से इस परम पुरुष का ध्यान करना चाहिये।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् में भी श्रुति देवी का कथन है -

"एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थंनातः परं बेदितव्यं हि किंचित्।"

(श्वेताश्वेतरोपनिषद्-१/१२)

अनुवाद - अपने आत्मा में स्थित इस ब्रह्म को सर्वदा जानना चाहिये। इससे बढ़कर और कोई ज्ञातव्य नहीं है।

(२) उपरोक्त विवेचनानुसार अक्षर ब्रह्म या आत्म तत्व या परावाक् का बोध प्राप्त करने या परम तत्व का साक्षात्कार करने के लिये आवश्यक है कि हम ॐकार ध्वनि से युक्त मंत्र को ही जपयज्ञ के लिये अपनावें। महाभारत का यह मंत्र भी हमारा मार्ग दर्शन करता है -

"किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने।
नमो नारायणायेति मंत्रः सवार्थसाधकः॥"

(महाभारत शांतिपर्व - २०९/४९६१ पृष्ठ)

अनुवाद - जिसकी भगवान् जनार्दन में भक्ति है, उसे बहुत से मंत्रों द्वारा क्या लेना है? "ॐ नमो नारायणाय" यह एकमात्र मंत्र ही संपूर्ण मनोरथ की सिद्धि करने वाला होता है।

(३) इस प्रकार हमें उपनिषद् वाणी का पालन करते हुए ॐकार ध्वनि से युक्त मंत्र जैसे - गायत्री मंत्र, "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय", "ॐ नमो नारायणाय", ॐ नमः शिवायः" या अन्य मंत्र जिसमें "ॐकार ध्वनि" आती हो, अपना लेना चाहिये तथा साकार उपासना या सगुण उपासना के लिये सभी संशयों को छोड़कर श्रीराम नाम मंत्र का - **"राम भजहि तर्क सब त्यागी"** (६/७४/२) ही जप करना चाहिये तथा योगीराज शिव का यह उपदेश -

"गिरिजा ते नर मंदमति जे न भजहिं श्रीराम।"

(श्रीरामचरितमानस - ६/७१)

को अपना लेना चाहिये । अक्षर ब्रह्म के या परावाक् के अनुभव हेतु हम कहना चाहेंगे कि साधक प्रणव ध्वनि युक्त मंत्र को ही जप यज्ञ हेतु अपनावें । क्योंकि अक्षर ब्रह्म का नाम प्रणव ही है **"तस्य वाचक प्रणवः ।"**

१३.७ (१) मंत्र निर्धारण के बाद जप यज्ञ की प्रक्रिया तथा उसके प्रभाव पर विचार करना आवश्यक हो जाता है । जप-यज्ञ की प्रक्रिया का मार्ग दर्शन करने वाला महर्षि पतञ्जली का यह निर्देश - **"तज्जपस्तदर्थ भावनम्"** (योगदर्शन - १/२८) ही फल प्रदान करने वाला है । अतः योग महर्षि का अनुशासन पालन करते हुए हमें मंत्र के अर्थ तथा मंत्र के भाव से भी जुड़ जाना चाहिये । महर्षि पतञ्जली द्वारा मंत्र जाप में मंत्र का अर्थ तथा मंत्र के भाव से जुड़ना कहा जाकर दो अलग-अलग स्थितियों की ओर संकेत किया गया है । इनको स्पष्ट करने के लिये हम प्रणव मंत्र आधार पर कहेंगे कि प्रणव मंत्र का अर्थ है - संपूर्ण जगत को एक ॐकार अर्थात् अक्षर ब्रह्म का ही विस्तार मान लेना - **"एतद् सर्वम्"** तथा संपूर्ण जगत के कर्ता आधार परम तत्व या अक्षर ब्रह्म को ही चिंतन में बनाये रखना जिसे आधुनिक युग के महान् संत गुरुनानकदेव द्वारा "एक सत ॐकार" या **"एक ॐ सति नामु"** कहा है । यदि हम यह अर्थ लेकर प्रणव मंत्र का जप करते हैं तो ही हम महर्षि पतञ्जली के अनुशासन का पालन करते हैं, मंत्र के अर्थ के संबंध में महर्षि पतञ्जली के अनुशासन का दूसरा सोपान **"भावनम्"** अर्थात् जप करने वाले व्यक्ति की भावना से जुड़ा हुआ है । यह साधक की मनःअवस्था का मार्ग दर्शन करने वाला शब्द है । जिस प्रकार गङ्गा की पवित्रता सतत् प्रवाहशील होती है, किंतु हम उससे जुड़कर ही इसका अहसास कर पाते हैं । गङ्गा जल की निर्मलता को जानकर इसे भाव-भूमि पर ही स्वीकार कर लेते हैं । उसी प्रकार यहां महर्षि द्वारा प्रणव तत्व से जुड़ने का ही संकेत किया गया है । मांडूक्योपनिषद् अनुसार - समस्त सृष्टि की उत्पत्ति, विकास, धारणा एवं लय का आकार तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य तथा इन तीनों कालों से परे भी संपूर्ण अवस्थाओं का नियंता प्रणव रूप अक्षर ब्रह्म को ही माना गया है । जीवात्मा इस अक्षर ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर इस जगत में प्रगट रूप से पृथकता लिये हुए है । वह परम तत्व का ही सूक्ष्म अंश धारण किये हुए है । अतः इस लघुता में ही अपनी विराटता का या अपनी सामर्थ्य का भाव लाना अर्थात् परम तत्व को प्राप्त कर लेने की, आत्म तत्व को जान लेने की, अक्षर ब्रह्म का बोध प्राप्त कर लेने की अपनी क्षमताओं को स्मरण करके उन्हें हीं भाव-भूमि पर स्वीकार करने के लिये ही महर्षि पतञ्जलि द्वारा **"भावनम्"** शब्द का अनुशासन किया गया है यह परम तत्व के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना है जिसे उपनिषद् वाणी में

अस्तीति कहा गया है । जपयज्ञ में स्वीकार किये गये अपने लक्ष्य के प्रति हमारी भावना कैसी हो ? इसका आदर्श उदाहरण आचार्य गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा श्रीरामचरितमानस में श्रीराम तथा सीता के स्वयंवर अवसर पर किये गये वर्णन में मिलता है । विवाह की अनिवार्य शर्त शिव-धनुप को भंग कर देने अर्थात् तोड़ देने के संबंध में वर्णित लक्ष्मण द्वारा कही गयी चौपाइयों में व्यक्त भावना -

"कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावों ।"

तथा -

"काचे घट जिमि डोरो फोरी । सकउ मेरू मूलक जिमि तोरी ।"

एवं

"कमल नाल जिमि चाप चढावों, जोजन सत प्रमान ले धावों ॥"

को आदर्श मानकर इनका अनुसरण करते हुए, हम आगे बढ़ते हैं तो ही यह **भावनम् शब्द का पालन** किया जाना है । यदि हम इस आत्म विश्वास को ही नहीं अपनाते हैं और अपने सामर्थ्य पर शंका करते हैं, पूर्ण सामर्थ्यवान् अंगद की भांति बलशाली होते हुए भी यदि आत्मविश्वास से पूर्ण नहीं होते हैं तो सफलता हम से दूर रहती है । हम अंगद की भांति अर्थात् अडिग पांव की भांति बलशाली और संकल्पशील होते हैं किंतु आत्मविश्वास से अपूर्ण होते हैं, जिस प्रकार कि अंगद द्वारा लंका जाते समय यह कहा जाना कि वह समुद्र लांघ कर जा तो सकता है किंतु लौटकर आने में कुछ संदेह है (श्रीरामचरितमानस - ४/३०/१) तो हमारा लक्ष्य हमसे दूर ही बना रहता है । अतः आवश्यक है कि हम मंत्र के अर्थ के साथ-साथ स्वयं की लक्ष्य प्राप्त कर लेने की सामर्थ्य को स्मरण रखते हुए ही जपयज्ञ से जुड़ जावें । हमारी भावना जुड़ने के प्रति कैसी हो? यह समझ लेने में, यह निम्न, नीति वाक्य भी हमारी मदद करता है -

"यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
स न जानाति शास्त्रार्थम् दर्वीपाकरसं यथा ॥"

अनुवाद - "जिसमें अपनी प्रज्ञा नहीं है और जिसने बहुत पढ़ सुन रखा है, वह शास्त्र के अर्थ को उसी प्रकार नहीं जानता जिस प्रकार कि करछूल-पाकरस में पड़े रहने पर भी पकवान् के रस को नहीं जानता है ।" तात्पर्य यह है कि हमें अर्थ और भाव-भूमि दोनों ही आधार पर श्रद्धायुक्त होकर - **"श्रद्धावान् लभते नरः"** मंत्र से जुड़ जाना चाहिये । हमें इस उपनिषद् वाणी को ही अपना लेना चाहिये

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव ।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि ।

द्रविण ँ सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १/१०/१)

अनुवाद - "मैं संसार वृक्ष का उच्छेदन करने वाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के शिखर की भांति उन्नत है । अन्नोत्पादक शक्ति से युक्त सूर्य में जैसे उत्तम अमृत की प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार में भी संसार में रहते हुए अतिशय पवित्र अमृत स्वरूप हूँ। प्रकाशरूप सभी को आच्छादित करने वाला द्रव हूँ। अमृत से अर्थात् सुविचारों से अभिसिञ्चित श्रेष्ठ बुद्धि वाला हूँ, अमृत को प्राप्त कर लेने वाला हूँ।" इसे ही भाव भूमि पर धारण कर लेना चाहिये ।

१३.८ जपयज्ञ के लिये आरंभ में वाचिक अर्थात् बोलते हुए मंत्र का जाप करना चाहिये। मंत्र के प्रत्येक अक्षर का पूर्ण एवं शुद्ध उच्चारण, अक्षर-दर-अक्षर अर्थात् शब्द-दर-शब्द करना चाहिये । मंत्र का उच्चारण शुद्ध हो रहा है या नहीं, इसका निर्धारण गुरुमुख द्वारा सुनी गई वाणी से करना चाहिये । (महामृत्युंजय आदि मंत्र के लिये यह परम आवश्यक है) या स्वतः ही इसका निर्धारण कर लेने की प्रक्रिया यह है कि जिस प्रकार बाल-विनोद में हम बिल्ली की म्याऊं-म्याऊं बोलकर उसका उच्चारण सुनते हुए शुद्धता का निर्धारण कर लेते हैं या बसंत ऋतु में कोयल की कूहू- कूहू सुनकर उसका अनुसरण करते हुए बिल्कुल वैसी ही आवाज निकालने में सफल हो जाते हैं, उसी प्रकार मंत्र के प्रत्येक वर्ण या शब्द का पृथक्-पृथक् एवं पूर्ण लयबद्ध उच्चारण मंत्र की लिपि के अनुसार करना चाहिये । आरंभ में वागेन्द्रिय को जटिलता या उच्चारण की दुरूहता का सामना करना पड़ सकता है किंतु अभ्यास से यह दुरूहता सरलता में परिवर्तित हो जाती है । अनन्यचित्त अर्थात् एकाग्रता द्वारा किया गया मंत्र जप सफलता प्रदान करने वाला होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - ८/१४ व १०/९-१०)

अनुवाद - "हे अर्जुन, जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरंतर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरंतर मुझमें युक्त हुए साधक के लिये मैं सुलभ हूं, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूं ।

निरंतर मुझमें मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरंतर संतुष्ट होते और मुझ वासुदेव में ही निरंतर रमण करते हैं । उन निरंतर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्वज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

१३.९ मंत्र जप के लिये अर्थात् जप यज्ञ के लिये संकल्प की गई सवा लाख मंत्रों की गणना के लिये माला का उपयोग करना चाहिये । माला के रूप में तुलसी की माला या चंदन की माला या रुद्राक्ष की माला या स्फटिक की माला उपयुक्त होती है । तुलसी की माला पवित्रता की कारक, चंदन की माला आचरण एवं चरित्र की सुवास देने वाली, रुद्राक्ष की माला - समर्पण को व्यक्त करने वाली तथा स्फटिक की माला-चित्त की निर्मलता प्रदान करने वाली मानी गई है । माला १०८ मनके वाली लेना चाहिये । **माला के १०८ मनके** परम तत्व परमेश्वर के व्यापक स्वरूप को बताने वाले हैं । सृष्टि के क्रम में यह परमतत्व ही सूर्य और चन्द्रमा तथा नक्षत्र एवं तारे बना है । परम तत्व ही नव-ग्रह रूप है । और यह स्वयं ही १२ राशि में विभाजित होकर स्वयं को ही नियंत्रित कर रहा है । यह परम तत्व ही स्वयं को कार्य एवं कारण सिद्धांत तथा कर्म एवं उसके फल सिद्धान्त आधार पर सभी प्राणियों में आत्मस्थ होकर स्वयं को ही प्रगट करता है और स्वयं ही अपने स्वरूप को अर्थात् आत्म रूप को ज्ञात करके कर्म एवं काल के बंधन से मुक्त हो जाता है । माला के यह १०८ मनके परम तत्व के नियंता स्वरूप को प्रगट करते हैं और स्मरण कराते हैं - हमें प्रत्येक कर्म को परम तत्व के प्रति समर्पित करने के लिये । परम तत्व का विराटकाल स्वरूप १२ राशियों में तथा नवग्रह के रूप में प्रगट हुआ है । इस पृथ्वी तल पर जन्म लेने वाले सभी प्राणी - सूर्य, चंद्रमा, शनि, बृहस्पति, मंगल आदि नवग्रहों के प्रभाव से नियंत्रित होते हैं । नियमन का यह क्रम सत्ताइस नक्षत्रों में उनके चार-चार चरणों के आधार पर बँटा हुआ है । प्रत्येक नक्षत्र के चार चरण हैं तथा नक्षत्रों की संख्या कुल २७ होना मानी गई है । इन सत्ताइस नक्षत्रों में ही समस्त ब्रह्माण्ड का विभाजन माना गया है । इस प्रकार सत्ताइस नक्षत्रों के चार चरण अर्थात् - २७ x ४ = १०८, विभाजन के अंशों को प्रगट करने वाले यह १०८ मनके होते हैं । इसी प्रकार इन नक्षत्रों के कालखंड में ही ग्रहों की स्थिति तथा राशि निर्धारण के आधार पर कर्म और उसका फल अर्थात् कार्य - कारण सिद्धांत बंधा हुआ है । बारह राशियों में नवग्रहों के परिभ्रमण या स्थिति अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के

जन्म लेने की स्थिति तथा उसका नियमन इन्हीं १२ राशियों में नवग्रहों की स्थिति से नियंत्रित होता है । अतः नियमन की १२ x ९ = १०८, स्थितियों को प्रगट करने वाली यह १०८ मनकों की माला होती है । इस प्रकार जपयज्ञ के लिये माला को धारण करना प्रतीक रूप में काल-पुरुष के बंधन को स्मरण करते हुए, इससे मुक्त होने का ही संकल्प होता है । यह माला सदैव ही अपने अक्षर स्वरूप का बोध कराने वाली होती है । साधक जब माला को धारण करके जपयज्ञ हेतु प्रवृत्त हो तो उसे सदैव ही यह स्मरण रखना चाहिये कि वह विराट पुरुष का ही अंश है और अपने इसी मुक्त स्वरूप को उसे पा लेना है । गणना हेतु माला के मनके आगे बढ़ाने के लिये अंगूठे तथा मध्यमा और अनामिका अंगुली का उपयोग करना चाहिये । तर्जनी अंगुली का उपयोग कदापि न करना चाहिये । एक माला अर्थात् १०८ जप पूर्ण होने पर माला को पलट लेना चाहिये । माला के गांठ बिंदु जिसे ब्रह्म गांठ कहा जाता है, उसे पार नहीं करना चाहिये । जब मंत्र का जाप विशुद्ध स्वरूप में होने लगे अर्थात् वाणी का अवरोध समाप्त हो जावे अर्थात् वागेन्द्रिय मंत्र जप की अभ्यस्थ हो जावे तो मंत्र का जप फूस-फूसाहट के साथ करना चाहिये अर्थात् निकट बैठे हुए व्यक्ति को भी मंत्र का उच्चारण सुनाई नहीं देवे ऐसी अवस्था में आ जाना चाहिये तथा मंत्र के जप को स्वयं ही निरंतर सुनने का प्रयास करना चाहिये । फिर शनैः-शनैः मंत्र जप करते समय होठों की हलचल तथा जिह्वा की हलचल को समाप्त करके केवल मानसिक जप करना चाहिये । यदि मन इस स्थिति में आने में लंबा समय लेता है तो मंत्र जप की क्रिया को श्वसन प्रक्रिया से जोड़ देना चाहिये । श्वसन प्रक्रिया से जोड़ देने पर मन नियंत्रित होता है तथा चित्त की एकाग्रता शीघ्र प्राप्त होती है, यह मन और वाक् दो ही इसके मार्ग हैं (छां.उ. - ४/१६/१) । मानसिक जप अवस्था में वागेन्द्रिय तथा होंठ आदि की कोई हलचल नहीं होती है । इस अवस्था में साधक को आंखों की दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर रखना चाहिये । जप के साथ जुड़ी हुई ध्यान की अवस्था का वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है -

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ६/१३)

अनुवाद - "काया, सिर और गले को समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ।" अतः साधक को आरंभ में नियत स्थान पर उपयुक्त आसन पर बैठकर

जप करना चाहिये तथा उपरोक्त बताई गई स्थिति अर्थात् शरीर, सिर एवं गले आदि को अचल एवं स्थिर धारण करना चाहिये। मंत्र जाप एवं ध्यान की अवस्था का वर्णन श्वेताश्वेतरोपनिषद् में भी निम्न मंत्र में किया जाना पाया जाता है -

"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं, हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् २/८)

अनुवाद - "विद्वान् साधक को चाहिये कि सिर, गला और छाती तीनों अङ्ग ऊँचे उठाये हुए शरीर को सीधा और स्थिर करके तथा समस्त इंद्रियों को मन के द्वारा हृदय में निरूद्ध करके ॐकार रूप प्रणव मंत्र रूपी नौका द्वारा संपूर्ण भयंकर प्रवाहों को पार कर जाये।" साधक को जप करते हुए अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करते हुए धीरे-धीरे ध्यान को भ्रूमध्य में ही केन्द्रीत कर लेना चाहिए अर्थात् दृष्टि को नासिका मूल पर स्थित कर लेना चाहिये तथा मन को प्राणवायु से जोड़कर उसे पंच प्राण तथा उपप्राण की खोज में लगाना चाहिये। प्राण वायु से जुड़कर मन इसके सर्वव्यापी स्वरूप को जानने के लिए अग्रसर होगा तो यह क्रिया ही अन्ततः भूमा स्वरूप का बोध कराने वाली हो जाती है। प्राण के धारण कर्ता पुरुष तत्व के सर्वव्यापी, अविनाशी, शाश्वत और सर्व स्वरूप का बोध कराने वाली बन जाती है, समाधी अवस्था को प्राप्त कर लेने में सहायक बन जाती है। जिससे प्राण तत्व प्राणन् क्रिया करता है, उस आधार का बोध प्राप्त कर लेने का साधन बन जाती है।

१३.१० जप प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए हम पुनः कहेंगे कि - मानसिक जप करते समय साधक को अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थित करने का निर्देश श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में दिया गया है। इसका शाब्दिक अर्थ तो यह ही है किंतु जब हम श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की शब्दावली - **"यः पश्यति स पश्यति"** को आधार मानते हैं तो इसका अर्थ दृष्टि तक ही सीमित नहीं रह जाता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में ध्यान की आवश्यक शर्त मन को जोड़ना कहा गया है। अतः साधक को एक और तो स्थिर चित्त होकर मंत्र का जाप करना चाहिये तथा दूसरी ओर मन को नासिका के अग्र बिंदु पर श्वसन क्रिया के प्रवाह को जानने के कार्य में जोड़ देना चाहिये। सांख्य दर्शन में मन को उभयात्मक - **"उभयात्मकं मनः"** (२/२६) बताया गया है। अतः आरंभ में जप करते समय सुनने की संलग्नता आधार पर प्राप्त की गई एकाग्रता को विस्तार करते हुए मन के कार्य का पुनः विभाजन कर देना चाहिये। साधक मानसिक जप करते हुए एक ओर तो यह प्रयास करे कि वह स्वयं के द्वारा की जा रही जप की ध्वनि को स्वयं ही सुने तथा दूसरी

ओर मन को श्वसन क्रिया के साथ जोड़ देवें । शरीर सरंचना के क्रम में मन पंच तत्वमय कहा जाकर पांच तत्वों के पंच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, तेज, रस और गंध) एवं इनसे उद्भूत पांच ज्ञानेन्द्रियों एवं पांच कर्मेन्द्रियों का स्वामी कहा गया है । मन से परे बुद्धि तथा बुद्धि से परे परम तत्व बताया गया है । परम तत्व के बोध को वाणी से परे कहा गया है । जप यज्ञ साधना में मंत्र अंततः छूटता है अतः इसकी पूर्व भूमिका में मन को आरंभ से ही श्वसन क्रिया से जोड़ देना आवश्यक होता है । हमारा लक्ष्य अंततः इस शरीर के स्वामी अर्थात् प्राण तत्व के स्वामी को जान लेना होता है, जिसे उपनिषद् वाणी में ब्रह्म कहा गया है -

"यत प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।"

(केनोपनिषद् - १/८)

अनुवाद - "जो प्राण के द्वारा चेष्टायुक्त नहीं होता बल्कि जिससे प्राण चेष्टायुक्त होता है । उसको ही तू ब्रह्म जान । प्राणों की शक्ति से चेष्टायुक्त दिखनेवाले जिस तत्व समुदाय की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ।" मन को प्राण से जोड़ देना शीघ्र ही देहाध्यास छूट जाने का कारण बनता है । जिस प्रकार वाचिक जप करते समय तथा फुस-फुसाहट के साथ जप करते समय, उच्चारण को सुना जाता है, उसी प्रक्रिया को निरंतर जारी रखते हुए मानसिक जप क्रिया से जोड़कर मंत्र के अक्षर या शब्द उच्चारण को सुनने का प्रयास करना चाहिये । यदि हम आरंभ में यह आवाज नहीं सुन पाते हैं तो श्वासों की सीढ़ी के सहारे भीतर उतरकर अंदर की हलचल अर्थात् जप प्रक्रिया को जानने का प्रयास करना चाहिये । आंख बंद कर के एकाग्रचित्त द्वारा किये गये अभ्यास और प्रयास से शब्द की, मंत्र की अंतःध्वनि को सुनने में सफलता मिल जाती है । क्योंकि वागेन्द्रिय द्वारा शब्द का उच्चारण करने वाला तथा श्रोत (कान) द्वारा उच्चारण को सुनने वाला मन ही है । अतः मन अपने मूलरूप में स्थित होकर शब्द की इन दोनों ही अवस्थाओं को कहकर एवं सुनकर स्वयं इनका साक्षी बन जाता है । इस अवस्था को प्राप्त कर लेना ही वास्तविक रूप में मन की एकाग्रता को प्राप्त कर लेना है । यह नाद श्रवण मन को अंतर्मुखी बना देता है, इस अवस्था का वर्णन करते हुए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में - **"आप आप से कहता है वह, आप आपकी है सुनता"** (पंचवटी) अवस्था को प्राप्त कर लेना है । इसी अवस्था को आचार्य गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरित्मानस में आत्मतत्व या सगुण ब्रह्म का वर्णन करते हुए - **"सुने विनु काना"** तथा **"बिन वाणी वक्ता बढ़ योगी"** - पदावली द्वारा वर्णित किया है । यह मन का स्व-स्वरूप में प्रवेश कर जाना है, जिसे संत

कबीर द्वारा - "उनमनी" अवस्था कहा गया है । इस प्रक्रिया में हाथ से माला द्वारा की जा रही जप संख्या की गणना में शिथिलता आवेगी । अंगुली के पोर शांत अवस्था को प्राप्त करना चाहेंगे तथा साधक के हाथ या बाँह में भारीपन आकर दर्द की अनुभूति होने लगती है । यह माला छूटने का संकेत है । यदि हाथ में तीव्र दर्द होता है और गणना में माला फेरने में पीड़ा होती है तो आवश्यक है कि माला को छोड़ देवें । यहां हम साधक को यह भी आवश्यक जानकारी देना चाहेंगे कि जप साधन पद्मासन अवस्था में ही करना चाहिये । आरंभ में यदि असुविधा होती है तो सुखासन के साथ पद्मासन लगाकर नित्य ही जप करते समय पद्मासन की कालावधि बढ़ाते जाना चाहिये । यह पद्मासन अवस्था साधक के देहाध्यास छूटने में सहायक होती है । पद्मासन इस शरीर के द्वारा की जानी वाली साधना में स्व-नियंत्रित प्रणाली की भांति साधक के लिए आत्मबोध की यात्रा के मार्ग में सहायक होता है । माला छूटने की अवस्था आती है, तो यह पद्मासन ही साधक को स्थिरता प्रदान करने वाला तथा दृढ़ता एवं स्थिरता के साथ चेतनायुक्त बने रहने में सहायक होता है । माला छूटने की अवस्था में साधक को पद्मासन में बैठे हुए ही अपनी गोदी में बांये हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की हथेली को रखते हुए, नेत्र बंद करके जप करने का प्रयास करना चाहिये तथा अंतस्थ ध्वनि को सुनने का प्रयास करना चाहिये तथा साथ ही नेत्रों को बंद रखते हुए अंदर देखने का प्रयास करना चाहिये । यदि साधक अंतस्थ ध्वनि सुन रहा होता है तो इस अवस्था में बने रहने का प्रयास करना चाहिये यह साधक का मन के द्वारा अंतर्जगत में प्रवेश करना होता है । जप करते हुए श्वसन क्रिया के साथ जो मन को जोड़ा गया था, वह इस अवस्था में सहायक होता है । साधक इस प्रक्रिया को साथ-साथ अपनाते हुए उस प्राण तत्व के संपर्क में आ जाता है जो शब्द का उच्चारण करने वाला और सुनने वाला तथा प्राण द्वारा प्राणन क्रिया करने वाला होता है । इस अवस्था में प्रथमानुभूति अंगों की शिथिलता अर्थात् निद्रावस्था से होती है । साधक को चाहिये कि वह इस शिथिलता को दूर करने के लिये योगनिद्रा का आश्रय ले लेवें । यह निद्रा तनाव से रहित करने वाली तथा चित्त को शांत करने वाली होती है । इस अवस्था के प्राप्त कर लेने पर साधक को नित्य ही योगाभ्यास से जुड़े रहना चाहिये । तथा शवासन आदि भी करते रहना चाहिये । जपयज्ञ साधना के क्रम में यदि निद्रा नित्य ही आती है तो यह बाधा है । इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर साधक को अन्य एक अनुभूति यह होती है कि साधक द्वारा किया जा रहा संकल्पित मंत्र का जप या उच्चारण स्वतः ही परिवर्तित हो जाता है । मंत्र परिवर्तन की यह प्रक्रिया विस्मयजनक होती

है अर्थात् कब मंत्र परिवर्तन हो गया और क्यों या कैसे हुआ इसका कोई कारण खोजने पर भी नहीं मिलता है। चूंकि ये अवस्थाएं अनिवार्यतः ही आती हैं अतः इन्हें प्राप्त कर साधक को विचलित नहीं होना चाहिये। तथा प्रणवाक्षर से युक्त संकल्पित मंत्र से जुड़े रहना चाहिये। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर शरीर तंत्र की एक अन्य आवश्यकता होती है - प्राण वायु के संचरण मार्ग की शुद्धता। जिसे सामान्यतः "**नाड़ी शुद्धि**" कहा जाता है। इसके लिये आवश्यक है कि साधक जपयज्ञ को अपना लेने के साथ ही नाड़ी शुद्धि की प्रणाली से भी अवगत हो जावें। नाड़ी शुद्धि के लिये अपनाई जाने वाली सरलतम प्रक्रिया यह है कि साधक दिन में भोजन करने के चार घंटे बाद या प्रातःकाल कभी भी कम से कम चार बार रेचक और कुंभक प्राणायाम की क्रिया कर लेवें। विधि यह है कि जिस नासिका सुर से प्राण वायु छोड़ी जा रही है, उसी सुर के द्वारा प्राणवायु ग्रहण करना है। यदि संभव हो सकें तो प्राणवायु ग्रहण करने की क्रिया एवं छोड़ने की क्रिया में एक अनुपात दो अर्थात् १ : २ का समय लगाना चाहिये। यदि यह समय नियंत्रित नहीं होता है तो शनैः शनैः ही प्राणन् तथा विसर्जन की क्रिया करना चाहिये। जब साधक का देहाध्यास छूटता है, तो चित्त शक्ति जिसे "**आह्लादिनी**" या "**कुंडलिनी**" शक्ति कहा जाता है। स्वतः ही साधक का नियंत्रण करने वाली बन जाती है। अतः इस अवस्था को प्राप्त करने के पहले आवश्यक है कि प्राणवायु के मुख्य मार्ग को सुव्यवस्थित रखा जावे। जिस प्रकार बरसात आने के पहले मुख्य नालियों को साफ करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार का महत्व यह प्राणन क्रिया रखती है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेना मन के द्वारा **मनोमय कोष** में प्रवेश कर जाना है। मनोमय कोष में स्थिर रहकर मन **मध्यमा वाक्** को अपनाकर स्वतः ही विकारमुक्त होता है। विकारमुक्त मन अपनी शुद्धावस्था को प्राप्त करके **विज्ञानमय कोष** में प्रवेश करता है, इसके लिये साधक को अपने योग्य निर्देशक से अवश्य ही परामर्श कर लेना चाहिये। चूंकि इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के साथ ही विभिन्न शारीरिक क्रियाएं तथा विभिन्न योगासन स्वतः ही होने लगते हैं अतः साधक को धैर्य अपनाते हुए पूर्ण समर्पण स्वयं की देह में स्थित गुरू तत्व के प्रति ही कर देना चाहिये। आत्म तत्व स्वयं ही **उपद्रष्टा एवं अनुमंता** होकर साधक का सहायक हो जाता है। (श्रीमद्भगवद्गीता १३/२२) योग्य सद्गुरु का परामर्श यात्रा की दूरी को कम करने वाला एवं अवरोधों की जानकारी देने वाला तथा सावधानियों से अवगत कराने वाला होता है, परा विद्या का संकेत करने वाला होता है। देहाध्यास का छूटना ध्यानावस्था को प्राप्त कर लेना तथा राजयोग में वर्णित ध्यान धारणा समाधि अर्थात् संयम अवस्था की ओर अग्रसर

होना होता है । यह समाधि अवस्था की पूर्वावस्था को प्राप्त कर लेना होता है ।

१३.११ (१) इस अवस्था को प्राप्त कर के साधक को रुकना नहीं चाहिये । मंत्र जप करते हुए अंत:ध्वनि को सुन लेना मध्यमा वाक् से परिचित हो जाना है । मध्यमा वाक् को प्रारंभिक तौर पर जान लेना है । अत: मध्यमा वाक् को अपनाते हुए शांत चित्त बने रहकर अपने संकल्पित यज्ञ को पूरा करना चाहिये। मध्यमा वाक् में टिके रहना या इसको अपनाना मन को स्वत: ही विकारों से मुक्त करने वाला होता है । यह मन को शुद्धावस्था प्रदान करके "**उनमनि**" अवस्था में ले आता है जो कि जपयज्ञ का लक्ष्य है ।

(२) इस प्रकार जपयज्ञ हमें अंतत: परम तत्व की धारणा से जोड़ देता है तथा समाधि अवस्था के द्वार तक पहुंचा देता है । इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि आरंभ से ही महर्षि पतञ्जलि द्वारा दिये गये अनुशासन - "**तज्जपस्तदर्थ भावनम्**" (योग दर्शन - १/२८) को अपना लेवें । यदि साधक इस अनुशासन का पालन नहीं करता है तो उसके द्वारा किया जा रहा या किया गया मंत्र जप "**शुक्-वाक्**" बना रहता है । तथापि यह मंत्र जाप संत आचार्य गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार फलदायी तो होता ही है -

"तुलसी अपने राम को, रीझ भजो या खीझ ।
उलटो सीधो जामिहै, खेत परे को बीज ॥"

१३.१२ जप यज्ञ में होने वाली शारीरिक क्रियाएं एवं उनका प्रभाव -

साधक जब जपयज्ञ का संकल्प करके नियत संख्या में जप करने के लिये नित्य ही उषाकाल में पद्मासन में स्थित होकर यज्ञ को पूरा करने के लिये जप करता है तो साधक के शरीर में होने वाली प्रमुख शारीरिक या यौगिक क्रियाएं तथा उनका प्रभाव निम्नानुसार होता है - इनसे साधक को विचलित न होकर आवश्यक पथ्य को अपना लेना चाहिये, अपने जपयज्ञ की पूर्णता के लिये । प्रमुख क्रियाओं का या प्रभावों का वर्णन निम्नानुसार है :-

(अ) जप करते हुए डकार आना -

यह पाचन क्रिया के दोष दूर होने से संबंध रखती है । यह आमाशय में तथा श्वसन प्रणाली में रुकी हुई दूषित वायु का निकलना है ।

(आ) जमुहाई या उबासी आना -

यह शरीर में व्याप्त दूषित वायु का निकलना है । यह शरीर और चित्त

में स्थिरता आने का पूर्व संकेत है। कभी-कभी यह आलस्य को प्रगट करने वाली भी होती है। अतः समर्पण आवश्यक है।

(इ) जमुहाई लेते समय शरीर में खिंचाव आना -

यह जोड़ों में व्याप्त दूषित वायु का रक्त के साथ खींचकर आने तथा निकलने की प्रक्रिया है, जो शरीर में स्वतः हो रही है। अतः इसे आने दें। शरीर की अकड़न स्वतः कुछ देर में ठीक हो जावेगी। यदि यह देरी तक रहती है तो हाथ की अंगुलियों तथा अंगूठे की सहायता से चुटकी बजाईये। इससे नसों में ढ़ीलापन प्रवेश करेगा और स्नायु प्रणाली तथा नाड़ी तंत्र में स्वाभाविक स्थिति आवेगी। जमुहाई अवस्था से सामान्य स्थिति प्राप्त करने का अन्य तरीका यह है कि आप नाम स्मरण को मत रोकिये। उच्चारण करते हुए नाम जप कीजिये। आचार्य गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस चौपाई में गूढ़ संकेत किया है -

"राम राम कहि जै जमुहाई।
तिनहीं न पाप पुन्ज समुहाई॥

यह आंतरिक क्रिया पर प्रभाव डालनेवाली विपरित क्रिया है। इसका आश्रय लीजिये।

(ई) गहरी श्वांस का आना -

यह प्राणायाम की कुंभक क्रिया का स्वतः होना है। इसे होने दें। इस अवस्था में मंत्र जाप पर ध्यान केन्द्रित करे और चित्त को एकाग्र करें। यह श्वसन प्रक्रिया के नियमित होने का पूर्व संकेत है।

(उ) रेचक क्रिया होना -

यह वाह्य कुम्भक की अवस्था है। मन के एकाग्र होने की सूचना है। यह मन द्वारा संकल्पित मन्त्र जाप को स्वीकार कर लेने का संकेत है। जिस प्रकार कोई श्वान (कुत्ता) नींद से उठकर चलने की तैयारी के पूर्व शरीर को खींचकर प्राणायाम की क्रियाएं करता है, उसी प्रकार यह गहरी श्वांस का आना तथा रेचक क्रिया होना पूर्व तैयारी की अवस्थाएं हैं। यह स्वाभाविक क्रिया है। अतः दृष्टा बनिये। कभी-कभी तीव्र प्राणायाम की क्रियाएं भी होने लगती हैं। अतः अपने निदेशक से परामर्श कीजिये।

(ऊ) मंत्र जाप में उच्चाटन होना -

यदि मंत्र जाप में मन नहीं लगता है अर्थात् उच्चाटन होता है, तो इसका सीधा अर्थ है -- **अंतस्थः मन** द्वारा जप कार्य को स्वीकार नहीं किया गया है।

अतः दैवी आस्था को अपनाईये तथा समर्पण भाव एवं श्रद्धा तथा विश्वास का सहारा लीजिये ।

यदि समर्पण भाव एवं श्रद्धा तथा विश्वास से युक्त होकर किये जा रहे मंत्र जाप में बीच में कभी उच्चाटन होता है तो अपने खान - पान पर ध्यान दीजिये । यदि किसी ऐसे व्यक्ति के यहां या से प्राप्त खाद्य सामग्री ग्रहण की गई है, जिसकी ईश्वरीय सत्ता में या आराधना में कोई श्रद्धा या विश्वास नहीं है तो ऐसे व्यक्ति का अन्न अपना प्रभाव डालकर आपके अन्दर पैदा हो रहे आस्था के अंकुरण को नष्टकर सकता है । अतः खान-पान की सावधानी व पवित्रता का पालन कीजिये।

छांदोग्योपनिषद् में आये वर्णन अनुसार आहार की शुद्धि से अंतःकरण की शुद्धि प्राप्त होती है तथा अंतःकरण की शुद्धि ईश्वरीय आस्था को जन्म देनेवाली होकर, आत्मबोध कराने में अर्थात् स्व-स्वरूप को स्मरण करने में सहायक होती है -

"आहारशुद्धो सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलम्भ्रे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।"

(छांदोग्योपनिषद - ७/२६/२)

अनुवाद - "आहार शुद्धि होने पर अंतःकरण की शुद्धि होती है, अंतःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति प्राप्त होती है तथा स्मृति की प्राप्ति पर संपूर्ण ग्रंथियों की निवृत्ति हो जाती है ।" यह आहार शुद्धि वासनाओं के क्षीण होने का कारण बनती है । अतः आहार शुद्धि साधक के लिये आवश्यक हो जाती है ।

आहार शुद्धि के बारे में निम्न मंत्र भी हमारा मार्गदर्शन करने वाला है -

"दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठते ।
यो हि यस्यान्नमश्नाति स तस्याऽनाति किल्विषम् ॥

(बृहदारण्यकोपनिषद् पेज - ३२८, शंकर भाष्य)

अनुवाद - "मनुष्यों का जाप उनके अन्न का आश्रित होकर रहता है । अतः जो जिसका अन्न खाता है, वह मानव उसका पाप ही खाता है ।" अतः अन्न के स्रोत की पवित्रता को अपनाईये ।

(ए) मंत्र जाप में कठिनाई होना या खराश होना -

खान-पान को नियंत्रित कीजिये । गले को तथा वाणी को विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थ जैसे - अधिक ठंडा, खट्टा या अन्य अपनी तासीर के विपरीत

पदार्थों का सेवन मत कीजिये ।

(ऐ) आसन की अस्थिरता -

आसन की अस्थिरता जप कार्य से मुक्ति चाहने का संकेत है । अत: मन को अभ्यास द्वारा जप कार्य में लगाईये । मन को साधना के लिये तैयार करने हेतु प्रथम पद्मासन मे बैठिये फिर सुखासन या कोई भी स्थिर आसन अपनाईये। धीरे-धीरे पद्मासन की अवधि बढ़ाईये । पद्मासन सिद्धि का आधार है । यह धारणा, ध्यान और समाधि के प्रारंभिक बोध के लिये सहायक और आवश्यक होता है। पद्मासन स्वाभाविक रूप से कर्मेन्द्रियों को रोकता है ।

(ओ) मन का चंचल बने रहना -

मन स्वाभाविक रूप से अति सूक्ष्म, चंचल एवं गतिवान् तथा दृढ़ स्वभाव वाला है । अत: मन की एकाग्रता के लिए श्रीमद् भगवद् गीता के उपदेश -

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता- ६/३५)

अनुवाद - "हे महाबाहो ! निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है ।" का पालन कीजिये तथा -

"यतो यतो निश्चरति मनश्चश्चलमश्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता - ६/२६)

अनुवाद - "यह स्थिर न रहने वाला और चंचल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है, उस-उस विषय से रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मा में ही निरूद्ध करें ।" को अपनाईये । अन्य सुगम तरीका यह है कि मन को श्वांस क्रिया पर केन्द्रित करें । इसे बाहर जाने घूमने -फिरने दें किंतु अवसर मिलते ही श्वास से बांधे अर्थात् मन को यह कार्य सौंप देवें कि वह नासिका के अग्रभाग से प्राण वायु के प्रवेश करते समय की शीतलता तथा प्राणवायु के निर्गमन की उष्णता का बोध प्राप्त करें तथा इसके साथ ही शरीर के अंदर व्याप्त होने और प्राण वायु के पंच प्राण में विभाजित होने की प्रक्रिया को जानें । मन के श्वसन क्रिया से जोड़ देने का परिणाम स्वत: ही मन को नियंत्रित करना होता है । इससे प्राणायाम नियमित होकर विविध क्रियाएं कुंभक, रेचक, स्तंभन आदि होती है । यदि ये क्रियाएं होने लगे तो इनमें व्यवधान न डालें स्वयं

दृष्टा या साक्षी भाव अपना लेवें । यदि क्रियाओं में तीव्रता है तो इन्हें रोकियें और मार्गदर्शक से परामर्श लीजिये । मानसिक जप को अपनाईये । नेत्र बंद करते हुए, ध्यान का आश्रय लीजिये तथा मध्यमावाक् आधार पर मंत्र जाप जारी रखिये।

(औ) अंगुलियों, अंगूठे की पोर में दर्द, बाँह में दर्द होना -

यदि जप क्रिया में बांह में दर्द होता है तथा अंगुलियों में दर्द होता है तो यह मन का बाह्य इंद्रियों से सम्पर्क छूटकर मन का अंतर्मुखी होना है । यह धारणा से आगे ध्यान की उच्च अवस्था में प्रवेश का संकेत है । यदि माला छूटती है तो छोड़िये तथा आंतरिक जप का आश्रय लीजिये । यह मन द्वारा मनोमय कोष में प्रवेश करने का संकेत है । अतः इस अवस्था में बने रहने का प्रयास कीजिये । नेत्र बंद रखते हुए जप जारी रखें । निद्रा के कारण भी माला छूट सकती है । अतः इस भिन्नता को जानिये ।

(अं) वाचिक जप में तालू का सूखना या जिह्वा का चिपकना -

यह जिह्वाजप या वाचिक जप की अवस्था की पूर्णता का द्योतक है । यदि तालू सूखता है और जल ग्रहण देर तक अपना कोई प्रभाव नहीं डालता है तो आवश्यक है कि वाचिक जप या जिह्वा जप को छोड़कर फूस-फूसाहट के साथ मंत्र जाप करें । अर्थात् होंठ और जिह्वा क्रिया करें किंतु पास बैठे व्यक्ति को भी मंत्र जप सुनाई न देवें । इस प्रक्रिया को पालन करते हुए मौन या मानसिक जप को अपनाईये ।

(अः) निद्रानुभूति होना, झपकी आना -

यह कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की बहिर्मुखता की समाप्ति का संकेत है। निद्रा बाधा है यह शिथिलता का संकेत है । निद्रा यदि थकान से जुड़ी है तो योग निद्रा का आश्रय लेकर शारीरिक थकान दूर कीजिये । पुनः-पुनः झपकी आना बाधा है । इसे रोकिये ।

(ऌ) जप करते हुए मंत्र की विस्मृति होना तथा बहुत कम समय लगना -

यह मन का नीरवता में प्रवेश का संकेत है । मन नीरवता चाहता है । अतः मंत्र के विस्मृत होने पर रूकिये । आंतरिक क्रियाओं और अनुभूतियों को जानने का प्रयास कीजिये । इसके साथ ही यदि मंत्र जप करने में अल्प समय लगता है अर्थात् एक माला परिमाण जप करने में लगने वाला समय आरंभ की स्थिति से कम है तो यह मन के मनोमय कोष में स्थित होने का संकेत है । इसे जारी रखिये । इस अवस्था में बने रहने का प्रयास करें । यदि जप में लगने वाला

समय यथावत् है तथा नीरवता आती है तो यह निद्रा का ही संकेत है - चेतनायुक्त बने रहते हुए ।

(ऋ) चेहरे पर खिंचाव या तनाव आना -

मंत्र जाप करते हुए जब सचेतन मन धारणा को लेकर ध्यान अवस्था में प्रवेश करना चाहता है तो सहज रूप से नीरवता आती है, नीरवता का बोध होता है । यदि इसकी आरंभिक अवस्था में साधक चेहरे पर खिंचाव या तनाव महसूस करता है तो इसका तात्पर्य यह है कि साधक के प्रगट जीवन में कृत्रिमता ने स्थान लिया हुआ है । अतः आवश्यक है कि प्रगट जीवन में सरलता और सहजता को अपनाया जायें । जैसे-जैसे कर्म के प्रति सहजभाव और सरलता व्यवहार की, जीवन में प्रवेश करेगी वैसे - वैसे चित्त शांत होने का प्रयास करेगा । तनाव या खिंचाव आंतरिक उद्वेग को प्रगट करने वाले हैं । अतः सहजता को अपनाना आवश्यक है ।

(ॠ) मंत्र विस्मृत होकर परिवर्तित होना -

यह साधक द्वारा जप-यज्ञकरते हुए उच्चभाव भूमि को प्राप्त कर लेने का संकेत है । यह परिवर्तन विस्मयजनक तथा नवीन अनुभूति और आनंद की अनुभूति देने वाला होता है । यह अनुभव साधक के मन को आत्म-क्रीड़ बनाता है । परिवर्तित मंत्र का सहारा लीजिये । यह सहज रूप से एकाग्रता प्रदान करेगा । यह ध्यान अवस्था के पूर्व की सूचना है । यह मन के उभयात्मक स्वरूप होने का अंतिम बोध है । इस अवस्था को अनुभव करने के बाद मन एक ही हो जाता है । एक ही रह जाता है । यह बुद्धि तत्व से संलग्नता चाहता है । अतः नीरवता की अवस्था को धारण करने का प्रयास कीजिये । आत्मदृष्टा बनने का प्रयास कीजिये । साक्षी भाव को अपनाईये ।

यदि ध्यान टूटता है तो पुनः मन्त्र का आश्रय लेकर नीरवता को प्राप्त करने का प्रयास कीजिये । यह मन के मनोमय कोष में स्थित होकर चुम्बकीय छड़ का मध्य बिन्दु प्राप्त करने की अवस्था होती है । अतः आगे के मार्ग की जानकारी हेतु अपने आध्यात्मिक गुरु से सम्पर्क कर मध्य बिन्दु को पार करने की जानकारी प्राप्त कीजिये । आचार्य का सानिध्य प्राप्त कर विज्ञानमय कोष का प्रवेश मार्ग जानिये । अब विज्ञानमय कोष को जानिये स्वयं ही । अब विज्ञानमय कोष को जानिये स्वयं ही ।

।। हरि ॐ।।

आत्मबोध प्राप्ति! कैसे ?

अध्यात्म की यात्रा में जो अनुभूति होती है उसे 'बोध' होना कहा जाता है। ऐसे बोध सम्पन्न व्यक्ति के लिये श्रीमद्भगवद्गीता में - 'बुधाः' संज्ञा का उपयोग किया गया है। सामान्य जगत में कर्मेंद्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से जो अनुभव होता है वह ज्ञान की श्रेणी में आता है तथा ऐसे अनुभव सम्पन्न व्यक्ति को ज्ञानी कहा जाता है। अध्यात्म की यात्रा में होने वाले अनुभव जागतिक दुनिया में या सांसारिक धरातल पर अस्तित्व-हीन होते हैं। अतः ये कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव या इनकी विषय सामग्री से परे होते हैं। आत्म तत्व का परिचय देते हुए महाभारत शान्ति पर्व में महर्षि मनु द्वारा अपने शिष्य बृहस्पति को उपदेश देते हुए कहा गया है- " वह परमात्म तत्व न गर्म है न शीतल, न कोमल है न तीक्ष्ण, न खट्टा है न कसेला, न मीठा है न फीका। शब्द, गन्ध, रूप से रहित है। उसका स्वरूप सब से उत्कृष्ट और विलक्षण है। त्वचा स्पर्श का, जिह्वा रस का, घ्राणेन्द्रिय गंध का, कान शब्द का और नेत्र रूप का अनुभव करते हैं। ये इन्द्रियाँ परमात्मा को प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। आत्म ज्ञान से हीन मनुष्य परमात्म तत्व का अनुभव नहीं कर सकते। अतः जो जिह्वा को रस से, नासिका को गन्ध से, कानों को शब्द से, त्वचा को स्पर्श से हटा कर अन्तर्मुखी बना लेता है वह ही अपने मूल स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। (महाभारत शान्ति पर्व- २०२/३-५)

१४.२ श्रीमद्भगवद्गीता में अपना विराट स्वरूप दर्शन के पूर्व परम तत्व श्रीकृष्ण ने अपने शिष्य अर्जुन से कहा है

"न तु मां शक्तयसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा"

(श्रीमद्भगवद्गीता -११/८)

अनुवाद - "तु मुझे अपने इन प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने को निसन्देह समर्थ नहीं है।" परम तत्व का अतुभवकर्ता दशेन्द्रियों का स्वामी मन ही होता है। यह मन ही सद्गुरु के निर्देशों का पालन करता हुआ दिव्य चक्षु- **"दिव्यं ददामि ते चक्षुः"** (श्रीमद्भगवद्गीता- ११/८) बन जाता है। इस समस्त जगत की संरचना प्रकृति के आठ अंगों से हुई है -

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता ७/४)

(अनुवाद)- "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अंहकार ऐसे यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है।" इस अष्टधा प्रकृति से ही यह जगत धारण किया जाता है -

" जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत ।"

(गीता-७/५)

सभी मनुष्यों का सृजन इसी अष्टधा प्रकृति से हुआ है। इस अष्टधा प्रकृति से बने हुए मानव शरीर में स्थित पंचमहाभूत तथा उनसे संबंधित विषयों एवं तन मात्राओं तथा इनसे उत्पन्न कामेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों तथा मन बुद्धि एवं परम् तत्व का क्रम निर्धारण करते हुए महाभारत शांति पर्व में कहा गया है- 'पांचों इंद्रियों के पांचों विषय तथा पांचों इंद्रियाँ भी पंचमहाभूतों में निवास करते हैं । ये शब्द आदि विषय, ये आकाश आदि महाभूत तथा श्रोत्र आदि इंद्रियाँ सब के सब मन के अनुगामी हैं । मन बुद्धि का अनुसरण करता है और बुद्धि आत्मा का आश्रय लेकर रहती है।' (महाभारत शांति पर्व २०२/२) इस प्रकार इस शरीर में यह मन ही देखने वाला और सुनने वाला -

'मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति।'

(बृह.उप. -१/५/३)

बन जाता है । सभी मनुष्यों का सृजन इस अष्टधा प्रकृति से हुआ है तथा मन ही इसका एक अंग होकर अध्यात्म जगत् की अनुभूतियों का अनुभव कर्त्ता होता है । मन द्वारा किये गये अनुभव की वास्तविकता का निर्धारण बुद्धि द्वारा किया जाता है तथा बुद्धि द्वारा स्वीकार की गई अनुभूतियां ही अध्यात्मिक जगत् का सत्य होती हैं। अपनी अष्टधा प्रकृति आधारित मूल अवस्था के कारण एक व्यक्ति का अनुभव अन्य व्यक्तियों द्वारा अपनी बुद्धि की कसौटी पर ग्रह्य बन जाता हैऔर इस प्रकार आध्यात्म की यात्रा में किया गया अनुभव सर्व मान्यता प्राप्त कर लेता है। इस अनुभव की अभिव्यक्ति ही शब्द प्रमाण बन जाती है- **'आप्तोदेशः शब्दः।'** (न्याय दर्शन-१/७) तथा ऐसा बोध प्राप्त करने वाला व्यक्ति मानव समाज का मार्गदर्शक एवं कर्म प्रणेता बन जाता है । इस संबंध में श्रीमद्भगवद्गीता का कथन है -

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते॥'

(३/२१)

(अनुवाद) 'श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसके ही अनुसार बरतते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसी के अनुसार आचरण करते हैं।''

अध्यात्म की यात्रा में ब्रह्मानुभूति को **नैति-नैति** अर्थात् 'इतना ही नहीं', 'इतना ही नहीं' शब्दावली द्वारा अनंत स्वरूप वाली बताया गया है-

''जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।
अनुभव गम्य भजहि जेहि संता॥''

इस अनुभव गम्यता के बारे में हम कहेंगे कि जिस प्रकार ब्रह्मपुत्र नदी में बहने वाला जल और उसके किनारों की दूरी - ब्रह्मपुत्र नदी के विराट स्वरूप को प्रथम दृष्टया ही अनुभूत करा देती है या गंगाजल की शुद्धता उसकी पवित्रता का बोध कराती है। उसी प्रकार साधक परमतत्व के विराट स्वरूप का निश्चात्मक बोध प्राप्त कर के बोधि सत्व कहा जानें लगता है । वह श्रेष्ठ हो जाता है और इस समाज में वह भगवान बुद्ध या गुरु नानकदेव की भाँति पथ-प्रदर्शक और प्रणेता बन जाता है कोटि-कोटि मानव समुदाय का इस धरा पर ।

१४.३(१) अध्यात्म जगत की समस्त अनुभूतियाँ मन द्वारा की जाती हैं । आत्मस्थ मन जब अपने निर्विषय स्वरूप में स्थित होकर अन्नमय, प्राणमय और मनोमय साम्राज्य को छोड़कर आगे बढ़ता है तो उसका प्रवेश विज्ञानमय कोष में होता है। विज्ञानमय कोष में स्थित मन ही अनुभूतियों की मंजूषा लिये होता है । यहाँ पहुंचकर ही साधक प्रथम तीन सीढ़ियों अन्नमय स्थिति, प्राणमय स्थिति और मनोमय स्थिति का जानकार हो जाता है । जिस प्रकार किसी पर्वत पर निश्चित ऊँचाई तक चढ़कर हम उसके भूतल और चढ़ाई तथा घाटियों अर्थात् विभिन्न गहराईयों तथा ऊँचाईयों के जानकार बन जाते हैं तथा शेष रहीं ऊँचाईयों को भी जान लेते हैं उसी प्रकार साधक स्वयं मन की इन विविध अवस्थाओं का जानकार हो जाता है । **मन का मध्यमावाक् में स्थित होना**, अंतर्मुखी होना ही यह ऊँचाई प्राप्त कर लेना है यहाँ पहुँचकर यह **राजमार्ग** की यात्रा के सदृश्य होता है । जिस प्रकार राजमार्ग पर अवरोधों या रुकावटों का अभाव होता है उसी प्रकार अंतर्मुखी हुआ मन स्वतः भी लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जाता है । यात्रा मार्ग की अनुभूतियाँ उसके लिये प्रेरणा तथा उत्प्रेरणा का कार्य करती हैं । जिस प्रकार ऊंचाई को प्राप्त जल स्वतः ही बहता हुआ अपने गंतव्य समुद्र में मिल जाता है

उसी प्रकार मन अपने परम स्थान को पहुंच जाता है। मन की इस अवस्था को प्रगट करते हुए संत मीराबाई ने गाया है -

"दर्द के मारे बन-बन डोलूं, बेद मिला न नहीं कोई।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जब बेद सांवलियां होय॥"

परम् तत्व से मिलने की कसक जागृत हो जाती है मन में। यह कसक विरह की अग्नि को प्रज्जवलित कर देती है। चूँकि समस्त मानव समुदाय का जन्म प्रकृति से हुआ है अतः वह प्रकृति का प्रतिनिधि होकर प्रकृति रूप अर्थात् स्त्री रूप ही है। वह पुरुष होकर भी स्त्री ही है। हमारे शास्त्रों में इस प्रकृति को माया या महामाया कहा गया है तथा खेल के क्रम में यह प्रकृति ही पुरुष रूप या स्त्री रूप धारण करती है। इसे समझने के लिये हम कहेंगे कि जिस प्रकार उल्लास की अतिरंजना में हमारे द्वारा कोई नाटक खेले जाते समय महिलाओं द्वारा खेले जा रहे नाटक में महिला पात्र ही पुरुष वेष धारण कर पुरुष पात्र का अभिनय करती है या फिर पुरुषों द्वारा खेले जा रहे नाटक में पुरुष द्वारा ही, पुरुष होकर भी, महिला बनकर महिला पात्र का अभिनय किया जाता है। उसी प्रकार लीला के क्रम में यह प्रकृति ही स्वयं स्त्री तत्व होकर पुरूष बन जाती है और इस प्रकार प्रकृति नटी का सृष्टि का खेल क्रम चलता रहता है, जिसे वेदान्त दर्शन ब्रह्मसूत्र में - "**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥**" (ब्रह्मसूत्र - २/१/३३) कहा गया है। यह तथ्य स्पष्टतः प्रमाणित है - परमहंस संत श्री रामकृष्ण देव द्वारा की गयी **राधा रानी** की उपासना में उनके शरीर में महिला अंग के उभार के साथ ही रजस्वला होने के चिन्ह भी प्रगट होनें लग गये थे। स्त्री और पुरुष का यह भेद परम् तत्व का ही लीला क्रम होता है, जिसे स्पष्ट करते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है -

"यस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।"
(४/०)

अनुवाद - "मायावी परमेश्वर इस विश्व का सृजन करता है और उस माया से ही अन्य सा होकर बंधा हुआ है।" इसी आधार पर परमतत्व श्रीकृष्ण द्वारा अपने इस खेल क्रम को प्रगट करने वाली माया को दुस्तर कहा है तथा **स्मरण** द्वारा परम तत्व के इस रहस्य को समझ लेना ही इस माया से पार जाने का उपाय बताया गया है -

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ७/१४)

अनुवाद - "मेरी यह त्रिगुणमयी माया बोध की जाने में अत्यन्त दुस्तर है। जो लोग मेरा ही आश्रय लेकर निरन्तर भजन करते हैं, वे इस माया को अर्थात् इस संसार से तर जाते हैं" और निरंतर भजन मनन करने वाले संत कबीर हमें माया के इस रहस्य को समझाते हुए कहते हैं - **"मैं तो अपने राम की बहुरिया"** या फिर वे कहते हैं - **"मेरे घर आये राजाराम भरतार"** यही है, इस परम पुरुष के **"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम"** का रहस्य। जिसे हमारे शास्त्रों तथा धर्म ग्रंथों में परम तत्व का खेल कहा गया है, इस सृष्टि को परम तत्व का ही खेल बताया गया है।

(२) इस रहस्य को प्रगट करते हुए श्रीकृष्ण ने स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि -

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥"

(१३/१)

अनुवाद - "हे कुंती पुत्र अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ ऐसा उनके तत्व को जानने वाले विद्वजन कहते हैं।" क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए हम कहेंगे कि सृजन के लिये या उत्पत्ति के लिए बीज और भूमि की आवश्यकता होती है। इस भूमि को ही योनि या क्षेत्र कहा जाता है। यह शरीर क्षेत्र रूप ही है क्योंकि श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं बताया गया है -

"सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १४/४)

अनुवाद - "हे अर्जुन! नाना प्रकार की सब योनियों में जितने भी शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सब की त्रिगुणमयी माया तो गर्भ को धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापित करने वाला पिता हूँ।"

सांख्य दर्शन में भी पुरूष तथा प्रकृति की भिन्नता के आधार पर यह समस्त सृष्टि प्रकृति ही मानी गई है तथा पुरुष तत्व एक होकर परम तत्व या परम पुरुष ही एकमेव पुरुष माना गया है। इस मत को पुष्ट करने वाली मध्यकाल की यह ऐतिहासिक घटना स्मरण होती है, जिसमें वर्णन मिलता है कि संत मीरा बाई को अपने मथुरा प्रवास में यह जानकारी मिलने पर की भगवान श्रीकृष्ण के परम उपासक संत शिरोमणि हरिदास मथुरा में ही इस समय निवास कर रहे हैं। अतः

वे उनसे मिलने तथा हरि चर्चा करने के लिये उनके आश्रम पर गई किन्तु संत शिरोमणि हरिदास द्वारा संत मीरा बाई से मिलने हेतु अपने शिष्य के माध्यम से इस आधार पर इंकार कर दिया गया कि संत मीरा बाई एक महिला हैं और वे स्वयं पुरुष साधक हैं अतः वे किसी महिला से नहीं मिल सकते । इस पर जब संत मीरा बाई द्वारा शिष्य के माध्यम से यह पूछा गया कि क्या परम तत्व श्रीकृष्ण के अतिरिक्त भी कोई पुरुष इस धरा पर है ? इस प्रश्नावली को सुनकर संत हरिदास को अपने स्व-स्वरूप का बोध हो गया था और वे स्वयं ही आकर संत मीरा बाई से मिले थे तथा उनसे मिलकर दो सखियों की भांति हरि चर्चा में लीन हो गये थे ।

१४.४ यह साधक मन इस अवस्था का बोध प्राप्त कर परम तत्व रूपी पुरुष से मिलने के लिये निकल पड़ता है । परम तत्व से, अपने स्वामी से मिलने की यह यात्रा ही, वास्तविक यात्रा है, अध्यात्म जगत की । इसके पूर्व की सभी अवस्थाएं जागतिक आधार पर होकर, सांसारिक एषणाओं की पूर्ति मात्र होती हैं जीवन में । इस रहस्य को न जानकर मानव रूप प्राणी बेचारा इस दुस्तर माया के बंधन में बंधा होकर मरकट की भांति नाचता रहता है, वह यह भी नहीं जान पाता कि यह श्रीमद्भगवद्गीता की भाषा में मिथ्याचर ही है ।

"इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ३/६)

अर्थात् 'अपनी इंद्रियां बाह्य रूप से रोककर वह मिथ्या आचरण ही करता है ।' सूफी साहित्य में भी लैला मजनूं के कथानक द्वारा युगानुकुल शब्दावली में इस परम तत्व की यात्रा के स्वरूप को ही प्रगट किया गया है । संत शिरोमणि गुरूनानक देव द्वारा भी एक ही कर्ता पुरुष बताया गया है - परम तत्व -

"१ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरू ।
अकाल मुरति अजुनी सैभं गुर प्रसादि ॥"

१४.५ अध्यात्म की यात्रा में परम तत्व की जानकारी देने वाले आरंभिक संकेत सतगुरु द्वारा शिष्य को दिये जाते हैं । जिनके आधार पर साधक मन को अंतर्मुखी करके यात्रा पर निकल पड़ता है । इस यात्रा में अपने उभय स्वरूप मन का आश्रय लेकर वह एक ओर तो संसार से जुड़ा रहता है, नाट्य सभा के सभागार की भांति और दूसरे स्वरूप का आश्रय लेकर वह नाट्य मञ्च की भांति अलग ही हो जाता है, सभागार से,और चिंतन में रत हो जाता है । वह एक ही सभागार का हिस्सा होकर अलग-अलग हो जाता है, मंच और सभागार के रूप में जिसे अभिव्यक्त

करते हुए उपनिषद् वाणी में कहा गया है -

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाक्शीति ॥

(मुंडकोपनिषद्-३/१)

अनुवाद - "एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखाभाव रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के सुख-दुख रूप कर्म फलों का स्वाद ले-लेकर उपभोग करता हैं किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है ।" उपनिषद् वाणी का यह सत्य हमें महाभारत के मैदान में देखने को मिलता हैं जबकि भीष्म पितामह अपने कर्मो से बंधे होकर शर शैय्या पर लेटे होकर एक ओर तो मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे होते हैं और दूसरी ओर वे बचे हुए योद्धाओं को दर्शन और धर्म की जानकारी दे रहे होते हैं (महाभारत शांतिपर्व) इस यात्रा में सतगुरु का उपदेश अपनी वाक् सीमा तक ही - **"यतो वाचो निवर्तन्ते"** परम तत्व का संकेत कर पाता है वहाँ से आगे की यात्रा का पथ प्रदर्शक स्वयं आत्म तत्व ही हो जाता है जिसे चित्त शक्ति या अह्लादिनी शक्ति या कुंडलिनि शक्ति या उमा कहा जाता है वह परम तत्व के ही संरक्षण में चला जाता है । जिसे आत्मरूप होकर श्रीमद्भगवतगीता में -उपद्दष्टा तथा अनुमंता -**"उपद्दष्टानुमंता च"** (गीता-१३/२२) बताया गया है । सामान्य जागतिक व्यवहार में गुरुदेव का उपदेश प्रश्न प्रतिप्रश्न से जुडा होकर संशय का निवारण करने वाला होता है । जिज्ञासा का समाधान करना वाला होता है । उसी प्रक्रिया का अनुपालन चित्त शक्ति द्वारा भी होता है । और जिस प्रकार शिष्य को कब कौन सा ज्ञान देना गुरुदेव की इच्छा पर निर्भर होता है अर्थात सतगुरु ही शिष्य के विकास क्रम का निर्धारण कर के उसे आगे की जानकारी या उपदेश देते हैं शिष्य को क्रमेण आगे बढ़ाते हैं । उसी प्रकार यह चित्त शक्ति भी साधक की यात्रा के क्रम का निर्धारण कर स्वयं ही स्वतः जानकारी प्रदान करती है । आवश्यकता होती है परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण की । यहां श्रीरामचरित्मानस की यह पंक्तियां हमारा मार्गदर्शन करती हैं -

तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलइ सहाइ ।
आपनु आवइ ताहिँ पहिं, ताहिँ तहाँ ले जाइ ॥

१/१/५९ (ख)

परमा शक्ति की इस सहायता तथा सानिध्य प्राप्त करने की आवश्यक शर्त का वर्णन करते हुए कहा गया है-

"निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा । ।
(श्रीरामचरितमानस ५/४४/५)

साधक की यह चित्त की निर्मलता अर्थात् कर्म के प्रति समर्पण जिसे श्रीमद्भागवतगीता में "**नियतं कुरु कर्म**" कहा गया है तथा जिसे "**स्वधर्मे निधनम् श्रेयः**" बताया गया है इसे अपना लेने पर वह परमात्म तत्व के रहस्य को जान लेने की पात्रता प्राप्त कर लेता है जिसे उपनिषद् वाणी में आत्मा द्वारा वरण् कर लेना (मुण्डकोपनिषद् ३/२/३) कहा गया है इस पात्रता की अनिवार्यता को बताते हुए साकार ब्रह्म स्वरूप श्रीराम स्वयं कहते हैं -

"सोइ सेवक प्रियतम मम सोइ । मम अनुशासन माने जोई ।।"
(श्रीरामचरितमानस ७/४३/५)

यदि साधक ऋत् अर्थात् प्रकृति की नियमावली को जो की पंच महाभूतों के गुण में प्रगट हुए हैं तथा सत्य को जो कि परम तत्व के निश्चय वाक्य "**सर्व भूत हिते रतः**" में प्रगट हुआ है को अपना लेता है तो वह इस समर्पण और कर्मरत् भाव के आधार पर ही परम तत्व का कृपा पात्र बन जाता है उनके द्वारा निर्धारित किये गये अनुशासन का पालन करते हुए -

"जाके हृदय भगति जसि प्रीति । प्रभु तह प्रगट सदा तेहि रीति ।।"
(श्री रामचरितमानस-)

१४.६ अध्यात्म की यात्रा में परम तत्व, चित्त शक्ति द्वारा अपनाई जाने वाली बोध प्रकिया का पालन ही जागतिक धरातल पर सतगुरु द्वारा किया जाता है लौकिक धरातल पर ज्ञान प्राप्त करने की प्रकिया का वर्णन करते हुए श्रीमद्भग्वद्गीता हमारा मार्गदर्शन करते हुए कहती है -

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।" (४/३४)

अनुवाद - "भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जान वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे" तथा बताती है कि -

"श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।" (गीता ४/३९)

अनुवाद - "परम तत्व के चिन्तन में लीन श्रद्धावान् पुरुष इंद्रियों के प्रति संयम बरतता हुआ उस ज्ञान को प्राप्त करता है ।" लौकिक जगत की ये आवश्यकताएं अंतर्मुखी हुए मन के लिये भी अनिवार्य होती हैं । प्रगट जगत में सतगुरु देव के प्रति किया जाने वाला समपर्ण और श्रद्धा का भाव भगवती अह्लादिनी शक्ति

के प्रति भी आवश्यक होता है । साधक जितना समर्पित होता है और जितनी तारतम्यता तथा त्वरितता के साथ भगवती चित्त शक्ति की ओर से मिलने वाले निर्देशों कों जीवन में अपनाता है और **इस कर्मभूमि पर** एक सामान्य चेतनामय पुरुष बने रहकर मनःभूमि पर अपनी यात्रा जारी रखता है वह उतनी ही कृपा या बोध प्राप्ति का पात्र बनता जाता है । यह **कर्म ही सिद्धि प्रदाता** हो जाता है ।

१४.७ शिक्षण की सामान्य पद्धति प्रश्न प्रतिप्रश्न अर्थात् शंका और समाधान पर आधारित होती है । सांसारिक जगत में सतगुरु के सानिध्य में व्यक्त की जाने वाली प्रश्नावली अब मानसिक धरातल की प्रश्नावली बन जाती हैं और यह सम्पूर्ण दृश्य जगत आह्लादिनी देवी चित्त शक्ति का **अनुपम आश्रम** । अब जिज्ञासा और उसके शांत होने के लिए कोई समय सीमा या स्थान की मर्यादा नहीं रहती है । **आह्लादिनी चित्त शक्ति** का सतत् सानिध्य साधक को उपलब्ध हो जाता है । साधक द्वारा मानसिक मनोभूमि पर की जाने वाली जिज्ञासा उसे स्वयं को साक्षी स्वरूप प्रदान करते हुए परम तत्व के बीच सेतु बन जाती है । इस जिज्ञासा के बल पर ही साधक आगे बढ़ता जाता है अपने साक्षी स्वरूप में स्थित रहकर और जिस प्रकार सद्‌गुरु प्रथम परिचय देकर वस्तु या तथ्य का प्रत्यक्ष बोध कराते हैं उसी प्रकार **"परोक्ष प्रियः ही देवता"** आधार पर आंतरिक जगत की यात्रा में चित्त शक्ति आसपास घटने वाले वार्तालाप या दृश्यावली द्वारा जिसका साधक के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता द्वारा जानकारी प्रदान करते हुए बोध कराती है । और जिसे सुन या देखकर साधक अपनी जिज्ञासामय स्थिति में स्वयं बोल उठता है कि सुनी गई शब्दावली या दृश्यावली उसके लिये ही थी या फिर सद्‌गुरु से द्वारा प्रथम वस्तु या तथ्य को प्रगट किया जाकर तत्पश्चात दिये जाने वाले उसके परिचय की भांति ही देवी चित्त शक्ति या आह्लादिनी शक्ति प्रथम अचानक ही या आकस्मिक रूप से चिदाकाश में अपने रहस्य को साधक के समक्ष प्रगट कर देती है और फिर साधक अपनी चिंतन प्रक्रिया से जुड़ा रहकर उस रहस्यात्मक अनुभूति को भली-भाँति जान लेता है, समझ लेता है, उस रहस्य का बोध प्राप्त कर लेता है अपनी समर्पण शक्ति और जिज्ञासा वृत्ति के द्वारा ही । चित्त शक्ति द्वारा आकस्मिक रूप से चिदाकाश में प्रगट किये गये रहस्य की या **स्वरूप दर्शन** की यह अनुभूति यद्यपि क्षणिक होती है किंतु इस **साक्षात्कार** में साधक को वह अनुभूति होती है कि मानो काल अर्थात् समय थम सा गया है और वह अनंत काल से ही या चिरकाल से ही देख रहा है ये दृश्य । समय की, काल की इस विराटता का यह प्रथम प्रत्यक्ष अनुभव ही साधक को इस जागतिक धरातल पर

खिंच लाने वाला होता है। वह अचकचाकर आंतरिक घबराहट अनुभव करता है। यह अवस्था "**विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा**" (श्रीमद्भगवतगीता-११/१४) आश्चर्य से चकित और पुलकित करने वाली तथा "**सगद्गदं भीतभीतः**" (श्रीमद्भगवतगीता-११/३५) आनंद से गदगद और भय से भयभीत करने वाली होती है। परम तत्व के इस प्रथम प्रत्यक्ष बोध के समय यह घबराहट या संकोच उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार की एक छोटा बालक लंबे अंतराल के बाद घर में लौटे अपने पिता को सम्मुख पाकर एकदम पिता के समक्ष उपस्थित नहीं होता है। वह एक झलक देखकर पुनः घर के भीतर भाग जाता है या मां के आंचल में छिप जाने या ओझल होने का प्रयास करता है या कि जिस प्रकार कोई विदुषी महिला या पतिव्रता नारी अपने पति का प्रथम दर्शन प्राप्त कर रोमांच का अनुभव करते हुए अपने ससुराल में परिवार जनों के साथ रहकर भी स्वयं को दृश्यावली से हटा लेती है। उसी प्रकार साधक इस साक्षात्कार की घड़ी में स्वयं की लघुता का स्मरण करके, जो कि स्वाभाविक अवस्था है इस अवसर की, इससे बंधा होकर ही साधक पुनः इस जागतिक धरातल पर लौट आता है,वाह्य चेतना में लौट आता है और वह **पूर्ण साक्षात्कार** भी नहीं कर पाता है अपने परम पिता का या कि अपने प्रियतम का। यह साधक को अपने जीव अंश होने, या विराट आत्म तत्व का एक अतिसूक्ष्म अंश होने का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस अवस्था को प्राप्त किये गये साधक की स्थिति का वर्णन करते हुए सूफी साहित्य में कहा गया है-

"एक झलक काफी है मेरे यार की।
इसकी याद में जिंदगी गुजार दूंगा मैं।"

यह प्रथम साक्षात्कार ही प्रणय सूत्र बन जाता है साधक के लिये और वह गाने लगता है - "**मैं तो अपने राम की बहुरिया**" या फिर गाने लगता है - "**माई री मैंने लियो गोविन्दो मोल।**" यह साक्षात् अनुभूति होती है साधक की और वह निकल पड़ता है अपने स्वामी के कार्य को पूर्णता प्रदान करने के लिये संत कबीर या संत मीरा बाई की भांति गान करता हुआ या संत आचार्य गोस्वामी तुलसीदास या स्वयं आचार्य शंकर के रूप में उपदेष्टा बनकर या कि संत गुरुनानक देव के रूप में या समर्थ गुरु रामदास के रूप में "**नियतं कुरू कर्म**" (गीता ३/८) को अपनाकर कर्म का प्रणेता बन जाता है। यह बोध प्राप्त कर लेना या ज्ञान प्राप्त कर लेना ही परम शांति का कारण बन जाता है साधक के लिये। श्रीमद्भगवतगीता में कहा गया है-

"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।" (४/३९)

अनुवाद- इस ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत प्राप्ति रूप परम शांति को प्राप्त हो जाता है। वह संशय रहित हो जाता है-**"ज्ञान उदय जिमि संशय नाहिं"** (श्री राम चरित मानस-६/५७/८) और इसकी अनिवार्य शर्त होती है-

"तेषामसौ विरजौ ब्रह्मलोको न येषु जिह्मनृतं न माया चेति ।"

(प्रश्नोपनिषद्- १/१६)

अनुवाद-- जिसमें न तो कुटिलता है,न झूठ है और न माया ही है उन्हीं को यह विकार रहित विशद् ब्रह्म लोक मिलता है। साधक 'ज्ञानान्मुक्ति' को प्राप्त कर लेता है।

१४.८ यहां साधक को स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार प्रथम संकोच के उपरांत प्रियतमा पत्नि अपने प्रियतम का सानिध्य प्राप्त कर नित्य ही रमण करने वाली होती है तथा उसका संरक्षणकर्त्ता एवं पालनकर्त्ता प्रियतम ही होता है या कि जिस प्रकार नन्हा बालक अपने पिता से भेंट होने पर या उनका सानिध्य प्राप्त होने पर प्रथम दर्शन के संकोच के उपरांत नित्य ही अपने पिता की गोद में उछलता कूदता और खेलता है तथा उसके प्रत्येक कार्य की रखवाली और मदद करने वाला पिता ही होता है उसी प्रकार यह आत्म देव ही जिसे आह्लादिनी या कुण्डलिनी शक्ति कहा गया है पग-पग पर साधक का संरक्षण और निर्देशन करने वाला बन जाता है। परम तत्व ही साधक का संरक्षण करने लगता है-**"योगक्षेमं वहाम्यहंम्"** (गीता-९/२२) श्रीरामचरितमानस में साकार ब्रह्म रूप श्रीराम ने स्वयं कहा है-

"सुनु मुनि तोहि कहऊँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ।।
करऊँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई । तहँ राखई जननी अरगाई ।"

(३/४३/४ से ६)

परम हंस संत रामकृष्ण देव द्वारा इसी तथ्य का उपदेश अपने शिष्यों से **भगवती दुर्गा** के संरक्षण के रूप में दिया गया है। यह बोध प्राप्त करने के उपरांत आवश्यकता होती है निश्छल बालक बने रहने की या संपूर्ण समर्पण को अपनाते हुए पतिव्रता धर्म पालन की और अपने जीवन में नियतकर्म को अपना लेने की तथा - निष्कपट, निर्वैर और निर्मल मन बने रहने की। कर्म को अपनाते हुए निर्मल मन बने रहने की। कर्म को अपनाते हुए निर्मल मन बने रहने की।

।।हरि ऊँ।।

"शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाडयान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां च दधतीं पद्मासने संस्थितां
वंदे ता परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम ॥

अनुवाद -
जिनका रूप श्वेत कमल पुष्प की भांति धवल है, वे ब्रह्म विचार की परम तत्व हैं, वे समस्त जगत में फैली हुई हैं, वे हाथ में वीणा और पुस्तक धारण किये रहती हैं, बुद्धि तत्व की प्रदाता होकर अभय की देने वाली, जड़ता रूपी अंधकार का हरण कर लेती हैं, हाथ में जिनके स्फटिकमणि रूपी निर्मल मनकों की माला है, वे सदैव कमल के आसन पर विराजमान रहती हैं और बुद्धि की प्रदाता हैं उन आद्या परमेश्वरी, भगवती, सरस्वती माता की मैं वंदना करता हूं ।
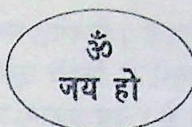
साक्षात्कार

(१५) १. साक्षात्कार का अर्थ प्रचलित रूप में हम आमने-सामने की मुलाकात से लेते हैं, जिसे बोलचाल में रूबरू होना कहा जाता है। यह भौतिक उपस्थिति या भौतिक रूप में परस्पर मिलना या भेंट करना या वार्तालाप करना है। किंतु यह सीमित अर्थ है। यह मात्र नैत्रेन्द्रिय से बंधा हुआ साक्षात्कार है। जब हम नेपथ्य से आ रहा कोई शब्द सुनते हैं, तो यह भी साक्षात्कार होता है - ध्वनि से हमारा। इसी प्रकार स्पर्श, तेज, गंध और स्वाद द्वारा की गई अनुभूति भी साक्षात्कार होती है हमारे लिये। इस आधार पर हम कह सकते हैं, कि पंच कर्मेन्द्रियों और पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो अनुभव में आने वाले तथ्य हैं, वह साक्षात्कार है।

१५.१-२ साक्षात्कार के बारे में सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है, कि यह व्यक्ति वादी शब्द है। व्यक्ति से बंधा हुआ शब्द है। व्यक्ति से जुड़ा हुआ शब्द है। जिस प्रकार हम किसी वस्तु, शब्द या ज्ञान का अंतरण करते हैं, उस प्रकार हम साक्षात्कार का अंतरण नहीं कर सकते। यह स्वानुभूति से जुड़ा हुआ, स्वानुभूति से बंधा हुआ और स्वानुभूति पर आधारित शब्द है। इसका कोई पर्याय नहीं है। इस साक्षात्कार शब्द को स्पष्ट करने के लिये हम कहेंगे कि किसी वन में विचरण करते हुए यदि हमारी भेंट अचानक ही वनराज से हो जावे और उसके परिणामस्वरूप जो हमारा अनुभव होगा वह ही होगा हमारा साक्षात्कार और साक्षात्कार की अनुभूति। किसी व्यक्ति से मिलकर हम उसके एक पक्ष को ही जानते है अतः यह उदाहरण ही उचित बन पड़ा है यहां पर।

१५.१-३ साक्षात्कार शब्द पर विचार करते समय हमें स्मरण रखना चाहिये कि पांच कर्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों - आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा के अतिरिक्त तथा इन दसो इंद्रियों से युक्त मन को भी एक इंद्रिय की संज्ञा दी गई है। मन सहित इस शरीर में कुल एकादश इंद्रियाँ मानी गई हैं। मन यद्यपि गणना के क्रम में एकादश इंद्रिय माना गया है, किंतु साथ ही यह पृथक् भी माना गया है, अपने अस्तित्व में। मन पूर्णता को लिये हुए है। मन का आधार पूर्णता है। मन का संबंध विषय से होता है, पांच कर्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा इस जगत में।

इनसे रहित मन स्वयंवेत्ता होता है। विषय, मन और आत्म तत्व मिलकर ही बोध कराने वाले होते हैं। इनमें से किसी एक की संलग्नता का अभाव होने पर बोध का अभाव हो जाता है। इस प्रकार यह तीनों मिलकर ही पूर्ण होते हैं, ज्ञान या अनुभव प्राप्ति के लिये। मन इंद्रियों से जुड़कर, इंद्रियों के माध्यम से, विषय से जुड़कर तथा अंतस्थ आत्म तत्व से जुड़कर ही बोध कराता है, अनुभूति कराता है, किसी तथ्य की ओर यह अनुभूत तथ्य ही साक्षात्कार बन जाता है, हमारे लिये। इस प्रकार साक्षात्कार के तीन स्तर हो जाते हैं -

प्रथम - कर्मेन्द्रियों द्वारा किया गया अनुभव,
द्वितीय - ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किया गया अनुभव और
तृतीय - कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से परे मन का स्वयं का अनुभव।

इसे हम इस प्रकार स्पष्ट करेंगे कि जब आप कर्मेन्द्रियों से भौतिक जगत का कोई अनुभव करते हैं, तो यह एक प्रकार का अनुभव होता है। यह पंच तत्व या पंच महाभूत का प्रत्यक्ष बोध होता है, भौतिक स्वरूप का बोध होता है। यह इन पांच महाभूत - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्व तथा इनसे बनी, इनके संयोग से बनी वस्तुओं का, सृष्टि का, दृश्य जगत का प्रत्यक्ष बोध होता है। ज्ञानेन्द्रियों से किया गया अनुभव पंच महाभूतों की तन् मात्राओं या इनके विषयों का या इनके गुणों का अनुभव होता है। यह ज्ञानेन्द्रियों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। ज्ञानेन्द्रियां प्रत्यक्ष उपस्थित तथ्य या वस्तु का ही बोध प्राप्त करने में सक्षम होती हैं। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किये गये अनुभव की विवशता यह है कि इनके साथ भ्रम जुड़ा हुआ होता है **या देवी सर्व भूतेषु भ्रांति रुपेण संस्थिता** (दुर्गा सप्तशती)। जिसका निवारण मन द्वारा ही बुद्धि की मदद से किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में मन जो बोध प्राप्त करता है, वह मन का अपना अनुभव होता है जैसे - अकर्म में कर्म को देखना या कर्म में अकर्म को देखना, मौन में वाणी को पाना या अभाव में उपस्थिति को मान लेना आदि। इस प्रकार किसी भी वस्तु या तथ्य के साक्षात्कार के तीन स्तर, तीन माध्यम या तीन आधार होते हैं। ये तीनों ही मन में आकर मिल जाते हैं तथा संयुक्त रूप से इकाई का रूप धारण करते हैं। इकाई ही माने जाते हैं तथा इनके आधार पर साक्षात्कार भी एक ही माना जाता है। तथापि इनमें भिन्नता मानी जाती है, मन के आधार पर और इस प्रकार यह साक्षात्कार भी तीन रूप में हो जाता हैं - प्रथम कर्मेन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार, द्वितीय ज्ञानेन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार और तृतीय मन द्वारा साक्षात्कार।

१५.१-४ (१) कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां मन से जुड़कर ही इस जागतिक अस्तित्व, जागतिक सृष्टि का बोध कराने की क्षमता रखती हैं। वहीं मन अपने स्वतंत्र अस्तित्व में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से परे या इनकी सीमाओं से आगे जाकर भी अनुभव का आधार बनता है। श्रुति देवी का कथन है -

"अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ।
ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति ।"

(बृहदारण्यकोपनिषद् - १/५/३)

"मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैने नहीं सुना। वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है।" चिदाकाश जहां कि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का प्रवेश नहीं होता है, वहां का "कर्ता और अनुभव कर्ता" या साक्षात्कार कर्ता यह मन ही होता है। **"मनेति ब्रह्मं"**। यह मन ही अभाव में अस्तित्व देखता है। यह अभाव जागतिक आधार पर या सांसारिक धरातल पर होता है किंतु यह अनुभव का सत्य होता है। परम तत्व का अस्तित्व होता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का कथन है :-

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥"

(२/१६)

अनुभव - "असत्य वस्तु का तो अस्तित्व ही नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों स्थितियों को ही तत्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।" मन द्वारा किया गया यह अनुभव तत्काल ही इस जगत का इस सृष्टि का विभाजन दो भाग में कर देता है। प्रथम - दृश्य जगत और दूसरा अदृश्य जगत। जिस प्रकार कि नाट्य सभा में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाला मंच और सभागार तथा मंच और उसके नेपथ्य का दृश्य। दृश्य जगत स्थूल जगत की संज्ञा प्राप्त कर लेता है और अदृश्य जगत सूक्ष्म जगत की। दृश्य जगत में आप क्षितिज की सीमा तक ही अपनी नेत्र रूपी ज्ञानेन्द्रियों से देख सकते है, जो आपके उपस्थित बिंदु से कुछ सौ मील की दूरी तक हो सकती है किंतु मन की दृश्य क्षमता जिसे हम अंतः चक्षु कहते हैं या जिसे श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में - "दिव्य चक्षुः" (११/८) कहा गया है, वह ब्रह्मांड के, इस सृष्टि के ओर-छोर तक फैली होती है। यह बातं अन्य ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के संबंध में भी लागू होती है। अर्थात् इन सभी इंद्रियों के विषय में मन ही सक्षम होता है। अपनी इस दिव्य क्षमता के कारण ही मन को परम तत्व के विश्वरूप दर्शन का आधार माना जाकर उपनिषद् वाणी में इसे "मनोऽस्य देवं

चक्षु'' (छांदोग्योपनिषद् - ८/१२/५) कहा गया है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव दृश्य जगत के साक्षात्कार का बोध कराने वाले हैं। मन भी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से जुड़कर तथा स्वतंत्र रूप में भी दृश्य जगत का साक्षात्कार करने का माध्यम या आधार बनता है किंतु मन जब अपनी विशुद्ध अवस्था में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की सीमा को पार करके जब अपने विशुद्ध स्वरूप में महत् तत्व या चेतन तत्व जिसे आत्म तत्व या ब्रह्म तत्व कहा गया है का बोध प्राप्त करता है, तो यह बोध प्राप्त करना ही वास्तविक रुप में साक्षात्कार कहा गया है अध्यात्म के क्षेत्र में। अपनी विशुद्ध अवस्था में मन द्वारा किया गया यह साक्षात्कार ही स्व-स्वरूप का साक्षात्कार है। यह आत्म बोध प्राप्त करना है। अक्षर स्वरूप का साक्षात्कार करना है। इस साक्षात्कार का अन्तरण नहीं किया जा सकता। संत कबीर इसका वर्णन करते हुए कहते हैं -

परोसिनि मांगे कंत हमारा। पीव क्यूं बौरी मिलहि उधारा ॥

अर्थात् हमारे द्वारा साक्षात्कार किया जाकर प्राप्त किया गया स्वामी, पड़ोसिन उधार मांग रही है। अरी ! बौरायी हुई सखी क्या स्वामी भी उधार मिलता है ? अर्थात् परम तत्व की अनुभूति का अन्तरण नहीं किया जा सकता है।

(२) इसके लिये आवश्यक यह है कि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के विषय संसर्ग की भांति ही मन को भीतर की ओर अर्थात् आंतरिक विषय की ओर मोड़ना है। आंतरिक जगत का आश्रय स्थल चिदाकाश है, जिसे हृदयाकाश भी कहा जाता है। इस चिदाकाश का परिचय प्राप्त कर मन की क्षमताएं बढ़ती है। सर्वप्रथम दूर दृष्टि का विकास होता है। इसके साथ ही दूर श्रवण आदि अष्टसिद्धियां साधक को क्रमशः प्राप्त होती हैं, जो स्वतः अपना पूर्ण स्वरूप प्राप्त करती हैं। यह सभी सिद्धि रुपी क्षमताएँ साधक को अपनी यात्रा के क्रम में साधन सम्पन्न बनाने के लिये प्राप्त होती हैं या यों कहे कि परम तत्व द्वारा ही साधक को दी जाती है, अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराने के पूर्व श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये दिव्य चक्षु की भांति ही। जागतिक आधार पर इन सिद्धियों के बारे में हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार पर्वत शिखर की यात्रा या आरोहण के लिये हम सभी आवश्यक उपस्कर साथ लेकर यात्रा पर चलते हैं इसी भांति, आंतरिक जगत में चूंकि अहंकार का अभाव होता है वहां केवल परम तत्व का ही निवास है और मन इस परम तत्व को ही प्राप्त करना चाहता है। बाह्य जगत् में यह परम तत्व ही अहंकार रूप में प्रंगट होता है। बाह्य जगत में यह अहंकार ही परम तत्व का क्रियात्मक स्वरूप

होता है। यह अहंकार स्वयं ही कर्ता होकर, स्वयं को ही संतुष्ट करता है। आंतरिक मन अपनी अष्टसिद्धीयों से जुड़कर चिदाकाश में यात्रा करता हुआ तथा बाह्य जगत में शांत मन से अपने कर्त्तव्य कर्म को पूरा करता हुआ परम तत्व को प्राप्त करता है और अन्ततः स्वयं के स्वरूप को ही जानता है। यह शांत हुआ मन बाह्य जगत में भी इस शरीर से बंधकर साकार रूप में जुड़कर अहंकार के रूप में प्रगट होता है सृजनात्मक कार्यरूप में। बाह्य जगत में यह अहंकार ही कर्ता हो जाता है, **"अहंकारः कर्ता न पुरुषः"**. । यह अहंकार ही परम तत्व का सृजन करने वाला स्वरूप बनता है और **"एकोऽहम् बहुस्याम"** की इच्छा को पूर्ण करता है। अतः हमें बाह्य जगत में अहंकार के अस्तित्व को जानना, समझना चाहिये। इसके क्रियात्मक स्वरूप तथा कार्यक्षमता का बोध प्राप्त कर लेना चाहिये।

अहंकार को जागतिक आधार पर त्याज्य कहा जाता है। चाणक्य सूत्रों में आचार्य कौटिल्य द्वारा इसे मनुष्य का महान शत्रु कहा गया है -

नास्त्यहंकारसमः शत्रु ॥ २८८ ॥

"अहंकार से बढ़कर दूसरा कोई शत्रु नहीं है।" तथा इसे त्याग देने के लिये ही उपदेश दिया जाता है। हम इसकी ग्राह्यता और त्यागने योग्य स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहना चाहेंगे कि यदि कोई त्यागी या दानवीर धनवान व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के वशीभूत होकर और कर्ता विचारों से प्रभावित होकर किसी चिकित्सालय का निर्माण करवाता है और उसमें सुसज्जित आपरेशन कक्ष बनवाता है, तो उसके अहंकार तत्व द्वारा किया गया यहाँ तक का यह कार्य सर्वथा उचित और ग्राह्य है किन्तु यदि वह निर्माता यह कहे कि मैं उन्हीं जूतों को पहनकर आपरेशन कक्ष में भ्रमण करूँगा और सेवा कार्य देखूंगा जिन जूतों को पहन कर वह बाहर भ्रमण करता रहा है, तो उसका यह कार्य बीमारी के संक्रमण का कारण होने से सर्वथा अनुचित है। अहंकार का यह भाव ही त्याज्य है। हमें इस अहंकार भाव का ही त्याग करना चाहिये।

यदि हमारे मन में यह विचार आता है कि मैं अपनी आजीविका स्वयं उपार्जित करूंगा या आत्म स्वरूप अक्षर ब्रह्म को जानने का प्रयास करूंगा, तो इस प्रयास में छिपा हुआ अहंकार या मैं अनुशासन मानूंगा महात्मा गांधी की तरह किन्तु अपमान नहीं सहूँगा चन्द्रशेखर आजाद की तरह, या मैं आत्म स्वरूप - अक्षर ब्रह्म को जानने का प्रयास करूँगा तो इस प्रयास या इन विचारों में छिपा हुआ अहंकार का कर्ता भाव ग्राह्य होकर त्याज्य नहीं

कहा जा सकता। हमें इसी प्रकार अहंकार तत्व के कर्ता भाव को जानकर इसे जीवन में अपना लेना चाहिये। आत्मः तत्व का परिचय कर्ता और परिचय प्रदाता यह अहंकार ही तो है। इसे त्यागे भी तो कैसे ?

(३) बाह्य जगत में सृजन का आधार यह अहंकार ही है। बाह्य जगत का सृजन कर्ता यह अहंकार ही आंतरिक जगत में अहं तत्व बना होता है, जिसे हम आत्मा या परमात्मा या परम तत्व कहते हैं। हमारे साक्षात्कार का लक्ष्य यह निरपेक्ष अहं तत्व ही होता है। जिस प्रकार कि हम राजपुरुष की सत्ता को बाह्य जगत में प्रगट रूप देख कर राजपुरुष को देखना चाहते हैं और जब हम उससे राजमहल में जाकर मिलते हैं, तो उसे सामान्य स्वरूप में अर्थात् एक सामान्य पुरुष की भांति ही दैनिक व्यवहार करता हुआ, अपने बच्चों के साथ खेलता हुआ और रमण करता हुआ पाते हैं। वहां हमें राजपुरुष की बाह्य राजसत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती है। उसी प्रकार इस परमतत्व की अवस्था को जान लेना चाहिये। अतः मन के बाह्य जगत में क्रियात्मक स्वरूप को तथा आंतरिक जगत की कर्त्तव्य-परायणता के स्वरूप को जान लेना चाहिये। हमें स्मरण रखना चाहिये कि बाह्य जगत और आंतरिक जगत् उसी प्रकार पृथक-पृथक है, जिस प्रकार कि नाट्य सभा गृह में - सभा मंडप पृथक् होता है और उसका मंच वाला भाग परस्पर जुड़ा रहकर भी अलग ही होता है और इसी आधार पर सभा मंडप के अनुशासन तथा नाट्य मंच के अनुशासन के क्रिया रूप में एवं पालन योग्य नियमों में परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार हमें बाह्य जगत और आंतरिक जगत की पृथकता को जान लेना चाहिये तथा इन दोनों के नियमन की प्रणाली को भी जानकर अपना लेना चाहिये। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये हम कहेंगे कि जिस प्रकार नाट्य मंच की नियमावली को सभागार में लागू नहीं कर सकते और सभागार की नियमावली को नाट्यमंच पर लागू नहीं कर सकते अर्थात् सभा मंडप में बैठे शांत चित्त दर्शकों की भांति हम नाट्य मंच के कलाकारों को एक स्थान पर शांत बैठने की अनुमति नहीं दे सकते और नाट्य मंच की क्रियाशीलता को अपना लिये जाने की अनुमति सभागार में बैठे दर्शकों को नहीं दे सकते हैं। इसी प्रकार हमें बाह्य जगत में व्यवहार करते समय जागतिक नियमावली को अपनाना चाहिये और आंतरिक जगत में आंतरिक जगत की नियमावली को अपना लेना चाहिये। जिस प्रकार कि मुद्रा के एक भाग पर अंकित मुद्रा चिह्न सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहता है, एक रूप ही बना रहता है और दूसरे भाग पर अंकित मूल्य के अनुसार ही प्रचलन में या व्यवहार रूप में उपयोग किया जाता है। उसी प्रकार साधक को अपनी आंतरिक बोध यात्रा में परम तत्व से स्व-स्वरूप

से ही जुड़ने का प्रयास करना चाहिये । अभेद मानकर ही बाह्य जगत में व्यवहार करना चाहिये, अपने जागतिक स्वरूप के आधार पर, जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में - **"नियतं कुरु कर्म"** (गीता - ३/८) कहा गया है । हमें इसे ही अपना लेना चाहिये प्रगट जगत में । यह कर्म में स्वरूप को जान लेना तथा ज्ञान के स्वरूप को जान लेना है । जिसे कि कर्म और ज्ञान का भेद कहा गया है । प्रगट जगत में व्यवहार करते समय इसे ही आधार बनाना चाहिये। अपने शांत स्वरूप में तथा निर्मल स्वरूप में स्थित रहकर ही परम तत्व के साक्षात्कार की आवश्यक शर्त है -

"चतुराई न चतुर्भुज पाईये" - कबीर (शबद - पद १०१)

"निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥"

(श्रीरामचरित्मानस - ५/४४/५)

तथा श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥"

(११/५५)

अनुवाद - "हे अर्जुन, जो पुरुष मुझे परम आश्रय मानकर मेरा भक्त बनकर मेरे लिये ही राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करता है, वह सभी प्राणियों के प्रति वैर (दुर्भाव) रहित भाव को प्राप्त हुआ साधक ही मुझे प्राप्त करता है।"

१५.१-५ कमेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का विषय क्षेत्र बाह्य जगत होता है । मन इनसे जुड़कर ही बाह्य वृत्ति को अपनाता है, अन्यथा मन का विषय क्षेत्र बाह्य जगत नहीं है । श्रीमद्भगवद्गीता में शिष्य अर्जुन की सहज जिज्ञासा -

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(३/३६)

अनुवाद -"हे कृष्ण, फिर यह पुरुष बलात्कार से लगाये हुए सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरा हुआ पाप का आचरण करता है"। इस जिज्ञासा के संदर्भ में श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया उत्तर मन की बाह्य जगत से संलग्नता को प्रगट करता है । बाह्य जगत के सभी सुख क्षणिक होते हैं - **"अनित्यम् सुखं लोकमिमं"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ९/३३) मन विषय वासना अर्थात् पंच महाभूतों की पंच तन्मात्राओं से बंधी और उपजी हुई कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से जुड़कर ही बाह्य जागतिक सुखों से जुड़ता है -

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु वीधियते ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/६७)

अनुवाद - "विचरति हुई इन्द्रियों के बीच जिस इंद्रिय के साथ मन रहता है, वह इसकी प्रज्ञा का हरण कर लेती है।" किंतु इन इंद्रियों से जुड़ना मन की आकांक्षा नहीं होती है। मन की इस अवस्था को प्रगट करने के लिये हम कहेंगे कि अनुचित कार्य करने के पश्चात् होने वाला पश्चाताप या खेद मन के विशुद्ध स्वभाव को ही प्रगट करता है। मन स्वाभाविक स्वरूप में शांति चाहता है। आप किसी घटना, दुर्घटना या झगड़ा फसाद या किसी जादूगर द्वारा बताये जा रहे दृश्य को देखने के लिये ज्ञानेन्द्रियों के वशीभूत होकर ही दृश्य के साक्षी बनते हैं। किंतु यह मन अंदर से चाहता है कि पीड़ित को राहत मिले, झगड़ा-फसाद शांत हो जावे और जादुगर अपना कौतुक शीघ्र ही समाप्त कर देवें। इसी प्रकार आप किन्हीं स्वार्थों, भय या राजसत्ता के आदेशों के पालन में अनुचित कर्म या अन्याय या अधर्म का पालन या समर्थन कर रहे होते हैं, तो यह मन ही आपको अंदर से रोकता है। मना करता है, अनुचित कर्म करने के लिये। किंतु आप अपनी जगत की विवशताओं से बंधे होकर मन की आवाज को, मन की आकांक्षा को नही सुनते हैं - महाभारत ग्रंथ में वर्णित कौरवों की सभा में शांत चित्त बैठे भीष्म पितामह की तरह। भीष्म पितामह द्वारा मौन रहकर दुर्योधन का साथ देना तथा असहाय द्रौपदी की जो कि उनके कुल की ही वधू है, उसकी भरी सभा में कोई मदद नहीं करना, मन की बाह्य जगत में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से जकड़ी हुई विवशता का ही उदाहरण है।

१५.१-६ जागतिक व्यवहार में जुड़कर ही मन विवश होता है। अंतर्मुखी होकर यह जगत के बंधन से मुक्त हो जाता है। - **"संतन को का सिकरी से काम"** की भांति। अंतर्मुखी मन तेजस स्वरूप हो जाता है और परिणाम स्वरूप सत्ता का सम्राट सिकंदर स्वयं पैदल चलकर या शक्ति का केन्द्र बाहशाह अकबर वेश बदलकर तेजोमय मन के समक्ष उपस्थित होते हैं स्वयं की मनः शांति के लिये। वह संत हरिदास, संत मीरा, संत कबीर, संत चैतन्य महाप्रभु, संत तुलसीदास, संत परमहंस, श्रीरामकृष्णदेव या अन्यान्य संतों की भांति केवल परम तत्व के लिये ही गान करता है। या संत रामदास की भांति "समर्थ रामदास" बनकर या संत गुरु नानकदेव के रुप में - करूणा को अपना लेता है और कर्म का प्रणेता बन जाता है, इस धरा पर। या संत अर्जुनदेव की भांति बन जाता है पथ-प्रदर्शक या रमण महर्षि की तरह मौन सहायक।

१५.१-७ परम तत्व जिसे अगोचर, अकथ, अनंत, निराकार, सर्वव्यापी और अक्षर आदि कहा गया है का साक्षात्कार केवल मन द्वारा ही किया जा

सकता है - शब्द साधना को अपनाकर जिसे शब्दानुसंधान या नादानुसंधान कहा जाता है। यह साक्षात्कार पदार्थ और गुण से जुड़ी या बंधी हुई कर्मेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संभव नहीं है। आवश्यकता है हम कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की सीमा को समझें और सीमा रहित, सर्व समर्थ शक्तिशाली मन का आश्रय लें जो स्वयं अगोचर, अकथ, अनंत, वेगवान तथा अग्रगामी है और दृढ़ है अपने लक्ष्य के प्रति। मन की यह अग्रगामिता आधुनिक विज्ञान के शोध कार्यों में सिद्ध हो चुकी है जबकि हम इसे बड़े से बड़े कम्प्यूटरों को या बड़ी से बड़ी गणनाओं को नियंत्रित हुआ पाते है या भविष्य की सफलताओं को पूर्व में ही जान लेते हैं। यदि हम **"नियतं कुरु कर्म"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ३/८) और **"स्वधर्मे निधनं श्रेयः"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ३/३५) की अवधारणा को जीवन में अपना लेते हैं तो कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों तथा मन की बाह्य जागतिक धरातल की संलग्नता स्वयमेव समाप्त होती है। यह अपने स्वाभाविक स्वरूप में ही स्थित हो जाता है कर्मरत होकर भी। अपने स्व-स्वरूप से जुड़ जाता है कर्म को करते हुए। मीमांसा दर्शन में पुरुष की उत्तपत्ति कर्म करने के लिये इस धरा पर होना बताई गई है - **"पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्"** (मीमांसा दर्शन - ३/१/६) अर्थात् यह पुरुष कर्म करने के लिये ही। मानव की इस स्वाभाविक अवस्था का ही उपदेश शिष्य अर्जुन के प्रति सतगुरु श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया है -

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/४७)

अनुवाद - (हे अर्जुन) तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार होवे।। फल में कभी नहीं और तू कर्मों के फल की वासना वाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति या रूचि न होवे।" - बाह्य जगत की कर्त्तव्यपरायणता अंतर्मुखी यात्रा के लिये समर्पण का आधार बनाती है। जिस प्रकार कि घर उपार्जित संस्कार बाह्य जगत में व्यवहार का आधार बनता है। कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् परम तत्व से ही हुई है - **"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ३/१५)। अनुवाद - 'कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म (कर्ता पुरुष) से ही जान'। बाह्य जगत में कर्म के प्रति समर्पण का यह भाव ही आंतरिक जगत में परम तत्व के प्रति की जाने वाली बोध यात्रा के लिये स्वतः ही उत्प्रेरणा बन जाता है। अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर ही। और, इस प्रकार निसंग होकर कर्म करना ही पात्रता प्रदान कर देता है परम तत्व के साक्षात्कार की, अक्षर ब्रह्म के स्वरूप को जान लेने की। अतः कर्म को परम

तत्व का कार्य मानकर ही हमें, अपने सम्मुख कार्य में जुट जाना चाहिये, उसे अपना लेना चाहिये। यह ही परम तत्व की निकटता का आधार बन जाता है, इस जीवन में।

"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः" (ऋग्वेद - ४/३३/११)

अनुवाद - 'जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते।' ऋग्वेद का यह मंत्र मार्गदर्शन है हमारे लिये।

१५.१-८ (१) कर्मरत होना काल के बंधन से मुक्त होने का आधार बन जाता है, बाह्य जीवन में। भीष्म पितामह द्वारा कर्मरत्त होकर ही पाई गई है, अपनी लंबी आयु और स्वेच्छा मरण। अपने दैनिक जीवन या व्यवहार में भी आप कभी-कभी कर्म से जुड़कर ही अर्थात् कर्मरत्त होकर ही जान लेते हैं, काल की विस्मृति रूपी मुक्तता को जो स्वतः ही स्पष्ट करता है, कर्म के कर्ता स्वरुप को। इस प्रकार यह सृष्टि के संचालन हेतु या सृजन कर्म में किये जाने वाले कर्म से जुड़कर प्रत्यक्ष रूप से परम तत्व से ही जुड़ जाना है -

"एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ३/१६)

अनुवाद - "हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए सृष्टि कर्म के अनुसार नही बर्तता है, वह इन्द्रियों के सुख को भोगने वाला पुरुष व्यर्थ ही जीता है।" इस प्रकार यदि हम सम्मुख कर्म से जुट जाते हैं, तो मुक्त हो जाते हैं कर्म के बंधन से भी -

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशावास्योपनिषद् - २, यजुर्वेद - ४०/२)

अनुवाद - मनुष्य को चाहिये कि वह कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ ही पूर्ण आयु पर्यन्त सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करें। उसका कल्याण इसी में है। कर्त्तव्य कर्म को छोड़कर भागने में नहीं। कर्म बंधन से बचने का यही उपाय है। हमें अपने जीवन में मुक्तावस्था में बने रहने के लिये इसे अपना लेना चाहिये। यह किये जाने वाले कर्म को अपने स्वामी का अर्थात् जगत् उत्पन्न कर्ता परम तत्व का कार्य मान लेने पर,कर्म के बंधन से उसी प्रकार मुक्त कर देता है, जिस प्रकार कि प्रचलित विधि के विधान् अनुसार स्वामी के लिये किये गये कार्य के प्रति उसका सेवक जिम्मेदार नहीं होता है। स्वामी ही जिम्मेदार होता है, अपने सेवक द्वारा किये गये समस्त कार्यों के लिये। परम तत्व के

प्रति स्वामी भाव से किया गया कर्म, कर्म के फल से मुक्त तो करता ही है यह काल के बंधन से भी मुक्त करने वाला बन जाता है - जिस प्रकार कि आचार्य शंकर द्वारा प्राप्त की गई है, अपनी आयु, आयु की पूर्णता सूचित हो जाने के उपरांत भी।

(२) हम पूर्ण आयु अर्थात् सौ वर्ष तक कर्मरत्त बने रहें तथा परम तत्व का सानिध्य प्राप्त करते रहें, इसी उद्देश्य से की गई है, यह प्रार्थना जिसमें स्वयं के लिये कार्यक्षम बने रहने के बहाने मांग लिया गया है स्वास्थ्य परम प्रभु से।'' -

''पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूषेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतम् ॥''

(अथर्ववेद - १९/६७/१-८)

अनुवाद - ''हम सौ वर्ष तक देखते रहें। हम सौ वर्ष तक जीवन यात्रा करें। हम सौ वर्षों तक ज्ञान का उपार्जन करें। हम सौ वर्ष तक उत्तरोत्तर उत्कृष्टता को प्राप्त करें। हम सौ वर्ष तक धन-धान्य से पुष्ट अर्थात् पूर्ण सम्पन्न बने रहें। हम सौ वर्ष तक अस्तित्ववान् अर्थात् मान - प्रतिष्ठा से सम्पन्न बने रहें। हम सौ वर्ष तक समाज में भूषण अर्थात् महानता को धारण करें। हम सौ वर्ष तक आनंदमय जीवनायापन करते रहें या आनंदमय बने रहें।''

(३) यह प्रार्थना मनुष्य और कर्म के शाश्वत संबंध को प्रगट करती है। हमारे आदि पूर्वजों द्वारा की गई इस प्रार्थना के रहस्य को हमें जान लेना चाहिये। यह प्रार्थना स्वस्थ रहने का ही मार्ग बताती है, जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में - ''समदुःखसुखः स्वस्थः'' (१४/२४) अर्थात् दुःख और सुख की अवस्था में समान बने रहना ही स्वस्थ होना है, कहा गया है। वेद वाणी भी हमें धैर्यवान् और निर्भय बनें रहने तथा उद्विग्नता को प्राप्त नहीं करने का उपदेश देती है-

मा भेः मा संविक्थाः (यजुर्वेद १/२३)

अनुवाद - "हम न तो भय से ग्रसित हों अर्थात् भीरु नहीं बने और न उद्विग्नता को प्राप्त हों"। सुख और दुःख को पारिभाषित करने वाला निम्न विवरण सहायक एवं मार्गदर्शक है हमारे लिये। सुख को हम क्षितिज से तुलना करके निम्न रूप में आसानी से समझ सकते हैं और जान सकते हैं दुःख की उपयोगिता को भी -

॥ सुख ॥

क्षितिज हकीकत नहीं अनुमान है ।
निगाहों की दौड़ का पूर्ण विराम है ॥१॥
सुख हकीकत है अनुमान नहीं ।
कर्म का अथ है इति नहीं ।
फिर भी क्षितिज की भांति ।
एक भुलावा है ।

॥ दुःख ॥

दुःख एक अवसर है ।
किसने इसे रोका किसने इसे जाना ।
क्यों यह आता है
कि कब यह आवेगा ॥१॥
दुःख समय की अभिव्यक्ति है
अतीत की दुखद घटनाओं का
चिंतन ही तो इतिहास है ॥२॥
दुःख एक पर्व है ।
पर्व सांस्कृतिक धरोहर होते हैं ।
जहां हम कुछ खोते कुछ पाते
जीवन में कुछ नया अपनाते हैं ॥३॥
दुःख भी एक धरोहर है ।
स्व-साक्षात्कार का क्षण
विचार विवेक मनन का विषय है ।
इसे भी हम जीवन में अपनाऐं ।
आओ हम एक पर्व मनाएं ।
आओ हम एक पर्व मनाएं ॥ ४ ॥

महाभारत कथा में भी देवी कुंती द्वारा अपने जीवन में बिताये गये दुख के क्षणों को ही श्रीकृष्ण के सानिध्य का आधार या कारण बताया गया है। यदि हम दुःख में विचलित नहीं होते और सुख में उन्मत्त नहीं होते हैं तो यह ही है व्यक्ति के स्वस्थ होने की पहचान।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/३८)

अनुवाद - "सुख और दुःख में समान रहकर लाभ और हानि तथा जय और पराजय को समान समझते हुए युद्ध के लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।"

इस प्रकार स्वस्थ बने रहकर किये जाने वाला कार्य या परम तत्व से जुड़कर किये जाने वाला कार्य ही परम तत्व के साक्षात्कार का आधार बनता है। -

"मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १२/१०)

अनुवाद - "केवल मेरे लिये कर्म करने के ही परायण हो। इस प्रकार मेरे अर्थ को कर्म करता हुआ भी मेरी प्राप्ति रूप सिद्धी को ही प्राप्त होगा।" इस प्रकार बाह्य जीवन की कर्त्तव्यपरायणता ही आधार भूमि और उर्वराशक्ति बन जाती है, आंतरिक जगत् में की जाने वाली अंतर्बोध यात्रा के लिये शांतचित्त और स्वस्थ बने रहकर कर्मरत्त होना ही अनिवार्य शर्त है, परम तत्व या अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये जिसे स्व-स्वरूप भी कहा गया है और शब्द स्वरूप भी।

१५.१-९ अब हम बाह्य जगत में कर्मरत्त मन की अंतर्भूमि पर कर्मपरायणता की चर्चा करेंगे। सर्वप्रथम हम परम तत्व या अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार की अनिवार्य शर्त कर्मपरायणता का ही खुलासा करेंगे। कर्म से जुड़ना परम तत्व से सृष्टि के सृजन कर्म से जुड़ना है। कर्मरत्त होना परम तत्व का सानिध्य प्राप्त करना है। कर्मरत्त होकर ही संत रैदास द्वारा, संत कबीर द्वारा और पौराणिक उदाहरण के अनुसार अजामिल द्वारा परम तत्व का साक्षात्कार किया गया है। जिस प्रकार भौतिक जगत में स्वार्थ से बंधे कर्म से जुड़कर हम कार्य प्रमुख से जुड़ जाते हैं, उसकी सम्मुखता या सानिध्य प्राप्त कर भौतिक सुख-सुविधाएं और पदोन्नति आदि प्राप्त करने में सक्षम हो जाते हैं। उसी प्रकार समर्पणयुक्त कर्मपरायणता परम तत्व का बोध निर्मल मन द्वारा किये

जाने वाले कर्म को अपनाकर ही प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि वह परम तत्व स्वयं ही अहर्निश कर्मरत्त है - स्वार्थों से या प्राप्तव्य से परे रहकर -

''न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥''

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - ३/२२)

अनुवाद - ''हे पार्थ ! यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म में ही वर्तता हूं ।'' साधक द्वारा जीवन में कर्म को अपना लिया जाना सजातीयता प्रदान करने वाला होता है और सजातीय द्रव्य स्वभावतः ही एक जगह पहुंचकर मिल जाते है एक-दूसरे में । सीता की खोज हेतु हनुमान द्वारा किये गये प्रयासों के वर्णन में महर्षि वाल्मिकी द्वारा किया गया यह वर्णन कितना मनोरम हैं हमारे लिये कर्म की कर्तव्यपरायणता को समझ लेने के लिये -

''यस्य सत्त्वस्य या योनिस्तस्यां तत् परिमार्गते ।
न शक्यं प्रमदा नष्टा मृगीषु परिमार्गितुम् ॥

(वाल्मिकिय रामायण - ५/११/४४)

अनुवाद - ''जिस जीव की जो जाति होती है, उसी में उसे खोजा जाता है । खोई हुई युवती स्त्री को हिरनियों के बीच में नहीं ढूंढा जा सकता ।'' इस पृथ्वी तल पर मानव का ध्येय यह नहीं है कि वह पुनः-पुनः माता के गर्भ में आवे और पुनः-पुनः इस संसार के झंझावातों का सामना करें । जीव अंश रुप होकर भी चाहता है सद्योमुक्ति । महर्षि वामदेव की तरह (ऐतरेयोपनिषद् - २/१/५-६)

१५.१-१० जब हम कर्म को जीवन में अपना लेते हैं तो हम अकेले नहीं होते । वह परम तत्व ही हमारा संरक्षण कर्ता हो जाता है - **''जिमि महतारी''** बनकर हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला बन जाता हैं और प्रकृति से जुड़े हुए कर्मो की पूर्ति करना परम तत्व का ही दायित्व बन जाता है - **''मांगे बारिद देहिं जल''** (श्रीरामचरित्मानस - ७/२३) मांगने पर बादल वर्षा कर देते हैं की भांति । जिसे श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में - **''योगक्षेमं वहाम्यहम्''** (९/२२) अर्थात् ''प्राप्ति और प्राप्तव्य का मैं वहन संरक्षण कर्ता हूं ।'' यह सानिध्यता की मानव के कोटि-कोटि जन्मों के बंधन के क्षय का कारण बन जाती है -

''सनमुख होइ जीव मोहि जबहिं । जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं ॥

(श्रीरामचरित्मानस - ५/४४/२)

और यह बन जाता कारण जीवन में अभ्युदय और श्रेयस् की प्राप्ति का जगत में ।

१५.१-११ जब मन बाह्य जगत में कर्मरत्त हो जाता है, लक्ष्य से जुड़ जाता है, तो यह समर्पित हुआ, कर्मरत्त मन अपने उभयस्वरूप **"उभयात्मकम् मनः"** (सांख्य दर्शन - २/२६) में अंतर्मुखी होकर भी शीघ्र ही रेल की पटरियों पर दौड़ने वाले अग्रगामी इंजिन की भांति अक्षर ब्रह्म के परम तत्व के, आत्म बोध के मार्ग को अपना लेता है। यह संलग्नता मध्यमा वाक् से जो कि विशुद्ध हुए मन में सुलभता से जाना जाता है और पकड़ा जाता है द्वारा प्राप्त की जाना संभव है। यह यात्रा मार्ग की दूरी को शीघ्र ही पूरा करने में सहायक होता है। जब आप मध्यमा वाक् को अपनाकर कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की बहिर्मुखता को छोड़कर मन में ही स्थित हो जाते हैं, तो इस प्रकार आत्मस्थ हुआ अंतर्मुखी मन का गंतव्य अक्षर स्वरूप ही रह जाता है। हिम शिखर से बहने वाले जल के समुद्र में मिल जाने के गंतव्य की भांति और यह कर्म ही सिद्धि प्रदाता बन जाता है। राजा अश्वपति या विदेह राजा जनक द्वारा प्राप्त की गई सिद्धि की भांति।

१५.१-१२ मध्यमावाक् की अवस्था को ही अजपावस्था या कंठ जपावस्था कहा गया है। नाट्य शाला के उदाहरण आधार पर हमारे द्वारा इसे पर्दे के पीछे बैठने की अवस्था कहा गया है। यह बाह्य जगत के विभाजन को पार करके अंतर्जगत में प्रवेश करना है। यह अंतर्जगत में प्रवेश करना ही वास्तविक रूप में मनोमय हो जाना है। मनोमय कोष की अवस्था को प्राप्त करना है, यह अध्यात्म यात्रा का प्रारम्भ है। इसे ही संतों की वाणी में ऊर्ध्व कमल खिलने की अवस्था कहा गया है। जब आप अंतर्मुखी हो जाते हैं, तो मन विज्ञानमय कोष में प्रवेश की पात्रता प्राप्त करता है। जिसे संत कबीर द्वारा अनहद् जप अवस्था कहा गया है और संतों द्वारा हृदय जप की अवस्था। मन जब मनोमय कोष में स्थित होकर विज्ञानमय कोष से जुड़ता है तो यह मन स्वयं ही अग्रसर हो जाता है परम तत्व, आत्म तत्व या स्वयं के अक्षर स्वरूप को जानने और समझने के लिये। मानों परम तत्व या आत्म तत्व शक्तिशाली चुम्बक बन गया हो और हमारा मन नन्हीं दिशा सूचक चुंबकीय सुई, जो सदैव जुड़ी होती है, अपने नियंता केन्द्र बिंदु से। यह संलग्नता साधक के जीवन को रसमय बना देती है, आंतरिक जगत् में और बाह्य जागतिक धरातल पर भी। साधक को सभी कार्यों में लय बद्धता, तारतम्यता दृष्टिगोचर होने लगती है, इस धरा पर साधक प्रकृति का सानिध्य प्राप्त कर लेता है। मानों वह प्रकृति से ही संवाद कर रहा हो। मूक प्रकृति द्वारा किये जाने वाले संकेतों का अर्थ समझ में आने लगता है। इस संवाद क्षमता का विकास होने पर वह प्रकृति का पुत्र ही बन जाता है। प्रकृति के इन संकेतों तथा इनसे जुड़े अर्थों का विस्तृत वर्णन

आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा श्रीरामचरितमानस ग्रंथ में सगुन तथा अपसगुन रूप में तथा महर्षि वाल्मिकी द्वारा रामायण ग्रंथ में सगुन के अतिरिक्त स्वप्न के प्रतीक द्वारा भी किया गया है। साधक जड़ और मूक प्रकृति का सहचर बन जाता है और वह इसे जानकर रसमयता को ही प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को ही कहा गया है "रसो वे सः"।

साधक रसमयता को प्राप्त कर स्वयं भी रसमय ही बन जाता है, इस जगत में और आकर्षण प्राप्त कर लेता है, अपनी वाणी का, अपने व्यवहार का और अपने दर्शन का। यह रसानुभूति प्रतिक्षण बढ़ती जाती है। - "प्रतिक्षण वर्धमानम् ।" इस अवस्था को प्राप्त कर साधक मन, इसमें ही रमण करने वाला हो जाता है। शनैः-शनैः आगे बढ़कर वह अंतर्जगत में और बाह्य जगत में परम तत्व को ही सर्वरुप देखने लगता है। यह श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित अवस्था -

"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥"

(१०/९)

अनुवाद - "वे निरंतर मेरे में ही मन लगाने वाले और मेरे में ही प्राणों का अर्पण करने वाले भक्त जन सदा ही आपस में मेरी चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही रमण करते हैं।" को प्राप्त कर लेना होता है। इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक तथा उसके द्वारा परस्पर की जाने वाली वार्ता के स्वरूप को प्रगट करते श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
ताश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥"

(२/२९)

अनुवाद - "कोई साधक पुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की ज्यों देखता हैं और वैसा ही दूसरा कोई आश्चर्य की ज्यों इसके तत्व को कहता है और कोई दूसरा ही इस अनुभूति को आश्चर्य की ज्यों सुनता है और कोई सुनकर भी इस परम तत्व को (अक्षर ब्रह्म को) नहीं जानता है।" साधक यह सामर्थ्य, मन के विज्ञानमयकोष में प्रवेश करने के साथ ही प्राप्त करता है, जो अंततः उसे आनंदमय कोष में स्थित करके परम तत्व का अनुभव कराने वाली होती है। इस अवस्था को प्राप्त कर आत्मस्थ हुआ साधक आत्मदर्शन का जिज्ञासु

होकर शाश्वत शांति को ही अपने जीवन में प्राप्त कर लेता है तथा आचरण में प्रगट करने लगता है। यह अवस्था -

"युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - ६/१५)

अनुवाद - "इस प्रकार आत्मा को निरंतर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ, स्वाधीन मन वाला योगी (साधक) मेरे में स्थित रूप परमानंद पराकाष्ठा वाली शांति को प्राप्त होता है।" - को प्राप्त कर लेता हैं। वह संशय रहित होकर आनंद अवस्था में ही निवास करने लगता है। यह विज्ञानमय कोष के अंतिम सोपान को पार कर या विज्ञानमय कोष में स्थित रहते हुए ही अंतिम सोपान को पार करके आनंदमय कोष की अवस्था होती है। साधक इसे प्राप्त कर आनंदमय कोष अवस्था में ही स्थित हो जाता है नित्य प्रति प्राप्त किये जाने वाले अनुभव की इस अवस्था को ही पश्यंती वाक् स्वरूप मान लेना चाहिये। यह उत्पत्ति बिंदु से जुड़े हुए विकास क्रम की अवस्था है, जहां मूल एवं उसके प्रगटन से या ज्योति पुंज और उसके स्फुरण से भेद कर पाना कठिन होता है। आरंभ में ही हमारे द्वारा दिये गये उदाहरण शब्द प्रगटीकरण की अवस्था तक के आधार पर। यह अवस्था क्रमशः सभी प्रकार के संशयों का शमन कर देती है तथा परम तत्व का ही अनुभव करा देती है। इस प्रकार अंततः प्राप्त की जाने वाली अवस्था का वर्णन करते हुए उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुति कहती हैं -

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।"

(मुंडकोपनिषद् - २/२/८)

अनुवादं - कार्य-कारण स्वरूप उन परात्पर पुरुषोत्तम को तत्व से जान लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की गांठ खुल जाती है। संपूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त कर्मों के शुभाशुभ परिणाम नष्ट हो जाते हैं।

(२)

१५.२-१ इस अवस्था को प्राप्त करने की क्षमता की प्रक्रिया के संबंध में हम प्रगट करना चाहेंगे कि मध्यमा वाक् को जानकर अर्थात् अजपावस्था या कंठ जप अवस्था को प्राप्त कर साधक जब एकाग्रचित्त होकर भीतर उतरता है, तो सर्वप्रथम वह बाह्य आलंबन जो उसके द्वारा मंत्र के रूप में या नाम जप के रूप में अपनाया गया होता है, इसके छुटने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती

है। श्वासों की नसेनी पर (सीढ़ी) पर शब्द रूपी भीड़ अर्थात् मन से जुड़े हुए वर्णों की विविध ध्वनि रूपी भीड़ या ये विविध ध्वनियां कम होती हैं और क्रमशः छूटती जाती हैं तथा अंततः केवल प्रणव ध्वनि या ओंकार ध्वनि का ही सहारा रह जाता है। अर्थात् मूल ध्वनि ही बची रहती, इससे उत्पन्न हुए सभी वर्ण इस ध्वनि में ही समाहित हो जाते हैं और जब जप साधना में केवल प्रणव ध्वनि की बनती है, जो अंततः लुप्त होकर भ्रमर ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है। यह मध्यमा वाक् या अजपावस्था या जिसे हमारे द्वारा शब्द के स्वरूप ग्रहण की अवस्था कहा गया है को छोड़कर पश्यंती वाक् में बढ़ना होता है। प्रणवाक्षर जो स्वयं में एक अक्षर है। एक शब्द है और एक पूर्ण पद भी। मात्र शेष बचा रहता है और अंततः स्व-प्रयास से चिदाकाश में की जाने वाली यह प्रणव ध्वनि भी लुप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया का खुलासा करते हुए हम कहना चाहेंगे कि साधक जब शांत चित्त और एकाग्र चित्त होकर मध्यमा वाक् रूप में उच्चारण कर रहा होता है और इसे घोष रूप में सुन रहा होता है, तो अंततः चित्त निर्मलता को प्राप्त कर मन के सभी विकारों को उसी प्रकार झाड़ देता है, जिस प्रकार कि हेमंत ऋतु नवपल्लव के जन्म लेने के पूर्व वृक्ष को समस्त पुरानी पत्तियों से रहित कर देता है, बंसत के स्वागत के लिये। निर्मल हुआ मन परम शांति में प्रवेश करता है और उच्चारित किये जा रहे मंत्र की एक-एक वर्ण ध्वनि मन-मन भर बोझ की हो जाती है और अंततः सभी वर्ण ध्वनियों के चिदाकाश में लुप्त होने के साथ प्रणवाक्षर ध्वनि भी लुप्त हो जाती है। मन नीरवता में प्रवेश कर जाता है। यह ही मन का निर्विषय हो जाना है, अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेना है, जिसे सांख्य दर्शन में **''निर्विषयं मनः''** (६/२५) कहा गया है। यह विशुद्ध मन ही ब्रह्म कहा गया है - **''मनो ब्रह्मेति''** (तैत्तरियोपनिषद् - ३/४/१)

स मनसा ध्यायेद यद्वा अहं किञ्चन मनसा।
ध्यास्यामि तथैव तद्भविष्यति। तद्ध स्म तथैव भवति॥

(गो.ब्रा.-१/१/९)

"उसने मन से ध्यान किया (सोचा) यदि मैं किञ्चित मन से सोचूंगा या धारणा करुंगा तो वह वैसा ही हो जावेगा। वह निश्चय रुप से वैसा ही होता है।" इस हृदयस्थ हुए विशुद्ध मन की स्थिति तथा क्षमताओं का वर्णन करते हुए भगवती श्रुति देवी कहती है -

"यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् । संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृति संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥"

(ऐतरेयोपनिषद् - ३/१/२)

अनुवाद - जो यह हृदय है यही मन भी है। सम्यक् ज्ञान शक्ति, आज्ञा देने की शक्ति, विभिन्न रूप से जानने की शक्ति, तत्काल जानने की शक्ति, धारण करने की शक्ति, देखने की शक्ति, धैर्य, बुद्धि, मनन शक्ति, वेग, स्मरण शक्ति, संकल्प शक्ति, मनोरथ शक्ति, प्राण शक्ति, कामना शक्ति, इच्छाओं को वश में कर लेने की शक्ति इस प्रकार ये सब के सब स्वच्छ ज्ञान स्वरूप नाम अर्थात् उसकी सत्ता के बोध के लक्षण है। इन सबको ही मन, धारण करने की तथा तद्नुरुप परिवर्तन करने की अवस्था में होता है। अब उसके लिये दो ही मार्ग खुले होते हैं या तो वह पुनः लौटकर इस जगत को अपना लेवें या फिर - **"छिन्नहस्तवद्वा"** (सांख्य दर्शन - ४/७)। "कट गये हैं हाथ जिसके ऐसा रूंड रूप होकर अपने स्वरूप रुप को ही जान लेवें। अर्थात् अपने निःसंग रुप को प्राप्त कर लेवे जो परम तत्व या परम पुरुष ही कहा गया है तथा जिसे उपनिषद् वाणी में एवं सांख्य दर्शन अनुसार - **"निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगात्वदिश्रुतेः"** (सांख्य दर्शन - ६/१०)। अनुवाद - निर्गुण रूप आत्म तत्व को मन के क्रियात्मक स्वरूप को छोड़ कर आत्म तत्व में ही लीन हो जाने, जिसे श्रुति में - **"असंगोह्यं पुरुषः"** - आत्मा असंग है, कहा गया है। मन की यह अवस्था बाह्य जगत के विस्तार को छोड़कर उस बिंदु पर आ जाती है, जहां दूसरी और हृदयस्थ आकाश का या चिदाकाश का वह विस्तृत साम्राज्य होता है, जो विराट पुरुष की विराटता से सामाहित होता है। इस अवस्था को स्पष्ट करते हुए हम कहेंगे कि यह वह अवस्था होती है, जिसके एक ओर तो समस्त जगत है, सांसारिक ऐश्वर्य है और दूसरी ओर परम सत्ता का ऐश्वर्य है, जो अभी साधक को अज्ञात है। यह चुंबकीय छड़ के मध्य बिंदु वाली स्थिति होती है - मन की। इस निर्मल अवस्था में अर्थात् शांत और नीरव अवस्था में मन को उसी प्रकार परम तत्व को खोज लेना होता है आगे बढ़ते हुए जिस प्रकार कि हम अपने ही घर में किसी चूहे की टोह लेने के लिए शांत और एकाग्र चित्त हो जाते है। यही अवस्था साधक के मन को प्राप्त करना होती है और इस अवस्था को प्राप्त कर जिज्ञासु मन में इस प्रकार प्रयासरत् होने पर स्वतः ही साधक के अंतःचक्षु खुल जाते हैं और जिस प्रकार हम शांत होकर घर में ही छिपे हुए चुहे की आवाज सुन लेना तथा पकड़ लेने के लिये उसे देख लेना चाहते, उसी प्रकार नि[illegible]षय हुआ

साधक का मन परम तत्व की खोज में निकल पड़ता है। वह पंचतत्व के बंधन से मुक्त हो जाता है इस निर्मल अवस्था का वर्णन करते हुए संत कबीर द्वारा कहा गया है -

पंखि उड़ानी गगन को, पिण्ड रहा परदेस।
पानी पिया चंचु बिनु, भुलि गया यह देसु ॥

(साखी, परचा को अंग - २०)

यह साधक के निश्चल होने तथा मन के पञ्चतत्व तथा इनसे उत्पन्न तन्मात्राओं से जुड़ी इंद्रियों के बंधन से मुक्त होने की अवस्था होती है। अपने ही शुद्ध स्वरूप में स्थित होकर बुद्धि से जुड़ जाने की अवस्था होती है, जो कि परम तत्व से जुड़ना होता है। यह मन की विज्ञानमय कोष में प्रवेश करने की अवस्था होती है। मनोमय कोष के अन्तिम छोर पर मन के टिके होने की अवस्था होती है। इसके साथ ही देहाध्यास (देह भाव) पूर्णतः छूट जाता है और साधक का मन नीरवता में ही स्थित हो जाता है और इस नीरवता में ही उसे सुनाई देने लगता है चिदाकाश में सर्वत्र गुंजता हुआ नाद। यह नाद साधक द्वारा किये जाने वाले किसी प्रयास के बगैर ही गूंजता हुआ सुनाई देता है। अपने इस स्वरूप के कारण ही इसे अनाहत् (अन् + आहत्) नाद, या अनहद नाद कहा जाता है। इस अनहद नाद ध्वनि श्रवण का आश्रय लेकर टोह करती हुई अंतः दृष्टि आगे बढ़ती है। यह अंतर्मुखी हुआ मन जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे साधक के जागतिक आचरण में लक्ष्य के प्रति समर्पण भाव और दृढ़ता आ जाती है। वह दृढ़ता जो 'अंगद के पांव' के रूप में जानी जाती है, सभी के द्वारा और अनुभव कर ली जाती है, शक्तिशाली रावण रूप द्वारा भी। इस नाद श्रवण और टोह लेने के प्रयास में साधक का प्राण तत्व सुषुम्ना नाड़ी में स्वतः ही प्रवेश करता है, जो शरीरस्थ चित्त शक्ति के जागृत होने कारण बनती है। यहां तक कि यात्रा की परिपूर्णता के लिये तथा आगे के मार्ग को पूरा करने के लिये मार्ग दर्शक रूप में परम तत्व श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया है -

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ६/१७)

अनुवाद - 'दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथा योग्य आहार और विहार करने वाले का तथा कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वाले का और यथा योग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है'। साधक को तथा जिज्ञासु व्यक्ति को अपने जीवन में इसे आदर्श रूप में अपना लेना चाहिये। सुषुम्ना

नाड़ी में प्राण के प्रवेश की अनुभूति साधक को स्वतः स्वयं ही हो जाती है। यह अनुभूति शीतलता के आधार पर जानी जाती है मानों देव प्रयाग में स्थित भागीरथी और अलकनंदा के संगम में स्नान करने लगा हो कोई सचेतन व्यक्ति या कि केदारनाथ के घाट पर या बद्रीनाथ के घाट पर पयस्विनी भागीरथी या अलकनंदा में डुबकी लगा लेता है कोई। यह गोमुख पर पहुंच जाने जैसा है। यहां से आगे की यात्रा जटाधारी कल्याण स्वरूप शंकर को जान लेने जैसी होती है, जो अदृश्य है फिर भी प्रगट कर रहा है, भागीरथी को अजस्त्र प्रवाह रुप में। इस सुषुम्ना नाड़ी को ही हठयोग प्रदीपिका में -

सुषुम्ना शून्य पदवी ब्रह्म रंध्रं महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येक वाचकारः ॥

(३/४)

अर्थात् परम तत्व परावाक् रूप में अक्षर ब्रह्म का बोध कराने वाले इस सुषुम्ना पथ को - निराकार ब्रह्म के उपासक शून्य पदवी, सगुणोपासक ब्रह्मरंध्र, निर्वाण चाहने वाले भगवान बुद्ध के अनुयायी महापथ कामनाओं से रहित साधक श्मशान पथ अर्थात् अन्ततः जीव भाव के मर जाने का मार्ग, तन्त्र साधना को अपनाने वाले शिव एवं पार्वती को प्राप्त कर लेने कौं मार्ग तथा अन्य (शिक्षा विद् व्याकरण शास्त्र, तर्क शास्त्री) लोग ईड़ा और पिंगला नाड़ियों के मध्य में स्थित मध्य नाड़ी या मध्य मार्ग इस प्रकार यह सुषुम्ना नाड़ी अनेक नाम वाली है"। कहा गया है। इस सुषुम्ना नाड़ी के जागृत होने की अनुभूति होने पर साधक को नियत समय अवधि के लिये कामोपभोग से बच जाना चाहिये। यहाँ ओजस तत्व के अधोगामी प्रवाह को ऊर्ध्वमुखी कर लेना होता है। यह साधक के मूलाधार चक्र के जागृत होने की अवस्था होती है। कुंडलिनी चित्त शक्ति का निवास इसी स्थान पर है, सुषुम्ना स्वर की शीतलता इसे अपना स्थान छोड़ने को मजबूर करती है और बह चित्त शक्ति जो अभी तक भोग विलास में लगी होकर संसार के विस्तार कार्य में लगी हुई थी, जिसे कि संतों द्वारा नाग सर्प कुंडली रूप में दर्शाया जाकर इसे ढ़ाई चक्र युक्त स्वयं की पूंछ को निगलते हुए दर्शाया है। यह प्रतीकात्मक रूप से भोगवृत्ति को अपनाकर स्वयं को ही निगलते हुए दर्शाया है। इससे विमुख होकर यह चित्त शक्ति अपने स्व-स्वरूप में अर्थात् परम तत्व को प्राप्त कर उसमें ही लीन हो जाने के लिये ऊर्ध्वगति प्राप्त करती है। ऊर्जा का केंद्र सहस्त्रार चक्र की ओर अभिमुख होकर अपनी यात्रा पर चल पड़ती है, शीतलता से बचने के लिये। इस अवस्था में मूलाधार चक्र के जागृत होने से शरीर में व्याप्त जो ओजस तत्व है, वह जो अभी तक अधोगामी होकर इस नागरुपी चित्त शक्ति

का आहार बना हुआ था तथा स्खलित होकर बाहर निकल रहा था, वह अब उर्ध्वगति प्राप्त करता है। साधक की काम इच्छा बड़ती है यह मानो एक उर्ध्वमुखी पाईप में निम्न सिरे से उर्ध्व दिशा की ओर द्रव को चढ़ाने जैसा होता है। इस प्रक्रिया में निम्न बिंदु पर दाब बढ़ता है। अतः संयम अति आवश्यक हो जाता है।

इस अवस्था को प्राप्त कर - मन परम तत्व के प्रति समर्पित हो चुका होता है, अतः अब शरीरस्थ सभी क्रियाओं का नियंत्रण चित्त शक्ति के हाथों होता है। अतः ओजस तत्व का स्खलन भी मन या शारीरिक क्रियाओं के अधीन नहीं रह जाता है। इस अवसर पर विशेष सावधानी और संयम की आवश्यकता होती है। अतः साधक को कामोपभोग से बचना चाहिये। यह अवधि चंद्र कलाओं की ढ़ाई गुना अर्थात् चालीस दिन की होती है। कुण्डलिनी देवी को सर्पाकार ढ़ाई चक्कर दर्शाने का अर्थ ही होता है, चन्द्रमा की ढ़ाई कला अर्थात् चालीस दिवस। इस अवधि का पालन पुरुष एवं महिला साधकों दोनों के लिये अनिवार्य होता है। कुण्डलिनी देवी को सर्पाकार में अपनी ही पूंछ खाते हुए - दर्शाया जाता है, इसका प्रतीकात्म-अर्थ कामोपभोग द्वारा स्वयं को ही अन्ततः नष्ट करना होता है। यह सर्पाकार कुण्डलिनी देवी उर्ध्वगति प्राप्त कर चालीस दिन अवधि में पूर्णतः सहस्त्रार चक्र की ओर अग्रसर हो जाती है, मूलाधार चक्र को जाग्रत एवं पुष्ट कर के आगे बढ़ जाती है। **ब्रह्मचारी ब्रहम भ्राजद् विभर्ति** (अथर्ववेद ११/५/२४) ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान् ब्रह्म को धारण करता है। हमारे संत ऋषि इस नियम का शक्ति से पालन करते रहे हैं। स्वामी परम हंस श्री रामकृष्णदेव दीक्षा के उपरांत साधक को अपने आश्रम पर ही चालीस दिन के लिये रोक लेते थे। यह अवधि पुष्टिकारक होती है। जिस प्रकार सीमेंट से जोड़ी गई वस्तु या चुनी गई वस्तु पुष्ट होने पर या पक जाने पर निकाली नहीं जा सकती उसी प्रकार यह अवधि कुंडलिनी शक्ति को या चित्त शक्ति को उर्ध्वगामी बना देती है। इसके पश्चात् साधक के मन की स्थिति शरीरस्थ इंद्रियों से पृथक् होकर बुद्धि और अहं तत्व से जुड़ जाती है और जिस प्रकार विद्वान या बोध सम्पन्न व्यक्ति सामान्य जन सभा का आभूषण होता है किंतु वह सामान्य जन भी बना रहता है, उसी प्रकार साधक रहकर भी सामान्य गृहस्थ बना रहता है। किंतु यदि साधक पुनः भोग से जुड़ता है, तो यह उसके अधोपतन का कारण बनता है। यह आकाश में उड़ते हुए पक्षी को मार कर नीचे गिरा लिये जाने जैसा होता है। जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर ने कहा है -

"कबीर मन पंखी भया, उड़िकै चढ़ा अकासि ।
उहाँ ही तै गिरि पड़ा, मन माया के पासि ॥"

(कबीर साखि - मन का अंग - २५)

अनुवाद - "कबीर कहते है कि मेरा मन पक्षी के समान उड़कर ऊपर चिदाकाश में पहुंच गया था किंतु वहां से पुनः सांसारिक माया में आकर्षित होकर बाह्य सांसारिक धरातल पर गिर पड़ा ।" सावधान करते हुए आगे कबीर ने कहा है -

"मना मनोरथ छांड़ि दे, तेरा किया न होई ।
पांनी में घी नीकसै, तौ रूखा खाई न कोई ॥"

(कबीर साखि - मन का अंग - २९)

अनुवाद - "हे मन, तू अपने मनोरथों को छोड़ दे, अब तेरे चिंतन के अनुसार दोनों ही तत्व प्राप्त नहीं किये जा सकते अर्थात् तू संसार का भोग करता हुआ यह चाहे कि परम तत्व की प्राप्ति हो जावे तो यह उसी प्रकार संभव है, जिस प्रकार कि यदि पानी में से घी निकाला जाना संभव होता तो रूखा (बगैर घी का) भोजन कोई नही करता ।" इस प्रकार कबीर द्वारा सांसारिक सुखों को रूखा-सुखा भोजन तथा परम तत्व की प्राप्ति को स्नेहयुक्त षड़रसमय आहार ही बता दिया गया है साधकों के लिये । इस अवस्था कि कठिनाई को व्यक्त करते हुए आचार्य गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है -

"रघुपति भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ॥"

(विनय पत्रिका - १६७)

अनुवाद - "श्री रघुवीर की भक्ति करने में बड़ी कठिनता है । कहना तो सहज है पर उसका करना कठिन है । इसे वही जानता है, जिससे वह करते बन गई ।" यदि साधक संयम को दृढ़ता से धारण कर, अपनाकर, ढ़ाई चंद्रकला अवधि को पार कर लेता है, तो वह ओजस तत्व को उर्ध्वगामी बना देता है और जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष रूप से देखते है कि बड़े से बड़े सीमेंट - कांक्रीट के बांध बना दिये जाकर नदी का संपूर्ण प्रवाह रोक लेने के उपरांत भी रिसन द्वारा नदी में जल के प्रवाह की गति बारहमासी बन जाती है । बांध के अभाव में यह संभव था कि वह नदी ग्रीष्म के आतप में सुख जावे किंतु अब वह सदैव ही प्रवाह युक्त बनी रहती है, वही अवस्था प्राप्त कर लेता है साधक । हमें हमारे प्राचीन काल के सभी ऋषियों के गृहस्थ जीवन को इसी आधार पर जान लेना चाहिये । यदि साधक दृढ़ता का परिचय देता है संयम और धैर्य को अपना लेता है, तो वह उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जिसका वर्णन

करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में सद्गुरु श्रीकृष्ण द्वारा वर्णन किया जाकर सबल शिष्य अर्जुन को समझाया गया है :-

" नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वंस्पृशञ्जिघ्रन्नऽश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(५/८-९)

अनुवाद - 'तत्व को जानने वाला साधक देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वांस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और पलकों को गिराता हुआ भी सब इंद्रियां अपने-अपने अर्थों में बर्त रही है, इस प्रकार समझता हुआ निःसन्देह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूं ।'' प्राचीन तत्ववेता मनीषियों द्वारा बताई गई संखिनी नाड़ी को मानव मस्तिष्क से निकली होकर सीधे जननेन्द्रिय द्वार तक गई होती है, इसके द्वारा यह ओजस तत्व उर्ध्वगति प्राप्त कर सीधा परमतत्व की ओर उन्मुख हो जाता है । अतः सतत सावधानी व संयम आवश्यक होता है । यह अंतर्यात्रा अदृश्य जगत की होती है किंतु इसका अनुभव तथा मार्ग पर आगे बढ़ने की जानकारी साधक को पग-पग पर मिलती है तथा स्वयं चित्तशक्ति ही इससे अवगत कराती हुई चलती है । यह अवस्था स्मृति को पुष्ट करने का कार्य करती है, जो कि लक्ष्य होता है जीव तत्व का अपने स्व-स्वरूप को स्मरण करके जान लेना ही और ओजस तत्व का उर्ध्वमुखी होना, इस स्मरण शक्ति का आधार होता है । कुंडलिनी शक्ति के जागृत होने तथा उर्ध्वगति प्राप्त करने की क्रिया स्वतः ही होती है तथा इसके साथ ही मूलाधार चक्र जागृत होने की अनुभूति भी साधक को स्वतः ही हो जाती है । यह चित्त शक्ति ही इसका बोध करा देती है । इसे जानकर साधक की अवस्था नई-नवेली दुल्हन की तरह हो जाती है और जिस प्रकार प्रियतमा अपने प्रियतम को प्राप्त कर सर्वत्र प्रेम की, स्नेह की, सानिध्य की, आलिंगन की, अनुभूति करती है वहीं अवस्था साधक की हो जाती है । हमें इस आधार पर ही साधक की मानसिक अवस्था और प्रगट जगत की दिनचर्या को जान लेना चाहिये । इस अवस्था को प्राप्त कर साधक के सभी कर्म परम तत्व को ही समर्पित हो जाते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित अवस्था -

"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

(१२/१८-१९)

अनुवाद - "शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिक द्वंद्वों में सम है और संसार में आसक्ति से रहित है। तथा जो निंदा स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है एवं जिस किस प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मेरे को प्रिय है।" को ही साधक को आदर्श अपना लेना चाहिये। इस अवस्था को प्राप्त करके भी साधक के मन में अहंकार अर्थात् देह से बंधी हुई अहंः तत्व की भावना बची रहती है। चूंकि साधक का अहंकार (देह भाव बोध) परम तत्व की साक्षात् अनुभूति या साक्षात्कार के बाद ही मरता है, श्मशान अवस्था को प्राप्त करता है - महर्षि मनु का कथन है -

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्टा निवर्तते ॥

(महाभारत शांति पर्व - २०४/१६)

अनुवाद - इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने (निराहार - विषयों का) से साधक के वे विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनकी आसक्ति बनी रहती है। परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर साधक की वह आसक्ति भी दूर हो जाती है।"

अतः यहाँ आकर भी समर्पण की ही आवश्यकता होती है, परम तत्व के प्रति। साधक को अपने सभी कर्मों को परम तत्व के प्रति समर्पित कर देना चाहिये। जिसकी अपेक्षा करते हुए परम तत्व श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है -

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - ९/२७)

अनुवाद - "हे अर्जुन, तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरण रूप तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर।" यदि साधक इन्हें अपने जीवन में अपना लेता है

तथा आचरण में उतार लेता है, तो वह प्रत्यक्षतः स्वयं यह अनुभव कर लेता है जिसका वर्णन करते हुए - उपनिषद् वाणी में कहा गया है -

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥"

(मुण्डकोपनिषद् - ३/१/१)

अनुवाद - एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखा भाव रहने वाले दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के सुख-दुःख रुपी कर्म फलों का स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। साधक अपने सूक्ष्म शरीर का बोध प्राप्त कर लेता है तथा उसका मन विज्ञानमयकोष में प्रवेश करके अर्थात् पश्यन्ती वाक् अवस्था में प्रवेश करता है।

इस अवस्था को प्राप्त करके साधक के प्रगट जगत में उसके चिंतन और काम करने के ढंग में तथा व्यवहार में परिवर्तन हो जाता है। साधक के मन की यह अवस्था अन्य बोध प्राप्त साधकों या विकसित मनः व्यक्तियों द्वारा उसे देखकर या मिलकर स्वतः ही जान ली जाती है साधक मन की विशुद्ध अवस्था को ही प्राप्त कर लेता है। जिसका वर्णन करते हुए मैत्री उपनिषद् में कहा गया है -

"मनस्तु द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसम्पृक्तं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥"

अर्थात् मन उभयात्मक होकर दो स्वरूप धारण करके रहता है, एक शुद्ध स्वरूप और एक अशुद्ध स्वरूप अर्थात् विकार को ग्रहण करने वाला। विकारयुक्त मन कामनाओं के वशीभूत होकर संसार से जुड़ता है और शुद्ध अवस्था को प्राप्त मन सभी कामनाओं से परे रहता है। इस अवस्था को प्राप्त किया गया मन एक ही हो जाता है, जो तत्व रूप में मन ही कहा गया है, यजुर्वेद में जो वर्णित किया जाकर संकल्प सूत्रों में अभिव्यक्त हुआ है। मन की इस अवस्था को प्रगट करते हुए हम कहेंगे कि यह अवस्था उस चुम्बकीय छड़ के मध्य बिंदु जैसी होती है, जिसके एक ध्रुव पर तो समस्त जगत होता है, प्रतिनिधित्वि करता हुआ दक्षिणी ध्रुव का और दूसरा ध्रुव जो कि उत्तर ध्रुव होकर शेष बचता है, वह होता है परम तत्व का विराट जगत ही। यही दो अवस्थाएं श्रीमद्भगवद्गीता में उत्तरायण तथा दक्षिणायन के रूप में वर्णित की गई है। यह अन्तर्मुखी या उर्ध्वमुखी हुआ मन ही उत्तरायण होता है अपने वास्तविक अर्थो में। (देखिये १२.१-१२ व १२.४-४)। हृदयस्थ वैश्वानर अग्नि - "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिणां देहमाश्रितः (श्रीमद्भगवद्गीता

- १५/१४) प्रत्यक्ष रूप से इस भुवन के स्वामी आदित्य देव से जुड़ी होकर परम तत्व का प्रतिरूप होकर जीवन का आधार होती है। (छांदोग्योपनिषद् में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है - ४/१५/५ दृष्टव्य) इस अवस्था को प्राप्त मन इस चुंबकीय छड़ के मध्य बिंदु पर स्थित होता है। इस अवस्था को प्राप्त साधक की अवस्था वह ही हो जाती है, जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर कहते हैं -

''कै बिरहिन कौं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।

आठ पहर का दाझनाँ, मोपै सहा न जाइ॥''

(कबीर साखी-विरह को अंग - ३५)

यह अवस्था अभिव्यक्ति से परे है अतः इसका अनुवाद न किया जाकर मूल रूप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है। साधक स्वयं ही इसे अपने अनुभव से समझे यह ही श्रेयस्कर है। इस अवस्था को प्राप्त साधक के शरीर संयंत्र में स्वतः विविध क्रियाएं होने लगती हैं मानों किसी लंबी यात्रा पर निकलने के पूर्व हम अपने वाहन को चुस्त-दुरूस्त अर्थात् ठीक-ठाक कर रहे हों। साधक के शरीर में स्वतः ही योगासन प्रगट होने लगते हैं अतः इन सब के लिये मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। साधक को संत आचार्य तुलसीदास द्वारा अभिव्यक्त की गई भावना -

''अबलो नसानी, अब न नसेहों।

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसेहों॥

(विनय-पत्रिका - १०५)

को ध्येय रूप में अपना लेवें, और चूंकि यहां आकर पुनः पीछे लौटने की अर्थात् जागतिक धरातल पर मन के जुड़ जाने की पूरी संभावनाएं होती है। अतः यहाँ पहुँचकर आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा अभिव्यक्त की गई मन की अवस्था -

''मनोरथ मनको एकै भांति।

चाहत मुनि-मन-अगम सुकृत-फल, मनसा अघ न अघाति॥

(विनय-पत्रिका - २३३)

अर्थात् 'मन का मनोरथ भी विलक्षण ही प्रकार का है, यह इच्छा तो करता है, ऐसे पुण्यों के फलों की जो मुनियों के मन को भी दुर्लभ है, किंतु पाप करने से भी उसकी इच्छा कभी पूरी नही होती हैं' को स्मरण रखना चाहिये। यह अवस्था चित्त शक्ति के सुषुम्ना द्वार में प्रवेश करने की होती है अतः जैसा कि पूर्व में प्रगट किया गया है, दृढ़ता की आवश्यकता ही यहां होती है। यदि साधक परम तत्व को ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना लेता है

और परम तत्व के प्रति ही समर्पित हो जाता है, तो उसे परम तत्व को जानने के लिये आचार्य गोस्वामी तुलसीदास की भांति उन्हें ही अपना एकमात्र नियंता मान लेना चाहिये जैसा कि तुलसीदासजी ने कहा है :-

"यह बिनती रघुबीर गुसाई ।

और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई ॥

(विनय-पत्रिका -१०३)

भावार्थ - " हे रघुनाथ जी ! हे नाथ ! मेरी यही विनती है कि इस जीव को दूसरे साधन, देवता या कर्मों पर जो आशा, विश्वास और भरोसा है, उस मूर्खता को आप हर लीजिये ।" यह समर्पण एवं दृढ़ता का भाव ही साधक को इस मध्य बिंदु से पार करने वाला होता है । आत्म तत्व को जानने के लिये पुष्ट शरीर आवश्यक होता है । उपनिषद् वाणी में भगवती श्रुति देवी का कथन है - **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो"** (मुण्डकोपनिषद् - ३/२/४) - यह आत्म तत्व बलहीन व्यक्ति को जानने को नहीं मिलता है । अतः साधक को आरम्भ से ही अपनी दिनचर्या में श्रम के साथ ही व्यायाम और योगासन को (जीवन में) अपना लेना चाहिये ! हमें इस आधार पर ही प्राचीन भारतीय जीवन में खेलों के महत्व तथा शिक्षण की अखाड़ा पद्धति अर्थात् आश्रम पद्धति को जान लेना चाहिए । योगासन के लिये हम इतना भर बताना चाहेंगे कि सभी योगासन शरीर की महज धारणा शक्ति अनुसार करना चाहिये, कोई स्थिति विशेष तत्काल प्राप्त हो यह प्रयास नहीं करना चाहिये । अभ्यास से ही शरीर में नम्रनीयता तथा पुष्टता लाना चाहिये तथा सर्वाधार रुप में स्मरण रखना चाहिये कि जब-जब भी शरीर का संकुचन होता है, शरीर सिकुड़ता है, तब-तब प्राण वायु बाहर रहना चाहिये, बाहर छोड़ना चाहिये तथा शरीर में खिंचाव या तनाव यथा ताड़ासन करते समय प्राण वायु को संग्रहित करना चाहिये अन्दर भरना चाहिये तथा सहजावस्था ग्रहण करते समय विराम को स्तम्भन को अपनाना चाहिये । प्राणायाम की रेचक और कुंभक अवस्थाओं को छोड़कर योगासन करते समय श्वास-प्रश्वास को सामान्य रुप से होते रहने देना चाहिये । यह ही सहज प्रणाली है योगासन करने की । सर्वांगीण उपाय और समर्पण भाव ही सहायक होता है, साधक के लिये । एक बार इस बिन्दु को पार करने पर साधक का मन विज्ञानमय कोष में प्रवेश कर जाता है और नन्हीं चुम्बकीय सुई के उत्तरी ध्रुव के आकर्षण की भाँति तत्काल ही परम तत्व के अदृश्य जगत से जुड़कर परम तत्व के रहस्यों का बोध प्राप्त करने लगता है । फिर आगे की यात्रा मन स्वतः और स्वयं ही करता है, जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर कहते है -

पहिले यह मन कागथा, करता जीवन घात।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुगी-चुगी बात॥

आगे की सभी अवस्थाएँ अनुभव का विस्तार लिये होती हैं, जिन्हें नैति-नैति कहा जाता है और जो वर्णन की सीमा से परे है - अतः इस अवस्था के प्राप्त होने पर या इन लक्षणों के अनुभव किये जाने पर देह धारी सतगुरु का सानिध्य प्राप्त कर उनका परामर्श लेना चाहिये। क्योंकि आगे का समस्त वर्णन निराकार से जुड़ा होने के कारण अध्यात्म है और इस अध्यात्म को प्रगट करने के लिये भगवती श्रुति का अनुशासन है -

''अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्।
उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् संधिः।
जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम्।''

(तैत्तरियोपनिषद् - १/३/५)

अनुवाद - अब आत्मविषयक संहिता का अनुशासन करते हैं। नीचे का जबड़ा अर्थात् होंठ पूर्व रुप है, ऊपर का जबड़ा अर्थात् ओष्ठ उत्तर रूप है, वाणी संधि है, जिह्वा संधानम् अर्थात् लक्ष्य को प्रगट करने का माध्यम और साधन है। इति,इस प्रकार यह अध्यात्म संहिता कही जाती है। ॥ॐ॥

सद्गुरु साधक को अवश्य ही वह संकेत बता देंगे तथा अपना सानिध्य प्रदान करेंगे जो कि आवश्यक होते हैं, तैरना सीख लेने के लिये या कि किसी घोड़े को अर्थात् नये बछड़े को सवारी के लिये तैयार करने के लिये। इस संबंध में भगवती श्रुति का यह मार्गदर्शन है कि -

''आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति।''

(छांदोग्योपनिषद् - ४/९/३)

अनुवाद - 'आचार्य से जानी गई विद्या ही उत्कृष्टता को प्राप्त होती है'। इस संबंध में श्रुति का निर्देश है कि आचार्य जिज्ञासु साधक को अवश्य ही वह जानकारी देवेंगे। इसका वर्णन करते हुए भगवती श्रुति कहती है -

''यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम।''

(प्रश्नोपनिषद् - १/१/२)

अनुवाद - 'यदि मैं जानता होऊँगा तो निःसन्देह वे सब बातें तुम लोगों को बताऊँगा' साधक को धैर्य को अपनाते हुए यह विद्या प्राप्त कर लेना चाहिये। जिस प्रकार कि छांदोग्योपनिषद् में वर्णित विवरण अनुसार असूरों के राजा विरोचन तथा देवताओं के राजा इंद्र द्वारा यह विद्या आचार्य के पास जाकर प्राप्त की गई है। यदि हम विरोचन का अनुसरण करेंगे तो मिलने वाला ज्ञान

अधूरा ही रहेगा और यदि इंद्र के अनुयायी बनकर धैर्य को धारण करेंगे तो अवश्य ही पूर्णता को प्राप्त कर लेगें और पूर्णता को जानकर पूर्ण ही हो जावेंगे । हमारा मार्ग दर्शन करते हुए सद्गुरु श्रीकृष्ण द्वारा उपदेश दिया गया है -

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ४/३४)

अनुवाद - उस ज्ञान को तू तत्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भली-भाँति दंडवत्-प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्व को भली-भाँति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्व ज्ञान का उपदेश करेंगे ।" यदि निर्मल मन होकर हम यह प्रयास करेंगे तो संत स्वभाव सद्गुरु अवश्य ही वह बता देगें जिसके बारे में कि गोस्वामी तुलसीदास जी स्पष्ट ही कहते हैं -

"गूढऊ तत्व न साधु दुरावहिं । आरत अधिकारी जहँ पावहिं ॥"

(श्रीरामचरित्मानस - १/११०/३)

मात्र आवश्यकता होती है हमें पात्र बनने की । हमें स्मरण रखना चाहिये कि सजातीय द्रव्य सजातीय में ही मिलता है और सजातीय होने पर सहज ही सानिध्य में पहुंच जाता है ।

१५.२-२ यह भगवति आह्लादिनी चित्त शक्ति के जागरण की अवस्था है । इसके लिये वे सभी सुविधाएं और आवश्यकताएं जुटा लेना चाहिये जो हम नवांकुरित हुए पौधे के लिये उपलब्ध कराते हैं या कुल वंश को बढ़ाने वाली कुल वधू के लिये जुटा लेते हैं । यह अवस्था प्रणवाक्षर रुप राजपुरुष के राजमहल के द्वार पर पहुंचना है । यहां आकर अंतः श्रवण या अनहद् नाद के साथ-साथ पश्यंती अर्थात् अंतः चक्षु का सहारा लेकर साधक को मूल तत्व अर्थात् आत्म तत्व या परम तत्व या ब्रह्मानुभूति तक पहुंचना होता है । जिसका वर्णन करके हुए संत कबीर कहते हैं -

अंतर कंवल प्रकासिया, ब्रह्मवास तहँ होई ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया, जानैगा जन कोई ॥

इस यात्रा में अंतःचक्षु के लिये अनहद् नाद संकेत होते हैं और अंतःचक्षु द्वारा किये जाने वाला दृष्टिबोध स्वयं आगे बढ़ने वाला अश्व बन जाता है और साधक स्वयं साक्षी स्वरूप अश्वारोही ही होता है । इस यात्रा में विविध नाद ही बाधाएं या विश्राम स्थल हैं या मार्ग की दूरियां हैं । इन्हें

क्रमशः षटचक्रों के रुप में पार करते हुए मूल तत्व को पकड़ लेना होता है, जो स्वयं प्रकाशपुंज है, ज्योतिषमान् बिंदु है, ऊर्जा का अजस्त्र स्रोत है। इन ज्योतिषमान् स्वरूप के दर्शन के साथ ही अनहद् नाद विलीन हो जाता है। और वाणी अर्थात् वाक् से परे परावाक् स्वरूप परम तत्व ही दृष्टिगोचर होता है और साधक वह स्थिति प्राप्त कर लेता है जिसका वर्णन ...ते हुए संत शिरोमणि सूरदास ने कहा है -

अविगत अकल अनुपम देखा ...

अविगत गति कछु कहत न आवै।

ज्यो गूंगे फल को रस अंतरगत ही भावै॥

परम स्वाद सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।

मन वाणी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै॥

तथा आचार्य संत गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है -

"सहज प्रकास रुप भगवाना। नहिं तहं पुनि विग्यान विहाना॥"

(श्रीरामचरित्मानस - १/११६/६)

और जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर कहते हैं -

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।

कहिने को सोभा नहीं, देखे ही परमान॥

(साखी परचा को अंग - ३)

परम तत्व का दर्शन करके अंतः चक्षु भी सहस्त्रों सूर्य को चमकता हुआ पाकर चौंधिया जाते हैं दृश्य - क्षमता अशेष हो जाती है। साधक उस वैश्वानर स्वरूप का ही दर्शन कर लेता है, जिसे बताते हुए श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है -

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १५/१४)

अनुवाद - मैं ही वैश्वानर अग्नि रूप होकर सभी प्राणियों के देह में स्थित होकर रहता हूं। साधक को परम तत्व के इस शुद्ध स्वरूप को जानकर स्वयं ही कहना पड़ता है -

"अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ११/४५)

अनुवाद - पहले न देख हुए आश्चर्य मय आपके इस स्वरूप को देखकर हर्षित हो रहा हूं (मैं) मेरा मन भय से अतिव्याकुल भी हो रहा है, हें देव उस अपने

सामान्य स्वरूप को ही मुझे दिखाईये। हे देवेश, हे जगन्निवास प्रसन्न होईये। और साधक परम तत्व के उस अक्षर स्वरूप का बोध प्राप्त कर लेता है, जिसका वर्णन करते हुए कर्मपुरुष शिष्य अर्जुन द्वारा कहा गया है -

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण - स्त्वयस्य विश्वस्य च परं विधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - ११/३८)

अनुवाद - आप आदिदेव और सनातन परमपुरुष है, आप इस जगत के परम आश्रय और जानने वाले तथा जानने योग्य एवं परमधाम है। यह समस्त जगत आपके ही अनन्त रूपों से व्याप्त और परिपूर्ण है।.और कहा है -

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशनवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - ११/१९)

अनुवाद - "आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त भुजाओं वाले, चन्द्रमा और सूर्य रुप नेत्रों वाले, प्रज्जवलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेज से इस जगत को तपाते हुए अर्थात् भयाक्रांत करते हुए देखता हूँ।" की स्वानुभूति प्राप्त कर लेता है। परम शांति और अभय पद की प्राप्ति कर लेता है।

१५.२-२ (१) यह पश्यंती वाक् से आगे बढ़कर मूल रूप परा स्वरूप को, परात्पर रूप का साक्षात्कार कर लेना है! आत्म बोध प्राप्त कर लेना है। जिसे जानकर साधक कर्म को ही अपना लेता है, अपने शेष जीवन में। वह **"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि"** (श्रीमद्भगवद्गीता ३/१५) अनुवाद - "कर्म की उत्पत्ति कर्ता पुरुष से हुई है।" को जान लेता है और यह जानकर कर्म को अपनाते हुए वह कर्म के बंधन से पूर्णतः मुक्त हो जाता है वह स्व-स्वरूप को जानकर कार्य-कारण सिद्धांत से परे चला जाता है। इस परम तत्व का वर्णन करते हुए श्रुति देवी कहती है -

"न तस्य कश्चित् तिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥"

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् - ६/९)

अनुवाद - "लोक में उसका कोई स्वामी नहीं है, न कोई शासक या उसका कोई चिह्न ही है। वह परम कारण है और समस्त कारणों के अधिष्ठाओं का भी अधिपति है और न कोई उसके जनक है और न स्वामी ही है।"

इस साक्षात्कार किये गये परम तत्व के स्वरूप को प्रगट करते हुए आगे भगवती श्रुति देवी कहती है -

"न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥"

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् - ६/१४)

अनुवाद - "वहां न तो सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा और तारागण ही । और न ये बिजलियां ही प्रकाशित होकर चमकती हैं फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है । उसके प्रकाशित होने पर ही ये सब प्रकाशित होते हैं और उसके प्रकाश से ही यह संपूर्ण जगत प्रकाशित होता है"। इस ज्योतिष्मान् अक्षर ब्रह्म परम तत्व को जो प्रगट होकर ब्रह्म रूप में भासता है यह अपनी अनुभूति कराने के बाद ज्योतिष्मान् बिंदु रूप में ही जुड़ जाता है, साधक के जीवन के साथ और स्थिर हो जाता है चिदाकाश में ही ।

यह साधक द्वारा नित्य ही साधना के क्रम में देखा जाता है स्फुरण युक्त ज्योति बिंदु रूप में जो कि ध्यान बिंदु रूप में जाना जाता है । यह ध्यान बिंदु प्रकाश रूप देखा जाता है, जिसका वर्णन करते हुए भगवती श्रुतिदेवी इशावास्योपनिषद् में हमें बताती है -

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

अनुवाद - "वे चलते है व नहीं चलते है, वे दूर से भी दूर है", वे अत्यन्त समीप हैं, वे इस समस्त जगत के भीतर परिपूर्ण हैं और वे इस जगत के बाहर भी हैं ।" साधक इसी परम तत्व का नित्य साक्षात्कार करता है और जुड़ जाता है, पुराणों में वर्णित विष्णु भक्त नारद ऋषि की भांति अपने आराध्य से ही । व्यक्तित्व अवधारणा के आधार पर इस परम तत्व का कोई स्वरूप नहीं होता है -

"न स्त्री न पुमान नापि नपुसंक च न सन्न चासत् सदसच्च तन्न ।"

(महाभारत शांति पर्व - २०१/२७)

अनुवाद -"वह न तो स्त्री है और न नपुंसक ही है । न सत् है न असत् है और न सदसत् उभय रूप ही है"। यह मात्र ज्योति रूप होता है । प्रकाशमान होता है ।

(२) इस साक्षात्कार में कितना समय लगता है यह काल पुरुष की विराटता और क्षण भर के विराट स्वरूप का बोध अनुभवगम्य होकर भी अभिव्यक्ति से परे होता है ।

इसे जान लेने में श्रीराम भक्त संत गोस्वामी तुलसीदास जी का यह कथन हमारी मदद करता है -

'रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन विधि होई''

(श्रीरामचरितमानस / १/१९५)

स्पष्ट है समय की न तो गणना की जा सकती है और न अभिव्यक्ति ही।

१५.२४ (१) यह बोध प्राप्त कर साधक परम तत्व को जानकर परम तत्व ही हो जाता है - ब्रह्म वेद ब्रह्मेव भवति ( ) ''जानत तुमहीं तुमई होई जाई'' (श्रीरामचरित् मानस - २/१२७/३)। और वह साधक - राम ते अधिक राम कर दासा (श्रीरामचरित्मानस) बन जाता है। साधक परम शांति - ''परां शांति'' (श्रीमद्भगवद्गीता - १८/६२) रूप सहज अवस्था को प्राप्त कर लेता है। वह परमहंस रामकृष्ण देव की भांति मां भगवती काली की आराधना करता हुआ स्वयं अपने मस्तक पर ही पुष्प चढ़ाने लगता है या संत कबीर के रूप में गाता है -

''मेरा मन सुमिरै राम को मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावों काहि॥''

और वह जीवन में अपना लेता है, अपने कर्म को जिसे प्रगट करते हुए संत कबीर ने कहा है -

''साधो, सहजसमाधि भली।
कहूँ सो नाम, सुनु सो सुमिरन, जो कुछ करूं सो पूजा।
गिरी उद्यान एक सम देखूं, भाव मिटाऊ दूजा।
जहाँ जहाँ जाऊँ सोई परिक्रमा, जो कुछ करूं सो सेवा।
जब सोऊं तब करू दंडवत्। पूजूं और न देवा।
साधो सहज समाधि भली। साधो। साधो ....।

साधक आत्मरूप ही हो जाता है, जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर कहते हैं -

कबीरा मन मिरकत भया, दुर्बल मया शरीर।
पाछे लागे हरि फिरे, कहै कबीर कबीर॥

(साखी जीवन मूलक को अंग - २)

(२) और साधक सर्वत्र समदर्शी हो जाता है, वह स्व-स्वरूप को ही जान लेता है, जिसे आचार्य शंकर ने प्रगट किया है निम्न षटपदी में -

"मनोबुद्धयहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥ १ ॥
न च प्राणसंज्ञो न वै पंचवायुर्न वा सप्तधातुर्न वा पंचकोशः ।
न वाक्पाणिपादं न चोपस्थपायुश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥२॥
न मे द्वेषरागो न मे लोभमोहो मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥३॥
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मंत्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता श्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥४॥
न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता च जन्म ।
न बंधुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥५॥
अहं निर्विकल्पो निराकाररूपौ विभुर्व्याप्यि सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि ।
न चासंगतं नैव मुक्तिर्न मेयश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥६॥

(श्री शंकराचार्य कृत - निर्वाण षटपदी)

मैं मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त स्वरूप नहीं हूँ, और मैं न कान और जिह्वा हूँ और न मैं नासिका और चक्षु ही हूँ। न मैं पञ्च महाभूत रुप आकाश और भूमि न अग्नि और वायु ही हूँ । मैं शाश्वत आनन्नस्वरूप कल्यागकारी शिव स्वरूप हूँ। मैं कल्याणकारी शिव स्वरूप हूँ। ॥१॥

और न मैं प्राण अर्थात् चेतन प्राणी की संज्ञा से युक्त शरीर हूँ, न इस गरीर का आधार पंच प्राण और सप्त धातु ही हूँ, और न पांच कोष ही हूँ।न मैं पाँच कर्मेन्द्रिय रुप वाणी, हाथ और पैर हूँ, न उपस्थ और प्रजनन का आधार हूँ। मैं शाश्वत आनन्द स्वरूप कल्याणकारी शिव स्वरूप हूँ। मैं कल्याणकारी शिव स्वरूप हूँ ..२॥

न मैं राग और द्वेष हूँ, न लोभ, मोह, मद रूपी षड्विकार हूँ, न मैमात्सर्य (घृणा, द्वेष या ईर्ष्या) भाव ही हूँ, मैं चारों पुरुषार्थ स्वरूप न धर्म हूँ, न अर्थ हूँ, न काम हूँ, न मोक्ष ही हूँ। मैं शाश्वत कल्याणकारी आनदरूप शिव स्वरूप हूँ। मैं कल्याणकारी शिव स्वरूप हूँ ॥३॥

न पुण्य हूँ, न पाप हूँ, न सुख हूँ, न दुःख हूँ, न तीर्थ हूँ, न चारोवेद और वेदाङ्ग हूँ, न विविध प्रकार के यज्ञ ही हूँ। न मैं भोजन हूँ, न भोज सामग्री हूँ, न भोक्ता ही हूँ। मैं शाश्वत कल्याणकारी आनन्दरूप शिव स्वरू हूँ। मैं कल्याणकारी शिव स्वरूप हूँ ॥४॥

मैं न तो मृत्यु को प्राप्त होने वाला हूँ, न इससे जुड़ी जन्म और पुनर्जन्म की शंका का कारण ही हूँ, न मेरा कोई जाति भेद या वर्ण भेद और लिङ्ग भेद ही है, न मैं पिता हूँ और न माता ही हूँ और न मेरा जन्म ही होता है। न मेरा कोई बन्धु या परिवार ही है, न कोई मेरा मित्र है, न कोई गुरु और न कोई शिष्य ही है। मैं शाश्वत कल्याणकारी आनन्दरूप शिव स्वरूप हूँ। मैं कल्याणकारी शिव स्वरूप हूँ ॥५॥

और न मैं साथ में नहीं जाने वाला हूँ और न मैं मुक्ति स्वरूप हूँ, न जानने योग्य ही हूँ। मैं निर्विकल्प हूँ निराकार स्वरूप हूँ। मैं सभी इन्द्रियधारी प्राणियों का स्वामी और सर्वत्र व्याप्त होकर सर्वरूप हूं। मैं शाश्वत कल्याणकारी आनन्दरूप शिव स्वरूप हूँ। मैं कल्याणकारी शिव स्वरूप हूँ।

(३) और इस परम तत्व को जानकर साधक निकल पड़ता है, परम तत्व का ही गुणगान करने के लिये घोषणा करता हुआ। - ॥ ॐ॥

जान लिया है मैंने, उस कलाकार को,
टूट गये है भ्रम सभी, और भाग गया है भय।
अब जाता हूं अकेला भीड़ में, और
झेलता हूं जीवन के झंझावातों को।
देखता हूं प्रकाश चहुं ओर, जो
आलोकित है, हर कर्म में, और हर जीव में।
गा रहा हूं, मैं, गीत उसका, हर
जन्म, विवाह और मृत्यु के समारोह में।
फूट पड़ी है अजस्र वाणी, गा रहा हूं
गीत मैं हर समारोह में और हर श्वांस में।
गाओ रे गाओ, गीत उसके गाओ,
प्रत्येक कर्म में, लेखन में, और गान में।
गाओ रे गाओ, गीत उसके गाओ
गाओ रे गाओ -
गीत उसके गाओ -।

१५.२५ (१) इस साक्षात्कार के संबंध में हम कहना चाहेंगे कि अक्ष ब्रह्म का, परम तत्व का यह जाज्वल्यमान स्वरूप ही निराकार रुप में साधक को साक्षात्कार होता है। यह साधक की भावना से बंधकर अपने साकार लीला रूप में प्रगट हो जाता है। साधक के समक्ष अपने अस्तित्व का साका बोध कराने या समस्त संशय को समाप्त करने के लिये स्वयं ही परम तत्व का ज्योर्तिमय लीला पुरुष का प्रागट्य हेतु एकमेव रूप होता है - साकार स्वरूप

योगेश्वर श्रीकृष्ण का। यह परम तत्व स्वयं ही अपनी स्वाभाविक इच्छा से बंधा हुआ कहीं अपनी छबि दिखाता है बाल रूप में - **"वटस्य पत्रस्य पुटे शयानम्।"** कहीं होठों पर बांसुरी लिये गो सेवक ग्वाले के रुप में, तो कहीं मन मोहक बांसुरीधारी युवा छबि के रूप में तो कहीं लीला कर्ता स्वरूप में स्वयं ही मुस्कराता हुआ बांसुरी धारण किये आ खड़ा होता है, एक दम सामने अपने विराट स्वरूप में जिसे देखकर साधक - **"सगद्गदं भीतभीतः"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ११/३३) आनंद से गद्गद् एवं भय से भयभीत होकर अपने जीव अंश होने का बोध करते हुए भय और मन की व्याकुलता - **"भयेन च प्रव्यथितं मनस्य"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ११/४५) अनुभव करके सानिध्य को समेट लेता है और पुनः इस जागतिक धरा पर लौट आता है और परिणाम स्वरूप प्राप्त कर लेता है परम शांति "परां शांतिं" (श्रीमद्भगवद्गीता - १८/६२) को सहज ही। और सर्वथा भय मुक्त हो जाता है - भक्त सूफी संत समद या कबीर की तरह।,

(२) परम तत्व के अन्य सभी साकार रुप साधक की चित्त धारणा के अनुसार ही प्रगट होते हैं - "तुलसी मस्तक तब नमें, धनुष बाण लेहु हाथ।" से बंधकर। इसको ही स्पष्ट करते हुए परम तत्व श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है -

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ७/२१)

जो जो सकाम भक्त जिस-जिस श्रद्धा से पूजन करने की इच्छा करताहै, मैं उस-उस भक्त को उस-उस स्वरूप में या उसकी मेरे प्रति श्रद्धा को स्थिर कर देता हूं।

यह एकमेव परम तत्व अक्षर ब्रह्म ही विविध आराध्य देव के रुप मेंप्रगट होतां है तथा अलग-अलग रुप में और अलग-अलग नाम से पूजा जाता है सभी धर्मानुयायियों द्वारा।

(३) परम तत्व के इस साक्षात्कार का मनोहारी वर्णन हम श्री रामचरित् मानस में पाते हैं। आदि पुरुष मनु और शत्रूपा द्वारा पति-पत्नी होकर साथ-साथ की गई तपस्या और आराधना के परिणाम स्वरूप किये गये अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार एवं भावना के वशीभूत प्रगट हुए साकार स्वरूप के वर्णन में -

"जे भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहें हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥

दंपति बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनित प्रेम रस पागे ॥

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥"

दोहा -

नील सरोरूह नील मनि नील नीरधर स्याम।

लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥१४६॥

(श्रीरामचरित्‌मानस - बालकांड १४६-५-८)

(२) परम तत्व का यह दर्शन अर्थात् निराकार स्वरूप का आत्म बोध और साकार स्वरूप का साक्षात्कार मां भगवती की कृपा से ही होता है। मां भगवती ही पग-पग पर साधक की सहायक तथा संरक्षक होती है। इसे ही सामान्य जन भगवती दुर्गा या अन्नपूर्णा तथा संत जन आह्लादिनी शक्ति या चिन्ययी शक्ति या कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। (उपनिषद् वाणी में इस दैवी शक्ति को ही उमा कहा गया है। (केनोपनिषद् ३/१२ एवं ४/१) यह चिन्मयी चित्त शक्ति या भगवती कुण्डलिनी देवी ही परम तत्व का परिचय कराती है, बोध कराती है। अतः साधक व्यक्ति को मातृ शक्ति के प्रति साधना के क्रम कें आरम्भ से ही मातृभाव अपना लेना आवश्यक होता है (पेरा - १५.३-५देखिये) समान रुप से महिला साधक द्वारा भी पितृ, पुत्र या परम पुरुष भाव।

१५.२-६ इस साकार रूप को जानकर साधक जुट जाता है, इस धरा पर अपने नियत कर्म को पूरा करने के लिये बंधन रहित होकर। और वह जान लेता है अपने स्वरूप को जिसे प्रगट करते हुए स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है -

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सो अर्जुन ॥"

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - ४९)

अनुवाद - "हे अर्जुन, मेरा जन्म और कर्म दिव्य, अलौकिक है। इस प्रकार जो पुरुष तत्व से जानता है वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है, मुझे ही प्राप्त होता है।" साधक श्रीकृष्ण द्वारा सूचित किये ये स्वरूप के "सः" वह, होने को जान लेता है, फिर वह संसार चक्र से मुक्तहो जाता है, अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर।

इस बोध प्राप्ति के बाद वह साधक परम तत्व के सृष्टिकर्म को ही पूरा करने में जुट जाता है मानो सतत् चल रहे सृजन कार्य व या कि निर्माण कार्य, समय पर पूरा करने के लिये स्वामी स्वयं ही आ गया है निर्माण स्थल पर। जिसे प्रगट करते हुए स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं -

"धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ४/८)

धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में स्वयं ही चला आता हूं। उपस्थित हो जाता हूं। और यह युग सदैव ही उपस्थित रहता है, यहाँ काल के सातत्य स्वरूप को धारण करके, स्वयं ही साकार रुप धारण करके जिसे स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण स्वयं कहते है -

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २/१२)

अनुवाद - " न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, न तू नहीं था अथवा यह जन समुदाय (नृपगण) नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।" साधक अपने स्वरूप का बोध प्राप्त करके जीवन जीता है, इस धरा पर स्वयं ही मानव रुप में रामकृष्ण परमहंस बनकर, संत रैदास, कबीर, तुलसी या मीरा बनकर या राम तै अधिक रामकर दासा बनकर।

१९.३-१ (१) अब हम संक्षेप में चर्चा करेंगे कि यह परम तत्व हमारे भीतर कहां स्थित तथा इसका यात्रा मार्ग कैसा है - कठोपनिषद् में भगवति श्रुति देवी कहती हैं -

"अंगुंष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ।"

(२/१/१२)

अनुवाद - अंगुंष्ठमात्र परिमाण वाला परम पुरुष हृदय के मध्य भाग हृदयाकाश मे स्थित रहता है, जो कि भूत और भविष्य (अर्थात् यहां से वहां तक या कि जो गुजर चुका है या कि जो होने वाला है - वर्तमान क्षणभर मात्र होकर अतिन्युन है, उच्चारित शब्द भूत हो जाता है तत्काल ही) का शासन करने वाला है, उसे जान लेने के बाद वह किसी की भी निंदा या किसी से घृणा नहीं करता। यहीं है वह। आगे भगवति श्रुति देवी कहती है -

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषों ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥

(२/१/१३)

अनुवाद - अंगुंष्टमात्र परिमाण वाला परम पुरुष परमात्मा धूम रहित ज्योति की भांति है, भूत और भविष्य पर शासन प्र शासन करने वाला वह परमात्मा आज भी है और कल भी रहेगा। यही है वह।

भगवति श्रुतिदेवी हमें संशय रहित करते हुए आगे निष्कर्ष रूप में बताती हैं -

"अंगुंष्टमात्रः पुरुषोऽतंरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण त
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

(कठोपनिषद् - २/३/१७)

अनुवाद - सबका अंतर्यामी अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला परम पुरुष सदैव मनुष्यों के हृदय में भली-भाँति प्रविष्ट है । उसको मुंज की सींक की भाँति । (सींक के सिरे की भांति) अपने शरीर से पृथक् करके देखें । उसी को विशुद्ध अमृत स्वरूप समझें । उसी को विशुद्ध अमृत स्वरूपं समझे ।" (यही है वह मृत्यु के देवता यमराज द्वारा दिया गया, शिष्य नचिकेता को परम तत्व का उपदेश)

१२.२(२) कठोपनिषद् में उपरोक्तानुसार मृत्यु के देवता यमराज द्वारा अपने शिष्य नचिकेता को आत्मा का परमात्मा का, अक्षर ब्रह्म परमात्मा का, जीवांश रुप होना बताया गया है । तथा यह परम तत्व हृदय रूपी गुहा में रहता है। किंतु पृथक नजर आता है । मानव मात्र को इसे अपने से बाहर देखना चाहिये और स्वयं को इसका शासित मानकर ही धरा पर अपना कर्म करते रहा चाहिये । साधक न तो स्वयं को कर्ता मानें और न कर्म का प्रणेता ही। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा इस गूढ़ सत्य की व्याख्या करते हुए शिष्य अर्जुन को प्रकृति के बंधन से मुक्त होने का मार्ग बता दिया गया है। त्रिगुणातीत होने के मार्ग के रूप में जिसे प्रगट करते हुए श्री कृष्ण कहा हैं -

"अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

(१२/१६)

अनुवाद -"जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध और अपने काम में दक्ष, पक्षपात से रहित और दुःखों से छुटा हुआ है । वह सब कर्मो क कर्ता भाव नहीं रखने वाला अर्थात् सब कर्मों के आरंभ का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है"। यहां श्रीकृष्ण द्वारा आकांक्षाओं के त्याग की बात कही है, कठोपनिषद् में हम पाते हैं कि आकांक्षाओ के वशीभूत होकर नचिकेता के पिता द्वारा किये जाने वाले यज्ञ में पुत्र नचिकेता द्वारा व्यवधान करने अर्थात पिता का अनुशासन नहीं मानने के कारण उसे पिता की आज्ञानुसार यम

लोक जाना पड़ा। वहां ब्रह्म तत्व के जिज्ञासु, मृत्यु के बाद आत्मा की स्थिति जान लेने के जिज्ञासु, नचिकेता को भी लौकिक ऐषणाओं के प्रति आकृष्ट करने का प्रयास यमराज द्वारा किया गया है। (यह विवरण यथा रूप परिशिष्ट 'घ' अनुसार होकर अनुपालन किये जाने योग्य है, प्रत्येक साधक के लिये।) तत्व ज्ञान का बोध प्राप्त किये जाने के पूर्व। साधक जब आत्म तत्व के मार्ग में निर्विषय हुए मन को लेकर आगे बढ़ता है, तो उसके मार्ग में आने वाले प्रलोभनों की ही जानकारी दी गई है, यहां उपनिषद् वाणी में। साधक अपने निर्विषय हुए मन को लेकर आगे बढ़ता है, तो यह प्रलोभन ही उसे अष्ट सिद्धियों के रुप में मिलता है। इन अष्ट सिद्धियों का विस्तृत विवरण धार्मिक ग्रंथों में किया गया है। यहां हम इन सिद्धियों के बारे में यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि यह सिद्धियां साधक को अपना यात्रा मार्ग पूरा करने के लिये मिलती हैं। सियाचीन की दुर्गम घाटी पर अपना कर्तव्य पूरा कर रहे सैनिक की भांति। यदि साधक इन सिद्धियों को अपने जागतिक स्वार्थों को पूरा करने के लिये अपनाना है, तो यह श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लेख किये गये - **"अनित्यमसुखं लोकमिमं"** (९/३३) इस लोक में प्राप्त किये जाने वाले क्षण-भंगुर सुखों के लिये उपयोग किया जाना है। जिसका परिणाम साधक को स्वयं भोगना पड़ता है। इस जीवन में ही पुराणों में उल्लेख किये गये वर्णन भस्मासुर बनकर। और इन सिद्धियों के मोह में बंधकर स्वयं ही मृत्यु को वरण करता है। अर्थात इन सिद्धियों का स्वार्थ में उपयोग करने पर ये सिद्धियां स्वतः ही नष्ट हो जाती हैं और अंततः साधक की मृत्यु का कारण बनती हैं। अतः आवश्यक है कि साधक मिलने वाली सिद्धियों को प्रलोभन ही समझे अपने यात्रा मार्ग में और इनको अस्वीकार करता हुआ आगे बढ़ता जावे। आत्म तत्व को जानने के लिये। यदि साधक इन सिद्धियों को अपने स्वार्थों में उपयोग नहीं करता है, तो यह उसकी योग्यता बन जाती है और वह परम तत्व के वैश्वानर स्वरूप का दर्शन कर लेता है अपने भीतर ही। लौकिक जगत की जीवन से जुड़ी हुई इन्हीं आकांक्षाओं के संबंध में विस्तृत जानकारी देते हुए श्रीकृष्ण द्वारा हमें बताया गया है, श्रीमद्भगवद्गीता में निम्नानुसार -

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

(१४/२२-२५)

अनुवाद - "हे अर्जुन, जो पुरुष सत्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर बुरा समझता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है।

जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणों में वर्तते है ऐसा समझता हुआ जो स्थित रहता है, न चलायमान ही होता है। और निरतंर आत्मभाव में स्थित हुआ दुःख सुख को समान समझने वाला, मिट्टी और स्वर्ण में समान भाव वाला धैर्यवान है, जो प्रिय और अप्रिय को बराबर समझता है, अपनी निंदा और स्तुति में भी समान भाव वाला है।

मान और अपमान में सम है, मित्र और वैरी के पक्ष में भी समान है, वह संपूर्ण कर्मों के आरम्भ में कर्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है"। हमें इन्हें ही अपना लेना चाहिये परम तत्व को प्राप्त करने के लिये।

१५.३-२(१) यह त्रिगुणातीत होना परम आवश्यक शर्त है, परम तत्व का बोध कर लेने के लिये इन्हें अपनाकर ही हम परम तत्व को प्राप्त कर सकते हैं। यह परम तत्व ही इस जगत का सत्य है, जो ऋत रूप में सर्वत्र व्याप्त है तथा ऋत् रुप में ही अभिव्यक्त होता है। हमें इस ऋत रुप परम तत्व को ही प्राप्त करना चाहिये तथा अभिव्यक्त करना चाहिये। जब हम परम तत्व को यथा रूप समझकरअभिव्यक्त करते हैं तो वह ऋत् कहा जाना होता है। इसे हम यों कह सकते हैं, कि परम तत्व जो अपने अभिव्यक्ति के आधार भूत साधन पंच तत्वों के रूप में इस जगत में प्रगट हुआ है वह इन पंच तत्वो के गुण एवं तन्मात्राओं से प्रगट हुए नियमों द्वारा ही जाना जाता है। जब इनका यथारूप उल्लेख करते हैं, तो ही यह ऋत् का कथन करना होता है। जिसे उपनिषद् वाणी में अभिव्यक्त करते हुए ऋषिगण - **"ऋतं वदिष्यामि"** कहते हैं। इन प्राकृतिक नियमों की अनुभूति जो ऋषि अपने परिप्रेक्ष्य में करता है वह उसका सत्य होता है। स्वानुभूत सत्य होता है। और इस स्वानुभूत सत्य को

यथारूप प्रगट करने के लिये ही ऋषि गण उपनिषद् वाणी में अपने आत्मानुभव को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं - **"सत्यं वदिष्यामि"** । ऋत् और सत्य के अंतर को समझने के लिये हम कहेंगे कि स्त्री और पुरुष का एक होना या आपस में मिलना ऋत् है । किंतु जब हम संपूर्ण समाज के नियमन हेतु - **"सर्वभूतहितत्व ऋत:"** आधार पर समाज में विवाह व्यवस्था का या भाई बहन संबंधों का या माता-पुत्र के संबंधों की अवधारणा करते हैं तो यह सत्य ही होता है । हमें सत्य को इसी प्रकार जानना चाहिये । ऋत् एवं सत्य के भेद को समझने के लिये हम पुन: एक अन्य उदारहरण देना चाहेंगे । वह यह कि यदि आप जेठ माह में रोहिणी नक्षत्र में तपते हुए सूर्य की आतप में अपने मकान में बैठकर या पंखे की ठंडी हवाएं लेते हुए कथन करते है कि बहुत गर्मी है तो यह आपके अपने अनुभव का सत्य होता है । किंतु इसी समय यदि कोई कृषक या मजदूर खेत से काम करते हुए लौटता है और आपके पास आकर मकान की छत के नीचे बैठकर यह कहता है कि यहां काफी ठंडक है, तो यह उसका अपना सत्य अनुभव होता है, जो दोनों ही परिस्थितियों में सत्य ही कहा जाता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्य व्यक्ति - व्यक्ति की अनुभूति के साथ अनुभव किया जाता है । इस सत्य को ऋत् स्वरूप में जानने के लिये जो आधार है, वह यह कि यदि आप खेत से कृषि कर्म या मजदूरी कार्य से लौटकर कहते तो आप भी कहते कि यहां ठंडक है और यदि कृषक या मजदूर मकान की छत नीचे बैठा रहता तो वह कहता बहुत गर्मी है । इन दोनों में ऋत् है, उस समय का तापमान जो कि अपनी उष्मता को अभिव्यक्त कर रहा है, तथा अनुभव किया जा रहा है अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग ही हमारे लिये समान परिस्थिति का सभी का एक जैसा अनुभव ही सत्य होता है और यह ही ऋत भी होता है । उपनिषद् वाणी में मनीषि ऋषियों द्वारा व्यक्त किया गया वर्णन यथा रूप होकर ऋत है । वह शाश्वत सत्य है, जो समान परिस्थितियों में सभी को समान रूप से प्रभावित करता है, सभी के द्वारा अनुभव किया जाता है और सभी के प्रति लागू होता है । यह ही सत्य होता है मानव समुदाय के लिये । एकल व्यक्ति का अनुभव स्व + अर्थ = स्वार्थ को प्रगट करता है, यदि उसे लागू किया जावे तो । इसी आधार पर हमें सत्य को ऋत को एवं स्वार्थ को जान लेना चाहिये ।

(२) अत: आवश्यक हो जाता है, समाज में ऋत् नियमों को लागू करने के लिये परम तत्व के सर्वाधार या नियंता स्वरूप को उसी रूप में समझा जाना तथा कथन किया जाना । यदि हम प्रकृति के सत्य को समझ लेते हैं और निरंतर चल रहे यज्ञ कार्य में अपनी कर्म की आहूति देते हैं तो यह प्रकृति के

नियमों को ही अपना लेना होता है। जैसा कि वेद वाणी में कहा गया है - सत्य को समझ लेने के लिये।

"सत्यं तातान सूर्यः" (ऋग्वेद - १/१०५/१२)

सूर्य सत्य को ही विस्तारित करता है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य रश्मियां सभी के लिये हितकारी है, कल्याणकारी है, प्रकाशमय है, उसी प्रकार का यह सत्य है।

"ऋतस्य प्रथा प्रेत" (शुक्ल यजुर्वेद - ७/४५)

प्रकृति के नियमों (ऋत नियमों) के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करों।

"ऋतस्य श्रृंगमुर्विया वि पप्रथे" (ऋग्वेद - ८/८६/५)

प्रकृति के सृष्टि संचालन नियमों की सत्ता या प्रकृति के नियमों की सत्ता सर्वत्र फैली है।

"ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति" (ऋग्वेद - ४/२३/८)

"प्रकृति अर्थात् परम तत्व के सृष्टि संचालन के नियमों के परिज्ञान से सभी बुराईयों या वर्जनाएं नष्ट हो जाती हैं।" हमें जीवन में इन्हीं नियमों को अपना लेना चाहिये जो परम तत्व द्वारा इस सृष्टि के संचालन हेतु व्यक्त किये गये हैं। जब हम यह कहते है कि **"सत्यमेव जयति नानृतं"** (मुण्डकोपनिषद् - ३/१/६)। "सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं," तो हमें समझ लेना चाहिये कि यह वह सत्य है जो ऋत से जुड़ा हुआ है। जो ऋत से जुड़ा हुआ नहीं है वह असत्य ही है। यही वह दूरी है जिसके आधार पर हम अपने जागतिक आधारों से बंधे हुए सुखों को जिन्हें कि श्रीमद्भगवद् गीता में -

"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।" (९/३३)

कहा गया है तथा - सांसारिक सुखों को अनित्य बताया जाकर परम तत्व का ही स्मरण करने का निर्देश या उपदेश दिया गया है। यदि हम स्वार्थों से बंधे होकर परिस्थितियों पर आधारित सत्य की व्याख्या करते हैं या इन्हें अपने जीवन में अपनाते हैं, या इनके आधार पर स्वार्थो का या समाज का नियमन करते हैं तो यह असत्य ही होता है। यह असत्य ही बन जाता है, सिद्धान्तों के विभाजन का आधार, परिवार के विभाजन का आधार, महाभारत युद्ध का आधार और भारत भूमि के विभाजन का आधार।

१५.३-३ अतः आवश्यक हैं कि हम प्रकृति से जुड़े हुए सत्य को समझें और इसे अपनावें। इस सत्य को ही अभिव्यक्त करते हुए ऋग्वेद में ऋषि द्वारा अर्थात् परम तत्व द्वारा स्वयं ही हमें उपदेश दिया गया है - इस जीवन में सफलता की प्राप्ति के लिये तथा परम तत्व की सत्ता से जुड़ जाने के लिये -

संग गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ॥
समानं मंत्रमभि मंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

(ऋग्वेद - १०/१९१/२-३)

अनुवाद -"हे मनुष्यों, जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियों से सम्पन्न सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानों प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते हैं, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओं, एक विचार से रहों और परस्पर सद्भाव से बरतों ।

तुम्हारी मंत्रणा में, मंत्रणा हेतु बनाई गई समितियों (संसदों) में, विचारों में और चिंतन में समानता हो अर्थात् हम संपूर्ण मानव समुदाय के हित में चिंतन करें, हम परस्पर सद्भावनायुक्त होवें तथा परस्पर एक-दूसरे के प्रति विषमता और दुर्भावना को न आने दें । ''

हमें परम तत्व अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार हेतु इसे ही अपना लेना चाहिये । अपने कर्म क्षेत्र में । परम तत्व का अक्षर रूप ही भिन्न-भिन्न अवधारणाओं के आधार पर यथा कामनानुरुप पृथक्-पृथक् लिपि रूप अर्थात् साकार रूप धारणकर भिन्न-भिन्न रूप में उपासना और प्रार्थना का आधार बना हुआ है । जो कि परम तत्व श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में दिये गये उपदेश -

''यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥'' (७/२१)

अनुवाद - जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहतें है, उस-उस भक्त कीं, मैं उस ही देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता हूं - को ही प्रगट करता है ।

१५.३-४ परम तत्व जो अक्षर रूप है वह ही लिखे जाने के लिए लिपि रूप में अलग-अलग प्रगट होता है एवं लिखे - जाने के लिये स्वयं ही पहला अक्षर ''अ'' बना होता है - **''अक्षराणामकारो''** । यह परम तत्व ही सभी भाषाओं में लिपि रूप का आधार होकर पहला अक्षर 'अ' होता है । साकार रूप ग्रहण कर्ता यह अक्षर रूप परम तत्व ही आराधना के लिये भी अलग-अलग साकार रूप धारण कर लेता है और कहीं यह शब्द रूप में पूजा जाता है, तो कहीं निराकार रूप में ही । और कहीं अग्नि रूप में पूजा जाता है । या कहीं स्वंय कृष्ण रूप में जो क्राईस्ट कहा जाता है (श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव ने क्राइस्ट

को श्रीकृष्ण होना कहा है) या कहीं अपने पूर्ण मर्यादा पुरुषोत्तम् स्वरूप में, जो श्रीराम कहा जाता है, इस भारत भूमि पर या जो शिव कहा जाता है। यह परम तत्व का साकार स्वरूप ही है जो श्रीराम कहा जाता है, इस भारत-भूमि पर। जो श्रीराम कहा जाता है - इस भारत-भूमि पर अपने साकार रूप में या सगुण रूप में। और जो संचालन करता है - सारथी बनकर महाभारत युद्ध का मानवता के कल्याण के लिये। वह परम तत्व ही संचालन करता है - सारथी बनकर महाभारत युद्ध का मानवता के कल्याण के लिये। और संचालन करता है - विश्व का मानवता के कल्याण के लिये।

१५.३-५(१) इस परम तत्व अक्षर स्वरूप का साक्षात्कार हम कैसे करें ....? यह अत्यन्त ही सरल रूप में सांकेतिक शब्दों में बताया गया है महर्षि वाल्मिकी द्वारा अपने रामायण ग्रंथ में। साकार परब्रह्म रूप मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जीवन गाथा के वर्णन में। महर्षि वाल्मिकी द्वारा वर्णन किये गये गूढ़ रहस्यात्मक विवरण को उजागर करने के पहले हम वैखरी वाक्, मध्यमा वाक् तथा पश्यंती वाक का खुलासा करना चाहेंगे। क्योंकि परावाक् जो है वह परम तत्व ही है उसका वर्णन किया जाना संभव नहीं है। वैखरी वाक् वह है जो वेद और वेदांग में प्रगट हुआ है तथा जिसे अपरा कहा गया है - वेद चार कहे गये हैं तथा वेदांग कुल ६ जिसमें क्रमशः शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष (मुण्डकोपनिषद् - १/१/५) बताये गये हैं। यह ही दस अंग वैखरी वाक् है, जो इस धरा पर प्राणी मात्र की वाणी को प्रगट रूप प्रदान करते हैं - लिपि में। यह लिपि चिंतन का आधार होती है तथा सभी प्राणियों के मन में निवास करती है। जब यह वैखरी वाक् मन में ही जाना जाता है अर्थात् मन में ही गुंजता हुआ चिदाकाश का परिचय कराता है, तो यह परम तत्व की ओर ले जाता है और प्रगट होने पर इस जगत से हमें जोड़ देता है। प्रगट वाक् अर्थात् वैखरी वाक् की अवस्थाएं या इसका लिपि रूप अलग-अलग हो सकता है किंतु इसका मध्यमा वाक् रूप एक ही होता है अलग-अलग भाषाओं में भी। जो भी सभी मनुष्यों द्वारा या साधको द्वारा अपने-अपने वैखरी वाक् से जोड़ा जाकर सुना जाता है। यह मध्यमा वाक् अपनी पूर्व अवस्था अर्थात् पश्यंती वाक् से जुड़ा होता है। यह पश्यंती वाक् ही परम तत्व का प्रागट्य रूप होता है, जो इस सृष्टि के सृजनकर्म को गतियुक्त तथा क्रियात्मक बनाये रखने के लिये ऋचा रूप में प्रगट होकर हमारे महर्षियों द्वारा जाना गया है तथा लिपिबद्ध किया जाकर मूल रूप में वेदों में प्रगट हुआ है। पश्यंती वाक् ही परावाक् के स्फुरण से प्रगट होकर साकार रूप ग्रहण करता है, मध्यमा वाक् से यात्रा करता हुआ वैखरी वाक् रूप में। परमात्म

तत्व से जिस प्रकार स्फुरण प्राप्त कर प्रगट होने वाला पश्यंती वाक् ग्रहण कर्ता साधक द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में प्रगट किया जाता है, उसी प्रकार यह परम तत्व भी साकार रूप धारण करके अलग-अलग प्रगट हो जाता है साधक के चित्त में उपासना और प्रार्थना के लिये साधक की भावना के अनुसार। जैसा कि श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता के मंत्र क्रमांक २१ अध्याय सात में यो यो यां यां - सूत्र आधार पर बताया गया है। इस परम तत्व का, जिसे अक्षर ब्रह्म कहा गया है हम किस प्रकार सानिध्य प्राप्त करें या इसका साक्षात्कार करें यह ही हमें महर्षि वाल्मिकी द्वारा बताया गया है। हमें निम्न शब्दों में सांकेतिक रूप से अतः आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम इस विवरण को मूल रूप में जानें। यह विवरण महर्षि वाल्मिकी कृत रामायण ग्रंथ में अयोध्या कांड में ३२ वें सर्ग में श्लोक क्रमांक २९ से ३९ तक प्रगट हुआ है, जो हमारे लिये मार्ग दर्शन पथ प्रदर्शन एवं अनुकरणीय है।

"तत्रासीत् पिंगलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः।
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली ॥२९॥
तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान्।
अब्रवीद् ब्राह्मणं वाक्यं स्त्रीणां भर्ता हि देवता ॥३०॥
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम।
रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किंचिदवाप्स्यसि ॥३१॥

अनुवाद "उन दिनों वहां अयोध्या के आसपास के वन में त्रिजट नाम वाले एक गर्गगोत्रय ब्राह्मण रहते थे। उनके पास जीविका का कोई साधन नहीं था इसीलिये उपवास आदि केकारण उनके शरीर का रंग पीला पड़ गया था। वे सदा फाल, कुदाल और हल लिये वन में फल-मूल की तलाश में धूमा करते थे।

वे स्वयं तो बुढ़े हो चले थे परंतु उनकी पत्नी अभी तरूणी थी। उसने छोटे बच्चों को लेकर ब्राह्मण देवता से यह बात कहीं - प्राणनाथ, (यद्यपि) स्त्रियों के लिये पति ही देवता है, (अतः मुझे आपको आदेश देने का कोई अधिकार नहीं है तथापि मैं आपकी भक्त हूं इसलिये विनयपूर्वक यह अनुरोध करती हूं कि -) आप यह फाल और कुदाल फेंककर मेरा कहना कीजिये। धर्मज्ञ श्रीरामचंद्रजी से मिलिये। यदि आप ऐसा करें तो वहां अवश्य कुछ पा जायेंगे।"

"स भार्याया वचः श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम ।

स प्रातिष्ठत पंथानं यत्र रामनिवेशम् ॥"

"पत्नी की बात सुनकर ब्राह्मण एक फटी धोती, जिससे मुश्किल से शरीर ढँक पाता था, पहनकर उस मार्ग पर चल दिये, जहां श्रीरामचंद्रजी का महल था।"

भृग्वङ्गिरः समं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि ।

आपंचमायाः कक्ष्याया नैतं कश्चिद्वारयत् ॥३३॥

"ऋषि भृगु और ऋषि अंगिरा के समान तेजस्वी त्रिजट जनसंमुदाय के बीच से होकर श्रीरामभवन की पांचवी ड्योढ़ी तक चलें गये, परंतु उनके लिये किसी ने रोक-टोक नहीं की"॥३३॥

"स राममासाद्य तदा त्रिजटो वाक्यमब्रवीत् ।

निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महाबल ॥

क्षतवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति ।

"उस समय श्रीराम के पास पहुंचकर त्रिजट ने कहा - "महाबली राजकुमार, मैं निर्धन हूं, मेरे बहुत से पुत्र हैं, जीविका नष्ट हो जाने से सदा वन में ही रहता हूं, आप मुझ पर कृपा दृष्टि कीजिये"॥३४॥

"तमुवाच ततो रामः परिहाससमन्वितम् ।

गवां सहस्त्रमप्येकं न च विश्राणितं मया ।

परिक्षिपसि दंडेन यावत्तावदवाप्स्यसे ॥३५॥

"तब श्रीराम ने विनोद पूर्वक कहा - "ब्राह्मण, मेरे पास असंख्य गौएं हैं, इनमें से एक सहस्त्र का भी मैंने अभी तक किसी को दान नहीं किया है। आप अपना डंडा जितनी दूर फेंक सकेंगे, वहां तक की सारी गौएं आपको मिल जायेगी।"

स शाटीं परितः कट्यां संभ्रांतः परिवेष्ट्य ताम् ।

आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः ॥

"यह सुनकर उन्होंने बड़ी तेजी के साथ धोती के पल्ले को सब ओर से कमर में लपेट लिया और अपनी सारी शक्ति लगाकर डंडे को बड़े वेग से घुमाकर फेंका ॥३७॥

स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्युतः ।

गोव्रजे बहुसाहस्त्रे पपातोक्षणसंनिधो ॥

ब्राह्मण के हाथ से छूटा हुआ वह डंडा सरयू के उस पार जाकर हजारों गोओं से भरे हुए गोष्ठ में एक साँड के पास गिरा।"

तं परिष्वज्य धर्मात्माआतस्मात् सरयूतटात् ।

आनयामास ता गावस्त्रिजटस्याश्रमं प्रति ॥

"धर्मात्मा श्री राम ने त्रिजट को छाती से लगा लिया और उस सरयू तट से लेकर उस पार गिरे हुए डंडे के स्थान तक जितनी गौएं थीं, उन सबको मंगवाकर त्रिजट के आश्रम पर भेज दिया ॥३९॥

(२) अब हम इस वर्णन में युग दृष्टा मानवता के पुजारी और आराधक महर्षि वाल्मिकी जिनकी वाणी मिथुन रत्त क्रोञ्च के जोंड़े में से एक पक्षी को शिकारी द्वारा मार दिये जाने का दृश्य देखकर फूट पड़ी थी। उन करुण हृदय महर्षि द्वारा अपनी दिव्य दृष्टि को लेकर आने वाली पीढ़ियों के लिये सांकेतिक रूप में जो गूढ़ ज्ञान हमारे लिये छोड़ा गया है, वह परम पिता परमेश्वर की कृपा से हम इस रहस्य को अपनी समझ तथा परमात्मा की कृपा से एवं भगवति अल्हादिनी चित्त शक्ति की प्रेरणा से प्रगट करने को उद्यत हुए हैं। यदि इसमें कहीं कोई त्रुटि है या संदिग्धता है। तो यह हमारी ग्रहणशीलता का दोष है। यदि साधक और सामान्य पाठक परम तत्व के प्रति समर्पण भाव से तथा अपने जीवन में अपनाये गये आराध्य देव के प्रति श्रद्धा से युक्त होकर अपनी विश्लेषणात्मक एवं गंवेषणात्मक बुद्धि को साथ में लेकर इसमें कुछ ढूंढने का या इसके द्वारा कुछ प्राप्त करने का प्रयास करेंगे तो परम तत्व अवश्य ही उस कमी को पूर्ण कर देगें तत्काल ही। तथा बोध करावेगा अपने अक्षर स्वरूप का स्वयं ही साधक को।

(३) इस वर्णन में हम प्रमुख रूप से पाते हैं कि ब्राह्मण जिनका नाम त्रिजट है, भूखे हैं। उनके तथा परिवार के लिये भोजन की कोई व्यवस्था नहीं है। वे सदैव ही भोजन की तलाश में रहते हैं। वे स्वयं बूढ़े हो चुके है किंतु उनकी पत्नी तरूणी है। इतना ही नहीं उनके छोटे-छोटे बच्चे भी हैं, इस प्रकार वे एक सामान्य गृहस्थ ही प्रगट होते हैं। इस विवरण के अनुसार। इस विवरण में ब्राह्मण पत्नी द्वारा परामर्श दिया गया है कि वे धर्मज्ञ श्रीराम के पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जावें, वे अवश्य ही कुछ प्रदान करेंगे जिससे ब्राह्मण दंपत्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी। महर्षि वाल्मिकी द्वारा इस वर्णन बताया गया है, कि त्रिजट ब्राह्मण वृद्ध होकर भी उपनिषदों में आये तत्ववेत्ता ऋषि भृगु एवं अंगिरा के समान तेजस्वी है। वे सीधे श्रीराम चंद्र के महल में जाते हैं उन्हें कोई भी नहीं रोकता है। श्री रामचंद्र राजपुरुष है, उनके महल में प्रवेश करते हुए किसी के भी द्वारा नहीं रोका जाना! यह

स्थिति विचारणीय है। महाभारत ग्रंथ में आये वर्णन अनुसार राजपुरुष विदेहराज जनक के राजमहल में प्रवेश करते समय महर्षि वेदव्यास के पुत्र सुकदेवजी (ब्राह्मण पुत्र) को पहले ही द्वार पर प्रहरियों द्वारा रोक दिया जाना हम पाते हैं। (शांति पर्व ३२५/२५) इस वर्णन में भी श्रीराम राजपुरुष हैं तथा उन्हें महर्षि वाल्मीकि द्वारा श्रीराम, साकार रूप, धर्मज्ञ बताये गये हैं, जिनसे भूखे और विपन्न ब्राह्मण परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति होना है अतः यह तथ्य भी हमारे विचार के लिये नोट किये जाने योग्य है। त्रिजट ब्राह्मण राजमहल में प्रवेश करते हैं तो उन्हें पांच ड्यौढ़ियाँ पार करना पड़ती हैं। यहां पांच की संख्या सांकेतिक हैं जो महर्षि द्वारा हमें बताई गई है पहरेदारों के स्थाप पर। ब्राह्मण त्रिजट द्वारा मांगे जाने पर धर्मज्ञ श्रीराम याचक ब्राह्मण को धन-संपदा नहीं देते हैं, इस उपरोक्त वर्णन से पूर्व आये श्लोक क्र. २८ के अनुसार बताया गया है कि श्रीराम ने अपनी सभी सम्पदा बाँट दी है उनके पास धन आदि नहीं बचा है। ऐश्वर्यरूपी गायें ही उनके साथ शेष है। वे ब्राह्मण त्रिजट को गायों को प्राप्त करने के लिये या गायों का दान करने के लिये संख्या आदि न बताकर एक डंडा फेंकने को कहते हैं, क्या यह डंडा शब्द कोई अर्थ रखता है ? यह डंडा सरयू नदी के पार खड़े हुए एक सांड के पास जाकर गिरता है, इस विवरण में क्या सरयू नदी का तट उसके पार वाली स्थिति तथा सांड का संकेत आदि ऐसे बिंदु है जो हमें दुःखी विपन्न साधनहीन ब्राह्मण त्रिजट के वर्णन आधार पर इस कथा के रहस्यो को समझने में संकेत करते हैं। अब हम इस वर्णन आधार पर इस कथा के रहस्यों को समझने में संकेत करते है। अब हम इस वर्णन में आई स्थितियों तथा गूढ़ संकेतों में छिपे रहस्य की चर्चा करेंगे।

प्रथम (१) त्रिजट ब्राह्मण भूखे हैं, भोजन की कोई व्यवस्था नहीं है तथा उन्हें भोजन की तलाश है। क्या यह हमारी आज की जीवन व्यवस्था का आंखो देखा विवरण तो नहीं ? आज मानवता का अधिकांश भाग भूखा है, भोजन की तलाश हैं उसे। उसके पास कल तक की व्यवस्था भी नहीं है। लगता है, महर्षि द्वारा संपूर्ण मानव समुदाय को ही प्रगट कर दिया है यहां पर प्रतीक रूप में।

(२) ब्राह्मण त्रिजट बूढ़े है तथा उनकी पत्नी तरुणी है। हम भी भोजन की व्यवस्था में बूढ़े हो चले हैं और हमारी आवश्यकताएं अभी बूढ़ी नहीं हुई है। इस वर्णन में एक और गूढ़ संकेत है, गृहस्थ जीवन का। जिसका वर्णन हम आगे कर रहे हैं परिवार में दर्शाये गये छोटे-छोटे बच्चों के विवरण के आधार पर।

(३) ब्राह्मण पत्नी द्वारा अपने पति से यह कहना कि आप श्रीरामचंद्र से अवश्य ही कुछ पायेंगे क्या यह हमारी उस आस्था की ओर तो संकेत नहीं है। जिसके अनुसार कि हम साकार मूर्त रूप परम तत्व की पूजा कर, आराधना कर, व्रत उपासना आदि द्वारा यह चाहते है कि हमारी आवश्यकताएं पूरी हो जायें। प्रतीत होता है महर्षि कहीं से देख रहे आज का यह दृश्य कि हमारे द्वारा स्वयं के स्व-स्वरूप को, सामर्थ्य को भूला दिया जाकर बाहर, आवश्यकताओं की पूर्ति के आधारों को ढूंढा जाना यहां महर्षि वाल्मीकि द्वारा बूढ़े त्रिजट ब्राह्मण को कर्मरत बताया है, कुदाली-फावड़ा धारणकर्ता बताया है, यह **'कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - १८/४५) का संदेश है हमारे लिये जिसे कहा गया है -

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - १२/१०)

अनुवाद -"यदि ध्यान अभ्यास से भी मन को एकाग्र करने या शांत करने में असमर्थ है, तो तू केवल मेरे लिये काम (कर्म) करने वाला हो जा। इस प्रकार मेरे लिये कर्मो को करता हुआ भी सिद्धि को ही प्राप्त करेगा अर्थात् परम तत्व के कर्ता स्वरूप को जग-नियन्ता स्व-स्वरूप को जान लेगा"इसके साथ ही श्रीराम को धर्मज्ञ अर्थात् धर्म का विग्रह रुप बताया है, जो प्रगट हुआ है - "रामो द्विनमिभाषते" (वा.रा.२/१८/३०) सूत्र में। जिसका अर्थ है राम दो तरह की बातें नहीं करता अर्थात् कथनी और करनी में भेद नहीं करता। क्या यह हमारे द्वारा कर्म को छोड़ दिये जाने और साकार ब्रह्म रूप श्रीराम के विग्रहवान स्वरूप आदर्श सत्य का आचरण छोड़ दिये जाने की ओर संकेत तो नहीं है ? हमें विश्वास होता है अवश्य ही महर्षि ने सृष्टि के खेल क्रम का आज का यह दृश्य 'हस्तामलकवत्' देखा है और रहस्य को प्रगट करते हुए वर्षों पूर्व ही समृद्धि का मार्ग बता दिया है। सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिये। कर्म और वचन का एक हो जाना ही समृद्धि और सिद्धि का आधार है मानव मात्र के लिये।

(४) महर्षि द्वारा बताया गया है कि भूखे और विपन्न ब्राह्मण ब्रह्म वेत्ता महर्षि भृगु तथा महर्षि अंगिरा के समान तेजस्वी लग रहे हैं। क्या यहां वे हमें अपने ही स्वरुप का स्मरण तो नहीं करा रहे है कहीं ? सोचना पड़ता है क्या हमारा स्वरूप निस्तेज है या तेजोमय। हम विपन्न है या सक्षम। बलवान शरीर को धारण करने वाले पांच कर्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों अर्थात् जो दो हाथ, दो पैर, दो आंखे, दो कान, दो नासिका स्वर और बलशाली दृढ़ चित्त एवं

अग्रगामी मन को एवं बुद्धि को धारण करते हुए भी। कहीं इनकी सामर्थ्य को तो नहीं भूल चुके हैं। महर्षि वाल्मिकी द्वारा बुढ़े, भूखे और विपन्न ब्राह्मण को तेजोमय बताया जाना अवश्य ही हमें अपनी सामर्थ्य के और साधन सम्पन्न होने का स्मरण करा रहा है। स्वयं के कर्ता रूप का बोध करा रहे हैं।

(५) राजमहल के प्रवेश का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि द्वारा द्वारपाल या अन्य किसी कर्मचारी का उल्लेख न किया जाना अवश्य ही कोई अर्थ रखता है। श्रीराम राजा दशरथ के पुत्र हैं, वर्तमान हालात् पर विचार करते हुए हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि राजपुत्र के निवास में जो कि महर्षि द्वारा राजमहल बताया गया है वहां कोई नौकर-चाकर नहीं रहे होगें। महर्षि द्वारा मात्र पांच ड्यौढ़ियों का वर्णन किया गया है यहां पांच की संख्या अर्थात् पांच दरवाजे का उल्लेख किया जाना अवश्य ही सांकेतिक शब्द है। यह गूढ़ संकेत है हमारे जानने और समझने के लिये। जिनको पार करना महर्षि द्वारा आवश्यक बताया गया है। धर्मरूप श्रीराम ''रामो धर्म विग्रह!' के पास पहुंचने के लिये जिनकी आराधना हम आज भी कर रहे है, अपनो मनः संकल्पों की पूर्ति के लिये। इस गूढ़ संकेत पर हमारे द्वारा आगे विस्तार से विचार किया जा रहा है।

(६) श्रीराम द्वारा अपने पास कोई धन आदि न होकर गोष्ठ में खड़ी हुई गायों को बताना तथा डंडा फेंककर प्राप्त करने का याचक ब्राह्मण त्रिजट से कहना क्या परम तत्व के इस रहस्य को तो उजागर नहीं करता जिसका वर्णन करते हुए श्रुति देवी द्वारा ईशावास्योपनिषद् में किया गया है -

''ईशा वास्यमिदँ सर्वयत्किन्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्

अनुवाद -"अखिल ब्रह्मांड में जो कुछ भी जड़ चेतन स्वरूप जगत् है। यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक इसे भोगते रहो, आसक्त मत होओ। क्योंकि धन-भोग्य -पदार्थ किसका हैं। अर्थात् किसी का भी नहीं है"। इस उपनिषद् वाणी में इस पृथ्वी पर अर्थात् समस्त भूतल पर फैला हुआ समस्त धन परम तत्व का ही बताया गया है। परम तत्व जो स्वयं निराकार है उसके द्वारा धन दौलत अपने पास रखा जाना सम्भव ही नहीं है। महर्षि वाल्मिकी हमें श्रीराम के साकार रूप का दर्शन तो यहां कराते है किंतु वे साथ ही ये संकेत भी हमें दे देते है कि सर्व समर्थ धर्मज्ञ राम के पास कुछ भी नहीं है देने के लिये। जो कुछ प्राप्त करना है आप को ही प्राप्त करना है अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह तो अपना धन पहले ही बांट चूका है। श्रीराम द्वारा त्रिजट ब्राह्मण को अपनी सामर्थ्य के अनुसार डंडा फेंकने के

लिये कहना हमारे लिये भी संकेत है कि हम अपनी सामर्थ्य को ही समझें और उसका उपयोग करें। इस वर्णन में डंडा एक प्रतीकात्मक शब्द रहा है। इसका वर्णन हम आगे कर रहे हैं। डंडा शब्द हमारे लिये बहुपरिचित हैं। हम बचपन से ही गुल्ली-डंडा खेल रहे हैं और समझने का प्रयास कर रहे हैं, इस डंडे और गुल्ली के रहस्य को। हमारे द्वारा डंडे के रहस्य का वर्णन आगे किया जा रहा है। गुल्ली का रहस्य अवसर मिलने पर अवश्य ही अभिव्यक्त करेंगे।

(७) महर्षि वाल्मिकी द्वारा किये गये वर्णन में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु ब्राह्मणः त्रिजट द्वारा फेंका गया डंडा सरयू नदी को पार जाकर गिरा है। भारतीय मस्तिष्क में जल और नदी दोनों ही प्रतीक होकर अपने विशेष अर्थ रखते हैं। यह कहावत सुपरिचित है कि जैसा पिये पाणी वैसी होवे वाणी" इस कहावत में मनुष्य द्वारा बोली जाने वाली बोली का आधार पानी को बताया गया। भूमि की संरचना के आधार पर प्रत्येक बारह कोस (करीब ३६ कि.मी.) के बाद पानी के तत्वों में परिवर्तन हो जाता है और इस एक आधार पर ही भारत भूमि पर भिन्न-भिन्न बोलियों का प्रचलन एवं इनका अनादिकाल से मौजूद होना माना जाता है। इसी आधार पर नदी वाणी की प्रतीक मानी गई है। सरयू नदी यहां पर वाणी की ही प्रतीक है। ब्राह्मण त्रिजट द्वारा फेंका गया डंडा नदी के उस पार जाकर गिरता है। जहां जाकर यह डंडा गिरता है, वह एक सीमा चिह्न है वहां तक की गायें मंगवाकर श्रीराम द्वारा ब्राह्मण त्रिजट के आश्रम पर भिजवाई गई हैं। सरयू नदी की सीमा के पार डंडे के गिरने का स्थान बताना महर्षि द्वारा सूचित किया गया है उस अवस्था को जिसे उपनिषद् वाणी में "यतोवाचों निर्वतन्ते" कहा गया है। इस वाणी की सीमा के पार ही सांड खड़ा होना बताया गया है। भारतीय धर्म और चिंतन में सांड अर्थात् बैल को धर्म को प्रतीक रूप बताया जाकर प्रथम पुरुषार्थ धर्म को प्राप्त करना ही कहा गया है। उपनिषद् वाणी में सांड के डकारने की आवाज को प्रतीक ही माना गया है, साधना के क्रम में आत्म तत्व के रहस्य के प्रगट होने का। महर्षि वाल्मिकी द्वारा यह संकेत कर दिया गया है, हमारे लिये। अंततः निराकार अक्षर रुप आत्मतत्व तक पहुंचने के लिये अपनी सामर्थ्य के अनुसार डंडा रुपी नाद को अपनाते हुए अर्थात् शब्द साधना को अपनाकर अन्ततः अनहद नाद का आश्रय लेकर चित्त की एकाग्रता द्वारा ही पहुँचा जा सकता है यहाँ तक। यह अनहद नाद अवस्था प्राप्त कर लेना ही साकार ब्रह्म रूप श्रीराम का ऐश्वर्य प्रदान करती है, हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, अपनी क्षमता के अनुसार, समर्पण

और निष्ठा के अनुसार। साथ ही महर्षि द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वहां तक आप अपने शरीर द्वारा नहीं पहुँच सकते हैं। यदि उस आत्मतत्व का जानना संभव होता तो ऐश्वर्य रूपी गायों को प्राप्त करने के लिये अवश्य ही महर्षि ब्राह्मण त्रिजट को गायों को हांक कर ले जाते हुए बताते। जैसा कि वृहदारण्यकोपनिषद् में राजा विदेह जनक द्वारा ब्रह्म तत्व की व्याख्या करने वाले ऋषि को दी जाने वाली गाये ऋषि याज्ञल्क्य द्वारा हांककर ले जाना बताया गया है। यहां महर्षि द्वारा उल्लेख किया गया है कि आप आत्मज्ञान के परम तत्व के जानने वाले बनेंगे तो परम तत्व साकार रूप धारण कर्ता श्रीराम अर्थात् निराकार परम तत्व ही आपकी आवश्यकताओं की सामग्री स्वयं ही भिजवा देगा आपके घर अर्थात् आपके पास ही। आवश्यकता है हम इसे भगवति श्रुति द्वारा ईशावास्योपनिषद् में बताई गई स्थिति अनुसार समस्त धन को परमात्म तत्व का ही मानकर उपभोग करें, इसका संरक्षण करें, इसका संचालन करें किंतु इसे रोककर नहीं बैठें। आखिर यह धन किसका है ? हम अपनी मृत्यु पर छोड़े जाने वाले धन को देखते हुए भी इस पर विचार करते हैं और बाध्य होते हैं हम इसे व्यवहार में ले आवें। इस जीवन में ही अपना लेवें प्रकृति के इस सत्य को।

युग पुरुष महात्मा गांधी द्वारा ईशावास्योपनिषद् के इस विचार सूत्र के आधार पर ही अपना संपत्ति के संबंध में 'ट्रस्टी शीप' का सिद्धांत अर्थात् 'न्यास का सिद्धांत' हमें इस शताब्दी के आरंभ में ही बताया है आवश्यकता है हम इसे पुनः जानें, समझें और आचरण में ले आवें।

अब हम इस कथानक में महर्षि वाल्मिकी द्वारा प्रगट किये गये उन गूढ़ रहस्यों की चर्चा करेंगे जो अभिव्यक्त करने से रह गये हैं।-

(४) इस वर्णन में हम पाते हैं कि ब्राह्मण त्रिजट अपनी पत्नी की प्रेरणा से ही 'धर्मज्ञ श्रीराम के पास जाते हैं। महर्षि वाल्मिकी द्वारा 'श्रीरामचन्द्र' को धर्म का मूर्तरुप अर्थात् विग्रहवान् रूप - रामो विग्रहवान् धर्मः'' बताया गया है। श्रीरामचंद्र का प्रमुख गुण है दो बात नहीं करना - ''रामोद्विर्नाभाषते'' अर्थात् श्रीराम जो कहते हैं वहीं उनके कर्म का आधार है। (वाल्मिकी रामायण - २/१८/३०) "श्रीराम जो कहते हैं, वह ही करते हैं। श्रीराम के आचरण में कर्म और वाणी का भेद नहीं है। इन्हीं सब को अपनाने की प्रेरणा ब्राह्मण त्रिजट की पत्नी द्वारा दी गई है। जिस प्रकार हम आधुनिक युग में पाते हैं कि किसी भी महान् व्यक्ति की सफलताओं के पीछे शक्तिरूपी आधार उसकी पत्नी का ही होता है, उसी प्रकार यहां भी महर्षि द्वारा इसकी प्राचीनता को अभिव्यक्त कर दिया गया है।

(५) इस कथानक में दृष्टव्य है कि त्रिजट ब्राह्मण वृद्ध है तथा उनकी पत्नी तरूणी है तथा उनके छोटे-छोटे बालक भी हैं। जागतिक आधार पर हम ईश्वर आराधना में सबसे बड़ी बाधा अपना गृहस्थ जीवनायापन करना मान लेते हैं और स्वयं को पथभ्रष्ट मानकर स्वयं ही आत्म साधना के पथ से विमुख हो जाते हैं। महर्षि वाल्मिकी ने स्पष्ट किया है कि आत्म साधना के लिये या परम तत्व की प्राप्ति के लिये आपका गृहस्थ होना या युवा पत्नी का स्वामी होना या छोटे-छोटे बच्चों का पिता होना परम तत्व की आराधना में या ईश्वर की आराधना में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। यहां हम यह पौराणिक तथ्य प्रगट करना चाहेंगे कि भगवान् श्रीराम के कुल गुरु महर्षि वशिष्ठ स्वयं गृहस्थ होकर एक सौ पुत्रों के पिता रहे हैं। महर्षि सांदीपनी को उनका खोया हुआ पुत्र उनके ही शिष्य श्रीकृष्ण द्वारा जो कि परम तत्व के पूर्ण अवतार माने जाते है द्वारा लाकर सौंपा गया है। महाभारत के प्रमुख योद्धा आचार्य द्रोणाचार्य अश्वत्थामा के पिता होकर परम तत्व का बोध प्राप्त कर्ता रहे हैं। महाभारत का युद्ध आरंभ होने के पूर्व शांति की स्थापना हेतु शांति दूत के रूप में कौरव सभा में पहुँचे श्रीकृष्ण के परम तत्व होने के रहस्य को जानने वाले चार महारथियों में भीष्म पितामह, कुलगुरु कृपाचार्य, मंत्री विदुर तथा शस्त्र विशारद द्रोणाचार्य रहे हैं। यहां हम यह भी बताना चाहेंगे कि महर्षि नारद का जन्म उनकी माता द्वारा दासी के रुप में ऋषियों के आश्रम में ऋषियों की परिचर्या करते समय हुआ है। कुंभज ऋषि स्वयं तथा महाकवि कालीदास का प्रिय और प्रमुख नाट्य पात्र देवी शकुंतला ऋषि संतान हैं जिनके जीवन से गाथाएं जुड़ी हुई हैं। साथ ही हम यहां गृहस्थ जीवन का यह उपनिषद् सत्य भी प्रगट करना चाहेंगे कि तत्व ज्ञान के ज्ञाता महर्षि उद्दालक द्वारा अपने पुत्र श्वेतकेतु को (श्वेताश्वेतरोपनिषद्), महर्षि वरूण द्वारा अपने पुत्र भृगु को (तैत्तिरीयोपनिषद्), महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ रही है तथा उनके द्वारा अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी को (वृहदारण्यकोपनिषद्) को परम तत्व का उपदेश दिया गया है। श्रीरामचरित्मानस में वर्णित की गई राम कथा में भी हम पाते हैं कि गृहस्थ जीवन यापन करते हुए ही मनु तथा देवी शतरूपा द्वारा तपस्या की जाकर परम तत्व का साक्षात्कार प्राप्त किया गया है -

"चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥"

(१/१४८/६)

और यह तथ्य भी हम सभी जानते हैं कि ब्रह्म साकार रूप धारण करके ही कर्ता होता है और परब्रह्म के साकार स्वरूप श्रीराम स्वयं गृहस्थ हैं - "दुई सुत सुंदर सीता जाये" (श्रीराम चरित्मानस - ७/२५/६) और ब्रह्म के सानिध्य

में रहने वाले श्रीराम के सभी छोटे भाई - भरत, लक्ष्मण और शत्रुध्न भी गृहस्थ हैं - ''दुई दुई सुत सब भ्रातह्न केरे।'' (श्रीरामचरित्मानस) कहने का तात्पर्य यह कि गृहस्थ जीवन यापन करना, परम तत्व के साक्षात्कार करने या आत्मबोध प्राप्त करने में किसी प्रकार बाधा नहीं है। इस संबंध में हम ब्रह्मचर्य व्रत पालन के संबंध में आरंभ से ही चली आ रही प्राचीन अवधारणाओं को पुनः उजागर करना चाहेंगे। महर्षि वाल्मिकी रामायण ग्रंथ में वर्णन करते हुए स्वयं कहते है - ''द्विविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः।'' (वाल्मिकी रामायण - १/९/५) हे राजन. लोक में ब्रह्मचर्य के दो रूप विख्यात हैं। ब्रह्मचर्य के ये दो रूप हैं - जिनमें प्रथम रूप को उर्ध्व रेता होना कहा गया है। इसका पालन प्राचीन काल में ऋषि आश्रम में शिक्षा समाप्ति के बाद समावर्तन संस्कार न किया जाकर शिष्य द्वारा आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाता था। ब्रह्मचर्य के उर्ध्व रेता स्वरूप का पालन करने वाले हमारे संत, ऋषि, महात्मा गण हैं, जिनके द्वारा आज भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाता है तथा इसके बल पर सामर्थ्य युक्त हो परमतत्व का सानिध्य प्राप्त किया जाता है या परम तत्व के रहस्यों का अनुभव किये जाकर उनसे समाज को अवगत कराया जाता रहा है। ब्रह्मचर्य के द्वितीय रूप का पालन गृहस्थ साधकों द्वारा गृहस्थ जीवनयापन करते हुए किया जाता रहा है - संतानोत्पत्ति कर्म करते हुए भी। अर्थात् प्रजापति ऋण या पितृ ऋण चुकाया जाने के बाद। यह किस प्रकार प्राचीन काल में व्यवहार किया जाता था, इस संबंध में प्रश्नोपनिषद् का यह मंत्र हमारा मार्गदर्शन करता है -

''अहोरात्रो वे प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा ऐते प्रस्कंदन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यंते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रो रत्या संयुज्यंते।''

(१/१३)

अनुवाद - "दिन और रात का जोड़ा ही प्रजापति है। उसका दिन ही प्राण है, रात्रि रति है। जो दिन में रति क्रिया से जुड़ते हैं, वे लोग अपने प्राणों को ही क्षीण करते है। जो रात्रि में रतिक्रिया करते है वह ब्रह्मचर्य ही है।"

इस संबंध में अन्य दूसरा मंत्र हमारी मदद करता है -

''तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयंते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥''

(प्रश्नोपनिषद् - १/१५)

अनुवाद - "जो कोई भी निश्चय पूर्वक उस प्रजापति व्रत का पालन करते है, वे जोड़े को उत्पन्न करते हैं। जिनमें तप और ब्रह्मचर्य है। जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है। उन्हीं को यह ब्रह्म लोक मिलता है"। इस प्रकार उपनिषद् वाणी अन्नमय

कोष की "ध्यान अवस्था" का (देखिये १२.३-४) का त्याग करते हुए "दुई-दुई सुत" (श्रीरामचरित्मानस) के आदर्श को अपनाने का कहती है जो कि आवश्यकता है आज की, समस्त संसार का और हमारी भी। यह संकल्प ही ब्रह्मचर्य व्रत है, ग्रहस्थाश्रम के लिये सृष्टि संरचना विधान को अपनाते हुए। हमारे गृहस्थ जीवन रूपी संशय को निवारण करने में श्रीमद्भगवद्गीता भी हमारी मदद करती है। योग प्राप्ति या योग की सिद्धी हेतु स्वयं भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं -

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥"

(६/१७)

अनुवाद - "दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करने वालों का तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले और यथायोग्य शयन करने वाले, स्वप्न बोध करने वाले और जागने वाले का ही सिद्ध होता है।" ब्रह्मचर्य व्रत के अनुपालन में हमारा मार्ग दर्शन श्रीमद्भगवद्गीता का निम्न मंत्र भी करता है -

"नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५/८-९)

अनुवाद "परम तत्व की चाहना रखने वाला साधक तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वांस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आंखों को खोलता और मिंचता हुआ भी सब इंद्रियां अपने-अपने अर्थों में वर्त रही है। इस प्रकार धारण करता हुआ निःसन्देह आत्मभाव में स्थित होकर ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूं"। गृहस्थ जीवन में रहते हुए ब्रह्मचर्य के पालन में मनु स्मृति ग्रंथ के अध्याय - ३ के मंत्र क्रमांक - ४५ से ४७ एवं ५० दिशा बोधक रुप से हमारा पथ प्रदर्शन करते हैं। आवश्यकता है हम जीवन में संयम को अपनावे और स्वयं की वृत्ति को समस्त कर्मो को परम तत्व के प्रति ही समर्पित कर देवें।

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - ९/२७)

अनुवाद - "जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरण रूप तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर"। गीतोक्त इस उपदेश को अपना लेवें। इस रहस्य को प्रगट करते हुए स्वयं श्रीकृष्ण कहते है -

"अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्चयवन्ति ते ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - ९/२४)

अनुवाद - "मैं ही संपूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूं, परंतु वे जो मुझ परमेश्वर को तत्व से नहीं जानते हैं, इसी से गिरते हैं अर्थात् स्वयं ही कर्ताभाव लेकर उस कर्म का फल भोगते हैं और पुनर्जन्म को प्राप्त करते है," हमारे द्वारा किये जाने वाले सभी कर्मरूपी यज्ञों का स्वामी तथा उनके फलों का भोक्ता स्वयं परम तत्व ही है, इस कथन को हमें भली-भांति जान लेना चाहिये। हमारे कर्मों के कर्ता, भोक्ता तथा स्वामी परम तत्व श्रीकृष्ण स्वयं ही है यह श्रीमद्भगवद्गीता के इस मंत्र में श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं प्रेरणा दी जाकर निरंतर परम तत्व के चिंतन में ही लीन होते हेतु कहा गया है - या परम तत्व जो आत्म तत्व रूप में हमारे भीतर ही स्थित है से जुड़े रहने हेतु कहा गया है -

"चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त सततं भव ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - १८/५७)

अनुवाद - "सब कर्मो को मन से मेरे में अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व बुद्धि रूप निष्काम कर्मयोग को अवलंबन करके निरंतर मेरे में चित्तवाला हो।"

(६) गृहस्थाश्रम जीवन में कामोपभोग के संबंध में उपरोक्त विवरण के अतिरिक्त श्रीरामचरित्मानस में भी हमें गूढ़ रूप से संकेत किया गया है - श्रीरामचरित्मानस में बताया गया है कि परम तत्व के इस रहस्य के प्रथम श्रोता तथा जानकार कागभुशंडजी हैं। प्रथम श्रोता एवं जानकार कागभुशुंडजी को बताना ही वही संकेत हैं जो हमारा मार्गदर्शन करता है। हम देखते हैं कि कौआ पक्षी जो हमारे जीवन से जुड़ा है वह आहार की उपलब्धता होने पर कांव-कांव करता हुआ अपने संपूर्ण परिवार को ही बुला लेता है - "वसुधैवकुटुम्बकम्" का पालन करते हुए। और हमारे लिये भेद करना मुश्किल हो जाता है कि आवाज लगाने वाले कौएं का परिवार कौन-सा है।

यदि हम बुलाये गये सभी कौओं को उस एक अकेले कौएं का परिवार कौन सा है। यदि हम बुलाये गये सभी कौओं को उस एक अकेले कौएं का परिवार मान ले तो निश्चितरूप से हम यह धारणा कर लेवेंगे कि वह कौआ सर्वाधिक कामोपभोगी जीव रहा। किंतु हम प्रत्यक्ष रूप से देखते है तथा पाते है कि कौआ कदापि मैथुनरत्त दिखाई नहीं देता है। न क्रियाकलाप से और न विश्राम करने के क्षणों में। तथापि वह विशाल परिवार का स्वामी होता है। हमें परम तत्व की खोज करने के लिये या आत्म बोध प्राप्त करने के लिये अपनी सभी मानसिक बाधाओं का वर्जनाओं का त्याग करते हुए अपने जीवन में "काक् मैथुन वृत्ति" को अपना लेना है। श्वान (मैथुन) वृत्ति को छोड़ते हुए। काक वृत्ति कैसी हो ? इस काक वृत्ति के आचरण को महर्षि वाल्मिकी द्वारा अपने रामायण ग्रंथ में प्रमुख पात्र श्रीराम और लक्ष्मण के आचरण द्वारा प्रगट किया गया है - भिन्न-भिन्न दो अवसरों पर इसका परिचय देते हुए प्रथम वर्णन है - शापोद्धार उपरान्त गौतम ऋषि पत्नी देवी अहिल्या द्वारा किये गये आतिथ्य सत्कार के वर्णन में। महर्षि देवी अहिल्या के लावण्यमय रूप का वर्णन करते हुए एवं युवा श्रीराम एवं लक्ष्मण के आचरण को प्रगट करते हुए कहते हैं -

प्रपत्नान्निमितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव।
धूमेनाभिपरीताङ्गी दीप्तामग्निशिखामिव॥
सतुषारावृत्तां साभ्रां पूर्णचन्द्र प्रभामिव।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षा दीप्तां सूर्यप्रभामिव॥

(१/४९/१४-१५)

अनुवाद - "उनका रूप-स्वरूप दिव्य था। विधाता ने बड़े प्रयत्न से उनके अङ्गों का निर्माण किया था। वे मायामयी सी प्रतीत होती थी। धूम से घिरी हुई प्रज्ज्वलित अग्निशिखा सी जान पड़ती थी। ओले और बादलों से ढ़की हुई पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा सी दिखायी देती थी तथा जल के भीतर उध्भासित होने वाली सूर्य की दुर्धर्ष प्रभा के समान दृष्टिगोचर होती थी।"

इन सौन्दर्यमयी महिला अहिल्या द्वारा किया गया आतिथ्य सत्कार श्रीराम द्वारा -

"प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधि दृष्टेन कर्मणा।"

(वाल्मिकी रामायण - १/४९/१८)

अनुवाद - "बैठे हुए कौवें के समान दृष्टि और आचरण (कर्म) का पालन करते हुए आतिथ्य सत्कार ग्रहण किया"। द्वितीय वर्णन है - युवा और अविवाहित

पुरुष राम और लक्ष्मण के मिथिला प्रवेश (भ्रमण) के उपरान्त महर्षि विश्वामित्र से विदेहराज जनक द्वारा दोनों नवयुवकों का परिचय पूछा जाना -

"काक पक्षधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्वतः ।"

(वाल्मिकी रामायण - १/५०/२१)

अनुवाद - 'काक पक्ष धारी अर्थात् कौए के समान काम भंगिमाओं से रहित अपने लक्ष्य का एकमेव स्मरण करने तथा उसके प्रति चेष्टा करने वाले दोनों वीर पुरुषों का परिचय जानना चाहता हूँ ।" यह काक वृत्ति ही प्रथम आवश्यकता होती है, परम तत्व के साक्षात्कार की इस 'काक दृष्टि' को या 'काकपक्षधारी' को ही सम्यक रूप से समझ लेने के लिये विरोधीभाव आधार पर या प्रतिरूप आधार पर 'कमल-नयनं' और 'पद्मासन संस्थितं' कहा गया है । जिसका अर्थ होता है विषय में रहते हुए भी विषय से लिप्त नहीं होना, मात्र अपने आधार से ही जुड़े रहना अर्थात् काका दृष्टि को धारण किये होना, काक पक्ष को धारण किये होना । जिस प्रकार कि काक आहार से जुड़ा होता है, उसी प्रकार अपने आत्मस्वरूप से जुड़े होना ।

(७) हम यह मर्यादित कर लेवें अपने मानसिक धरातल पर तथा व्यवहार में भी कि भोग या कामोपभोग का सेवन पति या पत्नी के साथ ही करेंगे । उपरोक्तानुसार प्रश्नोपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता में परम तत्व श्रीकृष्ण द्वारा बताये गये मार्गदर्शन का पालन करते हुए । इसके लिये संत शिरोमणि श्रीरामकृष्णदेव द्वारा अपने साधकों को बताया गया है कि साधक यदि वह पुरुष है तो अपनी पत्नी को ही अपने जोड़े का अंग माने तथा शेष सभी महिलाओं को मातृ रूप में ही देखें, उनकी उम्र के अनुसार स्वयं माता, बहन या पुत्री के रुप में और सब में मां भगवती जगदम्बा का ही दर्शन करें । मातृरुप का ही दर्शन करें -

"देखहुँ कपि जननी की नाईं" (श्रीरामचरितमानस - ६/१०८/१२)

तथा महिला साधक पुत्र, पिता या परम पुरुष का दर्शन करें भाव भूमि पर । इसी प्रकार साधक यदि महिला है, तो वह अपने जोड़े का अंग अपने पति को ही माने तथा अन्य सभी पुरुषों में परम तत्व का ही पुरुष रुप दर्शन करें । अपने पिता, भाई या पुत्र रुप में । यदि आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा सूचित किये गये कागभुशुण्डजी के प्रथम श्रोता होने के तथा राम कथा के प्रवक्ता होने के इस रहस्य को जान लेंगे तथा एक ही दृष्टि बोध का अर्थात् काक दृष्टि का पालन करेंगे । तो अवश्य ही उस परम तत्व को जान लेंगे या उसका साक्षात्कार कर लेगें जो मात्र दो कदम की दूरी पर है ।

(८) इसे अपनाकर ही हम संशय रहित होकर गृहस्थाश्रम में जीवन यापन करते हुए भी परम तत्व से जुड़कर तेज युक्त बन जायेंगे जैसा कि महर्षि वाल्मिकी द्वारा गृहस्थ एवं युवा पत्नी के स्वामी और छोटे-छोटे बच्चों के पिता त्रिजट विप्र को श्रीरामचंद्र के राजमहल में प्रवेश करते समय भृगु ऋषि तथा अंगरा ऋषि के समान तेजोयुक्त -

"भृग्वंगिरः समं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसादि ।"

(वाल्मिकी रामायण - २/३२/३३)

अनुवाद - "जन समुदाय के बीच ब्रह्मवेत्ता भृगु और अंगिरा ऋषि के समान तेजस्वी" बताया गया है । आवश्यकता है हम भी स्वयं को परमतत्व की आराधना में अहिर्निश जोड़कर स्वयं को तेजोमय बना लेवें । स्व कल्पित वर्जनाओं का त्याग करते हुए ।

(९) जीवनयापन एवं पत्नी के भरण-पोषण हेतु धन-सम्पदा की याचना करने के लिये ब्राह्मण त्रिजट द्वारा परम तत्व साकार रूप श्रीराम के राजमहल में प्रवेश करते समय के वर्णन में महर्षि वाल्मिकी द्वारा द्वारपाल या नौकर-चाकर के अवरोध का वर्णन न करते हुए मात्र यह वर्णन किया है कि ब्राह्मण त्रिजट राजमहल के पांच दरवाजों को पार करते हुए रोक-टोक के बिना श्रीराम के पास पहुंच गये । साकार रुप परब्रह्म श्रीराम के सन्मुख उपस्थित हो गये । -

"आपंचमायाः कक्ष्याया नैतं कश्चिदवारयत् ।"

महर्षि वाल्मिकी द्वारा पांच ड्योढ़ियों या दरवाजों के रूप में आत्म तत्व के उन पांच कोष का वर्णन कर दिया गया है, जिन्हें हम क्रमशः - अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष कहते हैं । मन इन्हीं पांच कोषों से जुड़ा हुआ इस शरीर में रहता है तथा आत्म तत्व द्वारा धारण किया जाता है । आत्मबोध की यात्रा में ये पांचों कोष राजमहल के दरवाजों की भांति है । इन्हें हम मातृभूमि के प्रति अपने दायित्वों के विचार तथा शुद्र मानव के स्वार्थों को प्रगट करने वाले भारत भूमि पर स्थित झाँसी के दुर्ग की भांति मान लेवें, तो हमें इस दुर्ग में स्थित परम तत्व के शिवरूपी मंदिर में प्रवेश करने के लिये जिस प्रकार इस दुर्ग के दरवाजों को क्रमशः पार करना होता है उसी प्रकार मन दुर्ग की ये पांच अवस्थायें हैं जिन्हें पार करके ही हम परम तत्व रूपी धर्मज्ञ श्रीराम के पास पहुंच सकते हैं । यह ही महर्षि वाल्मिकी द्वारा संकेत कर दिया गया है उपरोक्त वर्णन में । मन की इन पांच अवस्थाओं के वर्णन में तथा इस यात्रा क्रम को स्पष्ट करने के लिये लेखनी विस्तार की अपेक्षा रखती है अतः इस बारे में स्व सामर्थ्य अनुसार विस्तृत विवेचन विषय की अनुरुपता को देखता हुए - "साक्षात्कार

के लिये'' विचार खंड के अंतर्गत "मन के बारे में" शीर्षक में किया गया है। परम तत्व के या अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार करने हेतु या परावाक् का बोध प्राप्त कर लेने के लिये हमें इन पांच ड्योढ़ियों को पार करने की अनिवार्यताओं का पालन अवश्य ही करना चाहिये। अपने कर्म की सफलता के लिये।

(१०) इस प्रकार इस कथानक में महर्षि वाल्मिकी द्वारा अक्षर ब्रह्म, परम तत्व या आत्म बोध या साकार स्वरूप ग्रहण कर्ता श्रीराम का बोध प्राप्त करने का संपूर्ण रहस्य ही प्रगट कर दिया गया है सांकेतिक शब्दों में। इस रहस्य के प्रगटन में अंतिम सीढ़ी पर खड़े होकर हम यह सोचने के लिये मजबूर हो जाते है कि कहीं महर्षि वाल्मिकी द्वारा सूचित किये गये याचक ब्राह्मण का नाम ''त्रिजट'' बताया जाकर कोई सबसे बड़ा संकेत तो नहीं दिया है हमें। इस बिंदु पर विचार करते हैं तो हमारे लिये यह संकेत समझ लेना अत्यन्त आसान हो जाता है, परम तत्व के पांच केशधारी (पंचशिख) भक्तों को देखकर, जब हम स्वयं के चेहरे पर मूंछों को देखते हैं तो सहज ही, स्वयं को चार केशधारी होना जान लेते है और जब दाढ़ी तथा मूंछ से रहित स्वयं के चेहरे को दर्पण में देखते है तो लगता है - युग-दृष्टा प्रचेता पुत्र महर्षि वाल्मिकी हमारा पथ प्रदर्शन कर रहे है - यहां पर सांसारिक अभावों से छुटकारा पा लेने के लिये, प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेने के लिये। जिसे श्रीरामचरित्मानस में आचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा का गया है -

''सोई पावन सोई सुभग सरीरा। जो तनु पाई भजिअ रघुवीरा॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

(७/९६/२) एवं ७/१२२/१४)

आवश्यकता है हम भजन और भक्ति के रूप में साकार ब्रह्म श्रीराम के गुण - ''रामो द्विर्नभिभाषते'' - राम दो बात नहीं करता अर्थात् कथनी और करनी में भेद नहीं रखता को अर्थात् काक दृष्टि की एकरूपता को जीवन में अपना लेवें। काक पक्षधर बन जावें आचरण में और दृष्टिबोध में भी।

इस प्रकार महर्षि वाल्मिकी अप्रत्यक्ष रूप से बोध कराते है हमें हमारे पूर्वजों द्वारा किये गये आचरण का जिसका वर्णन हम सतयुग की गाथा में पाते है और आज भी पूजन करते है, इस वृत्ति का अपने पूर्वजों का श्राद्ध करके श्राद्ध पक्ष में और मृत्युकालिक श्राद्ध के अवसर पर भी काक (कौए) को दिये जाने वाले भोग के रूप में। आवश्यकता है हम इस पूजन कार्य की प्रासंगिकता को, इसके प्रतिबोधात्मक स्वरूप को भी धारण कर लेवें जीवन में

अपने पूर्वजों के कृत्य को स्मरण करते हुए, इस प्रतीक पूजा को अपना लेवें अपने आचरण में ही।

- ४ -

१५.४-१ यदि यह वर्णन पढ़ लेने पर हमारे मन में तृप्ति नहीं होती है, - "तृप्तिर्हिश्राृण्वतो नास्ति" (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - १०/१८) और स्व-स्वरूप के रहस्य को या आत्म तत्व के रहस्य को या परम तत्व अक्षर ब्रह्म को जान लेने - "अक्षरं परमं वेदितव्यं" (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता- ११/१८) की जिज्ञासा होती है, की -

"किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥"

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् - १/१)

अनुवाद - "इस जगत का कारण भूत ब्रह्म (परम तत्व) कैसा है ? हम किससे उत्पन्न हुए हैं ? किसके द्वारा जीवित रहते हैं ? और कहां स्थित हैं ? हे ब्रह्मविद् गण ! हम किसके अधीन रहकर सुखों और दुःखों की निश्चित व्यवस्था के अनुसार बर्त रहे है, अर्थात् जीवन जी रहे है"। और यह सोचते है कि -

"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥"

(केनोपनिषद् - १/१)

अनुवाद - "यह मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयों में गिरता है ? किससे नियुक्त होकर प्रथम अर्थात् जीवन का आधार प्राण चलता है ? किसके द्वारा क्रियाशील हुई वाणी को बोलते है ? और कौन देव - नेत्र तथा श्रोत्र को प्रेरित करता है" जानने के लिये ?

और यह जान लेने के लिये, हम स्वयं को असमर्थ पाते हैं कि -

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो ।"

(केनोपनिषद् - १/३)

अनुवाद - "वहां न तो नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियां जाती हैं और न वाणी (जिह्वा) आदि कर्मेन्द्रियां जाती है और न मन ही जाता है और न जानकार लोगों द्वारा सुनकर ही हम जान पाते हैं"।

तो श्रुति देवी उपनिषद् वाणी में हमारा मार्ग बताते हुए कहती हैं कि - यह परम तत्व ही हमें अपना अस्तित्व समय-समय पर बताता है। जब हम द्विविधा में होते हैं या असंमजस पूर्ण अनिर्णय की स्थिति में होकर कठिन परिस्थितियों में होते हैं, जीवन के संकटों से जुझ रहे होते हैं, तब यह

बिजली की गति से हमारे मन में कोंधता है और हमें मार्ग बता देता है - आगे बढ़ने का, संशय रहित हो जाने का, जीवित बने रहने का - ''यदेतम् विद्यतो व्यद्युतदा'' (केनोपनिषद् - ४/४)।

१५.४ (२) (१) इस प्रकार जो जीवनदायी विचार, हमारे मन में नियंता रूप में प्रगट होता है और हमारा संरक्षण करने वाला बनता है। यह मध्यमा वाक् रूप ही जाना जाता है। हमारे मन में ही रहता है।यह परम तत्व के पालन कर्ता स्वरूप का परिचय है जो हम से जुड़ा है, हमारे भीतर समाया है, हमारे भीतर ही स्थित है। इस परम तत्व को जानने के लिये मात्र दो कदम आगे बढ़ाना है हमें। प्रथम हमें मध्यमा वाक् को जान लेना है और पकड़ लेना है। अभी हम वेखरी वाक् रूपी एक ही पैर पर खड़े है, दिग्भ्रमित है, दूसरा पैर कहां रखें है ?

घनघोर अंधेरा है
नीले अम्बर सी नीलिमा में
तारों का असंख्य पुञ्ज है
तारा कोई एक नजर आता नहीं,
विचार स्थिर रह पाता नहीं।
घनघोर अंधेरा है ..... ॥१॥
क्या करें, कहाँ जाऐं,
राह कोई, कोई राह बतलाता नहीं,
प्रकाश कहीं नजर आता नहीं,
घनघोन अंधेरा है - ॥२॥
सभी मग्न हैं, स्वार्थ सिद्धि में;
छितराये हुए अमावस की चाँदनी सें,
ध्रुवतारा कोई नजर आता नहीं,
घनघोर अंधेरा है — ॥३॥
विचार स्थिर रह पाता नहीं,
प्रकाश कहीं नजर आता नहीं,
ध्रुवतारा कोई नजर आता नहीं,

घनघोर अंधेरा है
क्या करें कहाँ जावें .... ॥४॥

हरि ॐ

(२) सर्वत्र अंधकार ही है हमारे लिये। इस अंधकार से निकलने का मार्ग तमस से ज्योति की ओर जाने का मार्ग - "तमसो मा ज्योतिर्गमय" है। हम इस मध्यमा वाक् को पकड़ लेते है, तो बाहर निकल रहे होते हैं - इस अंधकार से। मध्यमा वाक् को जानने की प्रक्रिया हमारे द्वारा इसके विस्तृत विवरण में बताई गई है। यह मध्यमा वाक् शारीरिक ऐषणाओं से मुक्त करने वाली है - जाते लाग न धुछा पिपासा। (मानस १/२०९/८) मध्यमा वाक् को जान लेना पहला कदम है हमारे लिये। यदि हम मध्यमा वाक् को जान लेते हैं तो यह प्रारंभिक तौर पर जान लेना होगा अपने जीव स्वरूप को और परमात्म स्वरूप को - "सांख्य दर्शन में बताये गये, प्रकृति और पुरुष के भेद को।" जड़ शरीर और चेतन होने के स्वरूप को।यह पहला कदम आगे बढ़ाना होगा और हम इस जागतिक धरातल पर दोनों पैर टिकाकर खड़े होंगे। अपनी सामर्थ्य को जानने के लिये सक्षम होंगे। मन में स्थित होकर बुद्धि के संपर्क में होंगे। अब हमारे लिये परम तत्व अधिक दूर नहीं है, यह दूसरे कदम पर ही स्थित है हमारे लिये पश्यंती वाक् रूप में, इसके अंतिम छोर। यह मध्यमा से गुंजरता वैंखरी रुप धारण करता है और लिपि रूप में प्रगट होता है। पश्यंती वाक् को जानकर आप जान जावेंगे - वेंखरी वाक् के लिपि रूप के आधार को और परम तत्व के साकार स्वरूप के रहस्य को और उस रहस्य को भी जिसके आधार पर यह भावनानुसार अलग-अलग रूप में प्रगट होकर संपूर्ण धरती पर पूजा जाता है, उपासना किया जाता है और प्रार्थना का आधार बनता है। जिसका साम्राज्य और शासनआचार्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा -

"भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।"

(श्रीरामचरित्मानस - ७/२२/१)

अनुवाद - कौशल्या पुत्र श्रीराम ही, समस्त पृथ्वी, जिस पर सातों समुद्र मेखला (कंदोरे) के समान सुशोभित है, उसके एकमात्र राजा हैं, अधिपति हैं।

एवं महर्षि वाल्मिकी द्वारा -

"इक्ष्वाकुणामियं भूमिः सशेलवनकानना।"

(वा. रा.-४/१८/६)

अनुवाद -"पर्वत, वन और काननों (जंगलों) से युक्त यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की है, अर्थात् साकार ब्रह्मरूप श्रीराम की है"। - होना बताया गया है। यह परम तत्व हम सभी के लिये इस दूसरे कदम के पास

ही खड़ा है। परावाक् रूप में, जिसे जाना जा सकता है, अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यह ही है परम तत्व की ढ़ाई कदम की दूरी - जो ''ढ़ाई अक्षर'' रूप में प्रगट हुई है - भारतीय मानस में और गायी जाती है। युगों-युगों से हमारे द्वारा, अपनायी जाने के लिये - ''ढ़ाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होई ॥'' हमें इस ढ़ाई आखर में व्याप्त परम तत्व को जान लेना चाहिये। दो कदम चलकर। यह परम तत्व सत्य स्वरूप है, ऋत स्वरूप है। यह यद्यपि हृदय रूपी गुहा में रहता हैं किन्तु स्वतः ही प्रगट हो जाता है अपना लिये जाने पर - ''हिरण्यगर्भः'' रूप में -

सत्य प्रगट होता है, धीरे-धीरे,
एक अंतराल के बाद, अपने आप ॥ सत्य प्रगट..... ।१।
सत्य विद्यमान नहीं रहता,
यह बदलता है समय के साथ-साथ,
व्यक्ति के लिये,
और, बन जाता है डरावना भूत !
फिर, देता है जानकारी अतीत की,
हिरोशिमा या भोपाल गैस त्रासदी की,
या जहर का प्याला पीने और सुली पर टांग दिये जाने की।
या यह बताता है स्वर्णिम पृष्ठ
संस्कृति के आचरण के, अपने आप
एक अंतराल के बाद ॥ सत्य प्रगट ....।२।
सत्य छिपाया जाता है,
कड़े आवरण में, नारियल के गूदे की तरह,
चिपका रहता है यह सतह के साथ
स्वयं परिपक्व होने के लिये,
फिर, देता है जानकारी - गड़-गड़ाहट के साथ,
अपने आप, एक अंतराल के बाद ॥ सत्य प्रगट ......।३।
सत्य छिपता नहीं, प्रगट होता है,
एक अंतराल के बाद, अपने आप ॥ सत्य प्रगट .... ।४।

हम इस सत्य को जान लेवें, यह ही है - "असतो मा सद्गमय" हम जीवन में व्याप्त 'अन्य' को छोड़कर इस सत्य को ही अपना लेवें। यह सत्य ही अंधकार का विनाश करेगा - हमारे जीवन में, संपूर्ण मानवता के लिये और जब हम इस अंधकार से निकलकर इस ज्योतिर्मय सत्य को जान लेंगे तो सहज ही प्राप्त कर लेंगे - अपने अमृत स्वरूप को, जिसे हमारी वेद वाणी में कहा गया है - "मृत्योऽर्मा अमृतं गमय।" मृत्यु से अमृत की ओर जाना। मृत्यु से अमृत की ओर जाना।

"असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योऽर्मा अमृतं गमय।

ओंम शांतिः शांतिः शांतिः ॥
हरि ॐ तत् सत् ॥
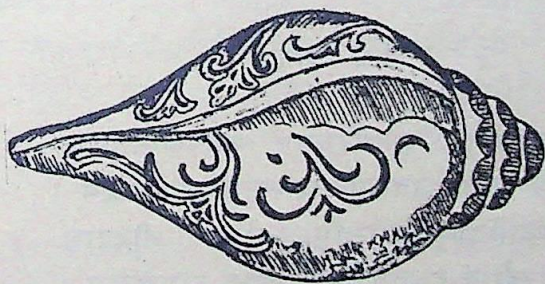
परिशिष्ट - 'क'
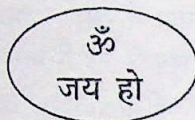
श्रीरामरक्षास्तोत्रम्

ॐ अस्य श्रीरामरक्षास्तोत्रमन्त्रस्य बुधकौशिक ऋषिः श्रीसीतारामचन्द्रो देवता अनुष्टुप् छन्दः सीता शक्तिः श्रीमान् हनुमान् कीलकं श्रीरामचन्द्रप्रीत्यर्थे रामरक्षास्तोत्रजपे विनियोगः ।

इस रामरक्षास्तोत्र-मन्त्र के बुधकौशिक ऋषि हैं । सीता और रामचन्द्र देवता हैं, अनुष्टुप् छन्द है, सीता शक्ति हैं, श्रीमान् हनुमान् जी कीलक हैं तथा श्रीरामचन्द्रजी की प्रसन्नता के लिये रामरक्षास्तोत्र के जप में विनियोग किया जाता है ।

अथ ध्यानम्

ध्यायेदाजानुबाहुं धृतशरधनुषं बद्धपद्मासनस्थं
पीतं वासो वसानं नवकमलदलस्पर्धिनेत्रं प्रसन्नम् ।
वामाङ्कारूढसीतामुखकमलमिलल्लोचनं नीरदाभं
नानालङ्कारदीप्तं दधतमुरुजटामण्डलं रामचन्द्रम् ॥

ध्यान- जो धनुष - वाण धारण किये हुए हैं, बद्धपद्मासन से विराजमान हैं, पीताम्बर पहने हुए हैं जिनके प्रसन्न नयन नूतन कमलदल से स्पर्धा करते तथा वामभाग में विराजमान श्री सीताजी के मुखकमल से मिले हुए हैं उन आजानुबाहु, मेघश्याम, नाना प्रकार के अलङ्कारों से विभूषित तथा विशाल जटाजूटधारी श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान करें ।

॥ स्तोत्रम् ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥ १ ॥

श्रीरघुनाथजी का चरित्र सौ करोड़ विस्तार वाला है और उसका एक - एक अक्षर भी मनुष्यों के महान् पापों को नष्ट करने वाला है ॥१॥

ध्यात्वा नीलोत्पलश्यामं रामं राजीवलोचनम् ।
जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम् ॥२॥
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तंचरान्तकम् ।
स्वलीलया जगत्त्रातुमाविर्भूतमजं विभूम् ॥३॥
रामरक्षां पठेत्प्राज्ञः पापघ्नीं सर्वकामदाम् ।
शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः ॥४॥

जो नीलकमलदल के समान श्यामवर्ण, कमलनयन, जटाओं के मुकुट से सुशोभित, हाथों में खड्ग, तूणीर, धनुष और बाण धारण करने वाले, राक्षसों के संहारकारी तथा संसार की रक्षा के लिये अपनी लीला से ही अवतीर्ण हुए हैं, उन अजन्मा और सर्वव्यापक भगवान् राम का जानकी और लक्ष्मणजी के सहित स्मरण कर प्राज्ञ पुरुष इस सर्वकामप्रदा और पाप विनाशिनी रामरक्षा का पाठ करें । मेरे सिर की राघव और ललाट की दशरथात्मज रक्षा करें ॥२-४॥

कौसल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती ।
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः॥५॥

कौसल्यानन्दन नेत्रों की रक्षा करें.विश्वामित्र प्रिय कानों को सुरक्षित रखें तथा यज्ञरक्षक घ्राण की और सौमित्रिवत्सल मुख की रक्षा करें ॥५॥

जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः।
स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेशकार्मुकः॥६॥

मेरी जिह्वा की विद्यानिधि, कण्ठ की भरतवन्दित, कन्धों की दिव्यायुध और भुजाओं की भग्नेशकार्मुक (महादेवजी का धनुष तोड़ने वाले) रक्षा करें ॥६॥

करौ सीतापतिः पातु हृदयं जामदग्न्यजित् ।
मध्यं पातु खरध्वंसी नाभिं जाम्बवदाश्रयः ॥७॥

हाथों की सीतापति, हृदय की जामदग्न्यजित् (परशुरामजी को जीतने वाले), मध्यभाग की खरध्वंसी (खर नाम के राक्षस का नाश करने वाले) और नाभिकी जाम्बवदाश्रय (जाम्बवान् के आश्रय स्वरूप) रक्षा करें ॥७॥

सुग्रीवेशः कटी पातु सक्थिनी हनुमत्प्रभुः ।
ऊरू रघूत्तमः पातु रक्षःकुलविनाशकृत् ॥८॥

कमर की सुग्रीवेश (सुग्रीव के स्वामी), सक्थियों की हनुमत्प्रभु और ऊरुओं की राक्षसकुलविनाशक रघुश्रेष्ठ रक्षा करें ॥८॥

जानुनी सेतुकृत्पातु जङ्घे दशमुखान्तकः ।
पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः ॥९॥

जानुओं की सेतुकृत्, जङ्घाओं की दशमुखान्तक (रावण को मारने वाले), चरणों की विभीषणश्रीद (विभीषण को ऐश्वर्य प्रदान करने वाले) और सम्पूर्ण शरीर की श्रीराम रक्षा करें ॥९॥

एतां रामबलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत् ।
स चिरायुः सुखी पुत्री विजयी विनयी भवेत् ॥१०॥

जो पुण्यवान् पुरुष रामबल से सम्पन्न इस रक्षा का पाठ करता है वह दीर्घायु, सुखी, पुत्रवान्, विजयी और विनय सम्पन्न हो जाता है ॥१०॥

पातालभूतलव्योमचारिणश्छद्मचारिणः
न द्रष्टुमपि शक्तास्ते रक्षितं रामनामभिः ॥११॥

जो जीव पाताल, पृथ्वी अथवा आकाश में विचरते हैं और जो छद्मवेश से घूमते रहते हैं वे रामनामों से सुरक्षित पुरुष को देख भी नहीं सकते ।

रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन् ।
नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥१२॥

'राम'. 'रामभद्र', 'रामचन्द्र' इन नामों का स्मरण करने से मनुष्य पापों से लिप्त नहीं होता तथा भोग और मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

जगज्जैत्रैकमन्त्रेण रामनाम्नाभिरक्षितत् ।
यः कण्ठे धारयेत्तस्य करस्थाः सर्वसिद्धयः ॥१३॥

जो पुरुष जगत् को विजय करने वाले एकमात्र मन्त्र रामनाम से सुरक्षित इस स्त्रोत को कण्ठ में धारण करता (अर्थात् इसे कण्ठस्थ कर लेता है) सम्पूर्ण सिद्धियाँ उसके हस्तगत हो जाती हैं ।

वज्रपञ्जरनामेदं यो रामकवचं स्मरेत् ।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमङ्गलम् ॥१४॥

जो मनुष्य वज्रपञ्जर नामक इस रामकवच का स्मरण करता है उसकी आज्ञा का कहीं उल्लङ्घन नहीं होता और उसे सर्वत्र जय और मङ्गल की प्राप्ति होती हैं ।

आदिष्टवान्यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः ।
तथा लिखितवान्प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिकः ॥१५॥

श्री शङ्कर ने रात्रि के समय स्वप्न में इस रामरक्षा का जिस प्रकार आदेश दिया था उसी प्रकार प्रातःकाल जागने पर, बुधकौशिक ने इसे लिख दिया ।

आरामः कल्पवृक्षाणां विरामः सकलापदाम् ।
अभिरामस्त्रिलोकानां रामः श्रीमान्स नः प्रभुः ॥१६॥

जो मानो कल्पवृक्षों के बगीचे है तथा समस्त आपत्तियों का अन्त करने वाले है, जो तीनों लोकों में परम सुन्दर है वे श्रीमान् राम हमारे प्रभु हैं ।

तरुणौ रुपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥१७॥
फलमूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥१८॥
शरण्यौ सर्वसत्त्वानां श्रेष्ठौ सर्वधनुष्मताम् ।
रक्षःकुलनिहन्तारौ त्रायेतां नो रघूत्तमौ ॥१९॥

जो तरुण अवस्था वाले, रुपवान, सुकुमार, महाबली, कमल के समान विशाल नेत्रवाले, चीरवस्त्र और कृष्णमृगचर्मधारी, फल - मूल आहार करनेवाले, संयमी, तपस्वी, ब्रह्मचारी, सम्पूर्ण जीवों को शरण देनेवाले, समस्त धनुर्धारियों में श्रेष्ठ और राक्षसकुल का नाश करनेवाले हैं वे रघुश्रेष्ठ दशरथकुमार राम और लक्ष्मण दोनों भाई हमारी रक्षा करें ।

आत्तसज्जधनुषाविषुस्पृशावक्षयाशुगनिषङ्गसङ्गिनौ ।
रक्षणाय मम रामलक्ष्मणावग्रतःपथि सदैव गच्छताम् ।२०॥

जिन्होंने सन्धान किया हुआ धनुष ले रखा हैं, जो बाण का स्पर्श कर रहे हैं तथा अक्षय बाणों से युक्त तूणीर लिये हुए हैं वे राम और लक्ष्मण मेरी रक्षा करने के लिये मार्ग में सदा ही मेरे आगे चलें ॥२०॥

सन्नद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा ।
गच्छन्मनोरथान्नश्च रामः पातु सलक्ष्मणः ॥२१॥

सर्वदा उद्यत, कवचधारी, हाथ में खड्ग लिये, धनुष-बाण धारण किये तथा युवा अवस्था वाले भगवान् राम लक्ष्मणजी के सहित आगे -आगे चलकर हमारे मनोरथों की रक्षा करें ।

रामो दाशरथिः शूरो लक्ष्मणानुचरो बली ।
काकुत्स्थः पुरुषः पूर्णः कौसल्येयो रघूत्तमः ॥२२॥
वेदान्तवेद्यो यज्ञेशः पुराणपुरुषोत्तमः ।
जानकीवल्लभः श्रीमानप्रमेयपराक्रमः ॥२३॥
इत्येतानि जपन्नित्यं मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः ।
अश्वमेधाधिकं पुण्यं सम्प्राप्नोति न संशयः ॥२४॥

(भगवान का कथन है कि) राम, दाशरथि, शूर, लक्ष्मणानुचर, बली, काकुत्स्थ, पुरुष, पुर्ण, कौसल्येय, रघूत्तम, वेदान्तवेद्य, यज्ञेश, पुरुषोत्तम, जानकीवल्लभ, श्रीमान् और अप्रमेयपराक्रम - इन नामों का नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक जप करने से मेरा भक्त अश्वमेध यज्ञ से भी अधिक फल प्राप्त करता हैं - इसमें कोई सन्देह नहीं ॥२२-२४॥

रामं दूर्वादलश्यामं पद्माक्षं पीतवाससम् ।
स्तुवन्ति नामभिर्दिव्यैर्न ते संसारिणो नराः ॥२५॥

जो लोग दूर्वादल के समान श्यामवर्ण, कमलनयन, पीताम्वरधारी, भगवान् राम का इन दिव्य नामों से स्तवन करते हैं वे संसार चक्र में नहीं पड़ते ॥२५॥

रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतापतिं सुन्दरं
काकुत्स्थं करुणार्णवं गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम् ।
राजेन्द्रं सत्यसन्धं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्तिं
वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं रावणारिम् ॥२६॥

लक्ष्मण जी के पूर्वज, रघुकुल में श्रेष्ठ, सीताजी के स्वामी, अति सुन्दर, ककुत्स्थकुलनन्दन, करुणासागर, गुणनिधान, ब्राह्मणभक्त, परम धार्मिक, राजराजेश्वर, सत्यनिष्ठ, दशरथपुत्र, श्याम और शान्तमूर्ति, सम्पूर्ण लोकों में सुन्दर रघुकुलतिलक, राघव और रावणारि भगवान राम की मैं वन्दना करता हूँ ॥२६॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।

रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥२७॥

राम, रामभद्र, रामचन्द्र, विधातृस्वरूप, रघुनाथ प्रभु सीतापति को नमस्कार है ॥२७॥

श्रीराम राम रघुनन्दन राम राम

शीराम राम भरताग्रज राम राम ।

श्रीराम राम रणकर्कश राम राम

श्रीराम राम शरणं भव राम राम ॥२८॥

हे रघुनन्दन श्रीराम ! हे भरताग्रज भगवान् राम ! हे रणधीर प्रभु राम ! आप मेरे आश्रय होइये ॥२८॥

श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि

श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि ।

श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि

श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥२९॥

मैं श्रीरामचन्द्र के चरणों का मन से स्मरण करता हूँ, श्रीरामचन्द्र के चरणों का वाणी से कीर्तन करता हूँ, श्रीरामचन्द्र के चरणों को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ, तथा श्रीरामचन्द्र के चरणों की शरण लेता हूँ ॥२९॥

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः

स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः ।

सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालु -

र्नान्यं जाने नैव जाने न जाने ॥३०॥

राम मेरी माता हैं, राम मेरे पिता हैं, राम स्वामी हैं और राम ही मेरे सखा हैं । दयामय रामचन्द्र ही मेरे सर्वस्व हैं; उनके सिवा और किसी को मैं नहीं जानता - बिलकुल नहीं जानता ॥३०॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा ।

पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥३१॥

जिनकी दायीं ओर लक्ष्मण जी, बायीं ओर जानकीजी और सामने हनुमानजी विराजमान हैं उन रघुनाथजी की मैं वन्दना करता हूँ ॥३१॥

लोकाभिरामं रणरङ्गधीरं

राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम् ।
कारुण्यरूपं करुणाकरं तं
श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये ॥३२॥

जो सम्पूर्ण लोकों में सुन्दर, रणक्रीडा में धीर, कमलनयन, रघुवंशनायक, करुणामूर्ति और करुणा के भण्डार हैं उन श्रीरामचन्द्रजी की मैं शरण लेता हूँ ॥३३॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये ॥३३॥

जिनकी मन के समान गति और वायु के समान वेग है, जो परम जितेन्द्रिय और बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हैं उन पवननन्दन वानराग्रगण्य श्रीरामदूत की मैं शरण लेता हूँ ॥३३॥

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥३४॥

कवितामयी डाली पर बैठकर मधुर अक्षरों वाले 'राम-राम' इस मधुर नाम को कूजते हुए वाल्मीकि रूप कोकिल की मैं वन्दना करता हूँ ॥३४॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥३५॥

आपत्तियों को हरने वाले तथा सब प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करने वाले लोकाभिराम भगवान् राम को बारंबार नमस्कार करता हूँ ॥३५॥

भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम् ।
तर्जनं यमदूतानां रामरामेति गर्जनम् ॥३६॥

'राम-राम' ऐसे घोष करना सम्पूर्ण संसार बीजों को भून डालने वाला, समस्त सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति कराने वाला तथा यमदूतों को भयभीत करने वाला है ॥३६॥

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे
रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः ।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं

रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम मामुद्धर ॥३७॥

राजाओं में श्रेष्ठ श्रीरामजी सदा विजय को प्राप्त होते हैं। मैं लक्ष्मीपति भगवान् राम का भजन करता हूँ। जिन रामचन्द्रजी ने सम्पूर्ण राक्षससेना का ध्वंस कर दिया था, मैं उनको प्रणाम करता हूँ। राम से बड़ा और कोई भी आश्रय नहीं हैं। मैं उन श्रीरामचन्द्रजी का दास हूँ। मेरा चित्त सदा राम में ही लीन रहें; हे राम ! आप मेरा उद्धार कीजिये ॥३७॥

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्त्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥३८॥

(श्रीमहादेवजी पार्वतीजी से कहते हैं-) हे सुमुखि ! रामनाम विष्णुसहस्त्र नाम के तुल्य है। मैं सर्वदा 'राम, राम,राम' इस प्रकार मनोरम राम-नाम में ही रमण करता हूँ ॥३८॥

इति श्रीबुधकौशिकमुनिविरचितं श्रीरामरक्षास्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

परिशिष्ट –"ख"

परावाक् अक्षर ब्रह्म का अभिव्यक्त स्वरूप है-

" १ ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु
अकाल मूरति अजूनि सैभं गुर प्रसादि ॥"

अर्थात् वह परम तत्व अक्षररूप होकर -

१. सर्वरूप होकर एक ही तथा एक होकर भी सर्वव्यापी है, सर्वाधार है जिसका वर्णन करते हुए उपनिषद वाणी में कहा गया है कि वह परम तत्व न स्त्री है, न पुरूष है न नपुंसक ही है, वह जो जो शरीर धारण करता है, वह वह ही हो जाता है। (श्वेताश्वतरोपनिषद-५/१०) और यह एक परम तत्व ही इस सृष्टि के संरचना के क्रम में स्वयं ही अभिव्यक्त होकर सर्वरूप धारण किये होता है जिसकी व्याख्या करते श्रीमद्‌भगवतगीता में कहा गया है—

"बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् । ।" (१३/१५)

अर्थात् वह एक परमतत्व ही जड़ और चेतन सभी भूतों के बाहर और भीतर स्थित हैं, और वह ही चेतनप्राणियों का एवं जड़ पदार्थो का रूप धारण किये हुए है । वह परमतत्व अत्यन्त सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है अर्थात् सहजतापूर्वक नहीं जाना जा सकने वाला ही है, वह एक ही परमात्मा अत्यन्त पास में है और अति दूर तथा सबके अंत में भी वह ही है ।" सर्वरूप धारण करने वाला तथा सर्वत्र व्याप्त होने वाला वह परमतत्व है इसके स्वरूप की व्याख्या न ही की जा सकने वाला होने के कारण निराकार होकर भी सबका स्वामी, सबका ईश्वर और सबकी स्तुति तथा आराधना का आधार है–

"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तादूविदाम देवं भुनेशमीड्यम ॥"

(श्वेताश्वतरोपनिषद – ६/७)

अर्थात् "उस एक परमतत्व, ईश्वरों के भी महान् ईश्वर, सभी देवताओं के भी परम देवता, पतियों के भी परमपति अर्थात् स्वामियों के भी परम स्वामी तथा इस समस्त ब्रह्मांड के स्वामी एवं स्तुति करने योग्य इस परमात्मा को हम सबसे परे जानते है ।" इस एक परमतत्व को ही अभिव्यक्त करते हुए दृष्टा पुरुष अर्जुन द्वारा अभिव्यक्त करते हुए श्रीभगवद् गीता में कहा गया है–

"त्वमादिद्देवः पुरूषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥"

(११/३८,३९)

अर्थात् "हे अनंत रूप, आप ही आदिदेव हैं, आप ही पुराण पुरुष हैं, आप ही विश्व के परम आश्रय स्थल (निधान) हैं, आप स्वयं ही वेत्ता हैं, स्वयं ही वैद्य हैं, आप ही परम धाम हैं, आपसे यह समस्त विश्व ओतप्रोत है, आप ही वायु हैं, आप ही यमदेव हैं, आप ही अग्नि हैं, आप ही वरूण अर्थात् जल देवता हैं, आप ही चंद्रमा हैं, आप ही प्रजापति हैं, और आप ही प्रपितामह हैं । आपको नमस्कार है, अनेक बार नमस्कार है, पुनः नमस्कार है, पुनः-पुनः नमस्कार है ।"

इस एक परमतत्व की ही आराधना करने का उपदेश सत्गुरु श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को दिया गया है -

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(श्रीमद्भगवद् गीता- १८/६२)

अनुवाद- हे भारत (अर्थात् भारत भूमि के प्रतिनिधि पुरुष अर्जुन) सर्वभाव से उसी एक परमेश्वर की शरण में जाओ उसकी प्रसाद से, उसकी कृपा से परम शांति को प्राप्त होओगे, शाश्वत पद को प्राप्त करोगे) यह उपदेश भारत संबोधन के आधार पर सभी भारतवासियों के प्रति लागू होता है । इस संबोधन का यह ही आशय है । गुरूवाणी में संत मुख द्वारा कहा गया है - "हरि बिनु दूजा को नहीं एको नाम धिआइ" (श्री गुरूग्रंथ साहिब जी - पृष्ठ - ४६) अर्थात् एक परम पुरुष हरि (परमात्मा) के अतिरिक्त अन्य कोई भी देवता या स्वामी नहीं है उस एक परमपिता का नाम ही सदैव स्मरण करना चाहिये ।" हमारे द्वारा की जाने वाली प्रार्थना -

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वम् मम देवदेव ॥"

अर्थात् आप ही मेरे माता हैं, आप ही मेरे पिता हैं, आप ही मेरे भाई (रिश्तेदार) हैं, आप ही मेरे मित्र सखा हैं, आप ही मेरे लिये प्राप्त की जाने वाली विद्या के परम लक्ष्य हैं, आप ही प्राप्त किये जाने वाले पुरुषार्थ रूपी द्रव (अर्थ) हैं, आप ही मेरे संपूर्ण स्वामी हैं, स्वामी के भी स्वामी हैं ।" इस प्रकार हमारे द्वारा एकमेव परम तत्व की ही आराधना की जाती है । यह एक परमतत्व ही समस्त जगत का आश्रयस्थल है और सभी देवताओं का भी आश्रयस्थल है -

"आकाशात् पतितं तोयंयथागच्छति सागरम् ।
सर्व देवं नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥'

अर्थात् "आकाश से गिरा हुआ जल भिन्न-भिन्न नदियों में बहता हुआ जिस प्रकार अंततः सागर में जाकर समाहित हो जाता है उसी प्रकार सभी देवताओं के प्रति किया हुआ नमस्कार केशव अर्थात् एकमेव ईशवर के प्रति समर्पित होता है ।" इस एक परमतत्व को प्रगट करते हुए ही गुरूवाणी में कहा गया है -

"तू दरिआउ सभ तुझ ही माहि । तुझ बिनु दूजा कोई नाहिं ॥"

(श्री गुरूग्रंथ साहिब जी -पृष्ठ -११)

अर्थात् 'हे परमेश्वर, एकमेव तू ही सभी दूर प्रगट हुआ है तथा यह समस्त जगत तेरे भीतर ही स्थित है, तेरे बिना या तेरे अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा तत्व है ही नहीं ।" वह परम तत्व अविनाशी है **अक्षरं ब्रह्म परमं** (श्रीमद्भगवद्गीता ८/३)। अविनाशी होकर भी वह परम तत्व सर्वरूप होकर निराकार है, निर्विकार है, वह एक परमतत्व ही जगदाधार, निराकार एवं निर्विकार होकर भी ।

ओं =ओंकार रूप में अर्थात् प्रणवरूप में जाना जाता है, प्रणवाक्षर रूप में प्रगट होता है । **ओमित्येमाक्षरं ब्रह्मं** (८/१२) "यह ओम ही एकाक्षर ब्रह्म है" कहा जाता है । वह एक परमतत्व ओंकार रूप होकर ही इस समस्त जगत् को या सृष्टि को धारण करता है तथा इस जगत के उत्पत्ति विकास, और लय का कारण बनता है । जिसका वर्णन करते हुए उपनिषदवाणी में कहा गया है -
"ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वम् तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यंचान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एवं ॥"

(माण्डूक्योपनिषद-१)

अर्थात् "ॐ" ऐसा यह अक्षर रूप, अविनाशी परमात्मा है, यह संपूर्ण जगत् उसका ही विस्तार बोध कराने वाला - उपव्याख्यान - रूप है अर्थात् उसकी ही महिमा को प्रगट करता है । भूत, वर्तमान और भविष्य यह सबका सब अर्थात् जो हो चुका है, जो हो रहा है और जो होने वाला है वह सब एक ओंकार ही है एवं इन तीनों काल से परे भी यदि कोई तत्व है तो वह भी ओंकार ही है ।" उस एक परमतत्व का बोध ओंकार ध्वनि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । योगदर्शन ग्रंथ में यह ओंकार ध्वनि ही परमपिता परमात्मा या परमतत्व का बोलने में आनेवाला नाम महर्षि पतंजलि द्‌वारा बताया गया है -**"तस्यवाचक प्रणवः"** (योगदर्शन - १/२७) अर्थात् "उस ईश्वर का यथार्थरूप बतलाने वाला नाम प्रणव

= ओंम या ओंकार ध्वनि है।" यह एक ओंकार ही समस्त वेदों का आधार होना श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमभगवद्गीता में बताया गया है -"**प्रणवः सर्व वेदेषु**" (७/८) अर्थात् "सभी वेदों में एकमैव प्रणवाक्षर ओंम का ही गान किया गया है।" इस ओंकार तत्व का उपदेश करते हुए मृत्यु के देवता यमराज द्वारा आत्म तत्व के जिज्ञासु नचिकेता से कठोपनिषद में कहा गया है -

"**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपा ँ सिसर्वाणि च यद् वदन्ति।**
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरंति तत्ते पद ँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। ।
(१/२/१५)

अर्थात् "संपूर्ण वेद जिस परमतत्व का बार बार प्रतिपादन करते हैं और संपूर्ण तप जिनका लक्ष्य कराते हैं अर्थात् जिस एक परम पद को प्राप्त कर लेने के साधन हैं, तथा जिस पद को प्राप्त कर लेने की इच्छा से साधकगण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं वह पद मैं तुम्हें संक्षेप में बतलाता हूं, वह यह ओंकार ही है।" यह ओंम शब्द ध्वनि रूप होकर, अक्षर स्वरूप होकर परमतत्व परब्रह्म का ही बोध कराने वाला है -

"**एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्।**
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥"
(कठोपनिषद - १/२/१६)

अर्थात् "यह शब्द ओंकार ही ब्रह्म है और यह ओंकार ही परब्रह्म है इसलिये इसी अक्षररूप ओंकार को जानकर जो जिस को चाहता है वह उसका ही हो जाता है अर्थात् वह इच्छित साध्य को प्राप्त कर लेता है।" उस एक परम तत्व को प्राप्त कर लेने का यह शब्द रूप ओंकार ध्वनि ही एकमैव आधार है, परम आधार है -

"**एतदालम्बन ँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम**" (कठोपनिषद- १/२/१७)

अर्थात् "यह ओंम ही परम तत्व को प्राप्त कर लेने का श्रेष्ठ आलम्बन और आधार है और यह ओंकार ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय भी है।" परम तत्व अक्षर ब्रह्म को जान लेने के लिये इस एक ही नाम का ध्यान करना चाहिये - "**प्राणी एको नाम धियावहू**" (श्री गुरुग्रंथसाहिब जी पृष्ठ -१२५४)। यह प्रणवाक्षर ओंकार ध्वनि ही -

सतिनामु = परमात्मा का सच्चा नाम है। इस एक नाम का ही जप करना चाहिये। "**तज्जपस्तदर्थभावनम्**" (योगदर्शन- १/२८) अर्थात् "इस ओंम नाम का जप इसके सर्वरूप और सर्वाधार होने के अर्थ की भावना के साथ करना

चाहिये।" इसी तत्व को प्रगट करते हुए गुरुवाणी में कहा गया है - "**सासि सासि हरि नाम धियाईए**" (गुरू ग्रंथसाहिब जी पृष्ठ - १०६) अर्थात् "उस परमतत्व परमात्मा का नाम ओंम प्रत्येक सांस के साथ जपना चाहिये," एक मन होकर - भाई रे इक मनि नामु धिआई (गुरू ग्रंथ साहिब पृष्ठ - ३१)

यह निराकार एवं निर्विकार एक ओंकार कहा जाने वाला परम तत्व या परम पुरूष साकार रूप धारण करता है तो यह ही श्रीराम कहलाता है तथा संपूर्ण मानव समाज के लिये प्रेरणा पुरुष बन जाता है -

जिन्ह कर नामु लेत जग माहिं। सकल अमंगल मूल नसाहिं।
करतल होहिं पदारथ चारि। तेहु सिय रामु कहेउ कामारी॥

(श्रीराम चरित मानस १/१३५/१-२)

अनुवाद - "जिस परम पुरुष परमात्मा का नाम लेते ही जगत में सारे अमंगल जड़ मूल से नष्ट हो जाते है और चारों पुरूषार्थ - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मुट्ठी में आ जाते है ये वहीं जगत के माता पिता श्री सीता राम है" भगवान शंकर (काम को मारने वाले) ने ऐसा कहा है।

"**अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई। ।**"

(श्रीरामचरितमानस -१/११६/२)

इस प्रकार साकार रूप धारण कर लेने पर एक ओंकार का ही दूसरा नाम कहा जाता है - "**श्रीराम**"। यह राम नाम ही परम तत्व का सच्चा नाम है जिसके संबंध में भगवान् शंकर कहते हैं - "**गिरिजा ते नर मंद जे न भजहिं श्रीराम**" (श्रीरामचरितमानस - ६/७१) इस राम नाम को ही समस्त कार्यपूरण करने वाला - "**हरि राम राम राम रामा। जपि पूरन होई कामा॥**" (श्री गुरूग्रंथ साहिबजी पृष्ठ - २१८) तथा गहन गंभीर एवं अमृत रूप - "**गहिर गंभीर अम्रित नाम तेरा**" (श्री गुरुग्रंथ साहिब पृष्ठ -१०१) होना गुरुवाणी में कहा गया है। इस नाम रूप को ही उपनिषदवाणी में प्रगट करते हुए कहा गया है कि वह परम तत्व, परम पुरुष परमात्मा जगदाधार होकर, सर्वरूप होकर भी निराकार है उसे कहीं से भी प्रगट नहीं किया जा सकता है उसकी कोई प्रतिमा नहीं है या उसका कोई अभिव्यक्त स्वरूप अर्थात् प्रतिमा भी नहीं है -

"नैनमूर्ध्वम् न तिर्यचं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद ४/१९)

अर्थात् "उस परम पुरुष परमात्मा, परमतत्व निराकार अक्षर ब्रह्म को

न तो ऊपर से, न इधर उधर से, न बीच से ही भलीभाँति पकड़ा जा सकता है अर्थात् ग्रहण किया जाकर प्रगट किया जा सकता है क्योंकि उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, उसका तो नाम ही महान् यश प्रदान करने वाला है ।" वह परम तत्व प्रकाश स्वरूप है । **"रवि तुल्य रूपः"** (श्वेताश्वतरोपनिषद ५/८) । वह परम तत्व दैदिप्यमान सूर्य की भाँति रूप वाला है । इसे ही श्रीमद्भगवद्गीता में सहस्त्रों सूर्यों की भाँति दीप्तिमान - **"दिवी सहस्त्र सूर्यस्य"** (श्रीमद्भगवद् गीता ११/१२) एवं ज्योंतियों का भी ज्योति - **"ज्योतिषामपि तज्जयोतिः"** (श्रीमद्भगवद्गीता १३/१७) कहा गया है । यह परम तत्व प्रकाशरूप है - **"सहजप्रकाश रूप भगवाना"** (श्रीरामचरितमानस - १/११६/७) तथा उसका बोध प्रकाशरूप ही होता है- **"छविगृह दीपशिखा जनु बरई"** (श्रीरामचरितमानस - १/२३०/७) अर्थात् "वह परमतत्व उसी प्रकार दृष्टिगोचर होता है मानों जिस प्रकार कि मंदिर में कोई दीपक जल रहा हो"। **"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्ण"** (मुण्डकोपनिषद ३/१/३) जब देखा जाता है । उस ज्योति स्वरूप परमात्मा का तो एक मात्र नाम ही सच्चा परिचय है जिसे प्रगट करते हुए भगवान शंकर स्वयं कहते हैं -

"उमा कहऊ मैं अनुभव अपना, सत हरि भजनु जगत सब सपना । ।"

(श्रीरामचरितमानस - ३/३९/५)

अर्थात् भगवान शंकर कहते है - हे उमा, मैं अपना अनुभव कहता हूं हरि का भजन ही सत्य है, यह सारा जगत तो स्वप्न की भाँति झूठा है ।" परम तत्व का यह नाम ही एकमात्र सेतु होता है, भवसागर से पार उतरने का, तर जाने का -

"नाथ नाम तव सेतू नर चढ़ि भवसागर तरहिं ॥"

(श्रीरामचरितमानस - ६/१ सोरठा)

अर्थात् "हे परम तत्व, आपका तो नाम ही सेतू है, जिस पर चढ़ कर या जिसका आश्रय लेकर मनुष्य इस संसार रूपी समुद्र से पार हो जाते हैं ।" **"मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा"** (श्रीरामचरितमानस - ३/३६/१) अर्थात् नाम रूपी मन्त्र जाप मे ही मेरा दृढ़ विश्वास है" को अपनाकर ।

इस प्रकार उस परम तत्व का तो एक नाम ही सच्चा परिचय है, जिसे संत गुरुनानकदेव द्वारा **"सतिनामु"** कहा गया है । परम तत्व के इस नाम की सत्यता और अमरता का गान हमारे द्वारा युगों-युगों से किया जा रहा है - **"राम नाम सत्य है"** कहा जाकर, मृत्यु अर्थात् महाप्रयाण के अवसर पर यह **"रामनाम अवलंबन एकू"** (श्रीरामचरितमानस - १/२३०/७) अर्थात् "रामनाम ही एक मात्र अवलंबन है को जीवन में अपना लियो जाना है, जीवन के साथ जोड़ दिया

जाना है। यह नाम ही एकमेव सत्य है, अमृत स्वरूप है - **"अम्रितु साचा नामु है कहणा कछु न जाइ"** (श्रीगुरुग्रंथसाहिब पृष्ठ - ३३) इस प्रकार स्पष्ट है कि उस परम तत्व की कोई प्रतिमा नहीं है, नाम ही उसका एकमेव स्वरूप है, हमें नाम की ही आराधना करना चाहिये। यह नाम ही यश प्रदान करने वाला है। उस परम पिता परमात्मा का लोक पालक मूर्त रूप **'अन्न'** होना उपनिषद् वाणी में (एतरेयोपनिषद्- १/३/१-२) बताया गया है अतः हमें अन्न का अपव्यय रोकना चाहिये, अन्न की वृद्धि करना चाहिये तथा भूखे व्यक्ति को अन्न देना चाहिये, यह ही परमात्मा के मूर्त रूप की उपासना है। अन्न को झूठा छोड़कर इसका अपमान कदापि नहीं करना चाहिये। अन्न की आलोचना/निंदा नहीं करना चाहिये।

उस परम तत्व का परिचय एकमेव नाम आधार पर ही दिया जा सकता है तथा उसे नाम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, वह ही इस सम्पूर्ण जगत् का सृजन करने वाला - 'कर्ता पुरुष' है। जिसका वर्णन करते हुए आत्म द्रष्टा ऋषिगण उपनिषद्वाणी में कहते हैं -

"स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाल्लोकानसृजतः ॥"

(एतरेयोपनिषद् - १/१/१-२)

अर्थात् "उस परम तत्व ने इच्छा की, कि मैं लोकों की संरचना करूं, सृष्टि जगत् की संरचना करूं। उसने ही इन सभी लोकों की संरचना की है। अपने इस सृष्टि कर्म का वर्णन करते हुए परम तत्व श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं -

"अहंसर्वस्य प्रभवो मत्त सर्वम् प्रवर्तते।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - १०/८)

अर्थात् "मैं वासुदेव ही समस्त जगत की उत्पत्ति का कारण और सबका स्वामी हूँ।" वह परम तत्व ही इस सृष्टि की संरचना करता है - **"लोकस्य सृजिति प्रभुः"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ५/१४)। **"बीजं मां सर्व भूतानां"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ७/१०) - सम्पूर्ण भूतों का उत्पत्ति कारण बीज स्वरूप मैं ही हूँ। वह एक परम तत्व ही सृष्टि के आरंभ में इस जगत् की संरचना करता है - **"कल्पादौ सृजाम्यहम्"** (श्रीमद्भगवद्गीता - ९/७) तथा प्रकृति के वशीभूत हुए समस्त भूत समुदाय और मानव समुदाय की संरचना उनके कर्मो के अनुसार पुनः-पुनः करता है -

"प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ९/८)

अर्थात् - "अपनी अष्टधा प्रकृति को अंगीकार करके स्वभाव वश इसके वशीभूत हुए इस समस्त प्राणी समुदाय को मैं बार- बार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूं।" उस परम पुरुष के इस संरचना कर्म का वर्णन करते हुए श्रीरामचरितमानस में कहा गया है -

जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा। (१/८६ छंद)

अर्थात् "वह परम तत्व बिना किसी दूसरे संगी अथवा सहायक के अकेले ही स्वयं को ही त्रिगुण रुप - ब्रह्मा, विष्णु, शिव रूप बनाकर अर्थात् उत्पत्ति, विकास और लय रूप में इस सृष्टि की संरचना करता है।" वह परम अक्षर तत्व ही कर्ता पुरुष होकर ब्रह्म अर्थात् **"करता पुरखु"** कहा जाता है। जगत के सभी कर्मो की उत्पत्ति इस "करता पुरुष" ब्रह्म से ही होती है। - **"कर्म ब्रह्मोद्‌भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्‌भवम्।"** (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - ३/१५) अर्थात् "सभी कर्म कर्ता पुरुष ब्रह्म से उत्पन्न होते है और यह ब्रह्म अर्थात् अधर तत्व निराकार स्वरूप का ही प्रागट्‌य है" इस कर्ता पुरुष को ही राम या श्रीराम कहा जाता है, जिसकी कर्मशीलता का वर्णन करते हुए कहा है -

"बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भागी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनुबास असेषा।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिंबरनी।

(श्रीरामचरितमानस - १.११८/५ से ८)

अर्थात् "वह कर्ता पुरुष ब्रह्म बिना ही पैर के चलता है, बिना कान के सुनता है, बिना ही हाथ के नाना प्रकार के काम करता है, बिना मुख के ही सारे सुखों का आनंद लेता है और बिना ही वाणी के बहुत योग्य वक्ता है। वह बिना ही शरीर के अर्थात् त्वचा रहित होकर स्पर्श करता है, बिना ही आंखों के देखता है और बिना ही नाक के सब गंधों को ग्रहण करता है, सूंघता है। उस कर्ता पुरुष ब्रह्म की करनी सभी प्रकार से ऐसी अलौकिक है कि जिसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता है।" उस एक कर्ता पुरुष परम तत्व की इच्छा से ही इस जगत् का संचालन होता है, सभी घटनाक्रम क्रमशः घटित होता है -

"राम कीन्ह चाहहि सोई होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥"

(श्रीरामचरितमानस - १/१२८/१)

वह एकमेव परम तत्व ही इस जगत का सृजनकार है - जिसका वर्णन करते हुए गुरुवाणी में कहा गया है -

"हुकमी होवनि आकार हुकुम न कहिआ जाई ।
हुकमी होव निजीअ हुकमि मिलै वडिआई ॥
हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाई अहि ।
इकना हुकमी बख़सीस इकि हुकमी सदा भवाई अहि ॥
हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोई ।
नानक हुकमै जे बुझै त हउमै कहै न कोई ॥

(श्री गुरुग्रंथसाहिव पृष्ठ - १)

वह परम तत्व ही सर्व रुप धारण करके इस जगत में स्वयं ही कर्ता होता है, जिसका वर्णन करते हुए संत कबीर कहते हैं -

"कबीर नाहम कीआ ना करहिगे ना करि सकै सरीरू ।
किआ जानउ किछु हरिकीआ भइओ कबीरू कबीरू ॥"

(श्री गुरूग्रंथसाहिब पृष्ठ - १३६७)

वह कर्ता पुरुष अपना यह सृष्टि कर्म अर्थात् इस जगत के सभी चर-अचर भूत समुदाय की उत्पत्ति, विकास, धारण और उसके लय तथा पुनः-पुनः सृजन का कार्य स्वयं ही करता है - निर्भय होकर -

निरभउ - वह कर्ता पुरुष परम तत्व अभय स्वरूप है । वह ही सभी प्राणियों सभी भूत समुदाय का भय दूर करने वाला है, वह स्वयं निर्भय है, उसके भय से ही इस जगत के सभी आधार अपना-अपना दायित्व पूरा करके निर्भय स्वरूप हो जाते हैं -

"भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥"

(कठोपनिपद् - २/३/२)

अर्थात् "इस कर्ता पुरुष ब्रह्म के भय से ही अग्नि तपता है, इसके भय से ही सूर्य प्रकाशवान् होता है, इसके भय से ही इंद्र वर्षा करता है अर्थात् समस्त भूत समुदाय के जीवन का कारण बनता है । इस परम तत्व के भय से ही वायु, प्राणवायु रूप में प्रवाहित होता है, संचरण करता है और इस कर्ता पुरुष के भय से ही पांचवा मृत्यु का देवता दौड़-दौड़कर अपना कार्य पूर्ण करता है ।" इस प्रकार इस सृष्टि पर जीवन के सभी आधार - अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु और मृत्यु उस परम कर्ता पुरुष ब्रह्म के भय से ही अपना-अपना दायित्व पूरा करते हैं । हमें भी अपने कर्म को पूरा करते समय इस कर्ता पुरुष परम तत्व से ही डरना चाहिये, अन्य किसी से नहीं । हमें अपना दायित्व पूरा करके निर्भयता को प्राप्त कर लेना चाहिये

क्योंकि यह कर्ता पुरुष ही समस्त कर्मो को उत्पन्न करने वाला है -

"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि" (श्रीमद्भगवद्गीता - ३/१४)

नियत कर्म को अपना लेना ही स्वधर्म का पालन करना होता है तथा यह कर्तव्य कर्म ही भय को दूर करने वाला बन जाता है -

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/४०)

अर्थात् स्व कर्म रुप धर्म का थोड़ा सा भी पालन अपनी सामर्थ्य के अनुसार करना महान भय का निवारण कर देता है । वह परमतत्व एकमेव कर्ता पुरुष होकर अपने कर्मो को निर्भय होकर अर्थात् स्वतंत्र होकर पूरा करने वाला है । महर्षि नारद इसका वर्णन करते हुए कहते हैं -

"परम स्वतंत्र न सिरपर कोई । भावई मनहि करहु तुम्ह सोई ॥"

(श्रीरामचरितमानस - १/१३७/१)

वह परम पुरूष कर्ता पुरूष अर्थात् ब्रह्मरूप होकर परम स्वतंत्र है - "सदा स्वतंत्र एक भगवाना" (श्रीरामचरितमानस ६/७३/१२) कर्ता पुरुष की इस निर्भयता को या स्वतंत्रता को ही व्याकरण ग्रंथो में - "स्वतंत्रःकर्ता" रूप में प्रगट किया जाकर हमारे द्वारा जीवन में अपना लिया गया है । इस निर्भय स्वरूप का गान करते हुए गुरूवाणी में कहा गया है कि -

"निरभउ सदा दइआलु है सभना करदा सार"

(श्री गुरूग्रंथ साहिब पृष्ठ - २६)

वह कर्ता पुरुष सभी को निरभउ अर्थात् निर्भय करने वाला है जिसका वर्णन करते हुए संत गुरूनानकदेव कहते हैं -

"तेरे भरोसे पिओरे मैं लाड़ लडाइआ ।
भूलहिचूकहि बारिक तूं हरि पिता माइआ ॥"

(श्रीगुरूग्रंथ साहिब पृष्ठ -५१)

वह परम तत्व निर्भय होकर, मनोमय है तथा वह ही सभी के अंदर विराजित होकर भी सभी के प्राण और शरीर का नेता है ।-"मनोमयः प्राणशरीर नेता" (मुण्डकोपनिषद- २/२/७) वह परम तत्व कर्ता पुरुष होकर सभी का स्वामी है और सभी को अभय प्रदान करने वाला है । मृत्यु के भय से उबारने वाला है -"प्रभ की प्रीति जम ते नही डरै"(श्रीगुरूग्रंथ साहिब पृष्ठ ३१९) "निरभउ भये सगल भउ मिटिआ चरन कमलआधारे है "(श्री गुरूग्रंथ साहिब पृ. १२१७) अर्थात वह परम तत्व कर्ता पुरुष सभी भय को मिटाने वाला है

एकमात्र उसका आधार ले लिये जाने पर वह परम तत्व निर्भय, मनोमय और स्वतंत्र कर्ता पुरूष होकर भी -

निरवैरू = किसी के साथ बैर नही करने वाला है । वह परम तत्व राग-द्वेष रहित होकर सभी का पोषण करने वाला, सभी को धारण करने वाला, तथा सभी का हित करने वाला - "सर्व भूत हिते रतः" है वह निर्दोष रूप से सभी का समान संरक्षण करने वाला है "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ५/१९), वह परम तत्व करूणावान दयालु होकर सभी का भला चाहने वाला है - **सुहृदं सर्व भूतानां** - (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - ५/२९) तथा सभी प्राणियों के प्रति समान भाव रखने वाला और किसी के भी प्रति द्वेष भाव नहीं रखने वाला - **समोऽहं सर्व भूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति् न प्रियः** (श्रीमद्‌भगवद् गीता ९/२९) अर्थात् मैं सभी चर एवं अचर भूतों के प्रति समभाव रखता है न कोई मेरा अप्रिय हैं न कोई मेरा प्रिय है, वह परम तत्व सभी को मोक्ष प्रदान करने वाला (श्रीमद् भगवद् गीता ९/३२) है । वह परम तत्व ही सभी को जन्म देने वाला है जिसका वर्णन करते हुए श्रीमद्‌भगवद् गीता में कहा गया है-

"मम योनिर्महदब्रह्म तस्मिन्गर्भम् दधाम्यहम् ।
संभव सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः संभंवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

(१४/३व४)

अर्थात् "हे भारत (भारतभूमि के प्रतिनिधि पुरुष) मेरी मूल अष्टधा प्रकृति संपूर्ण भूतों को जन्म देने वाली महान् कर्ता रूप (ब्रह्मरूप) योनि है । उस मूल प्रकृति रूपी योनि अर्थात् अष्टधा प्रकृति में स्वयं ही चर और अचर सभी भूतों की उत्पत्ति के कारण - गर्भ की स्थापना करता हूं जिससे सभी भूतों की उत्पत्ति होती है तथा सभी भूतों की उत्पत्ति का कारण मैं ही बनता हूं । हे कौंतेय! अर्थात् कुंती माता जो सभी पुत्रों का समान रूप से हित साधन तथा संरक्षण करती है, ऐसी माता के पुत्र अर्जुन समस्त भूत समुदाय जो मूर्त रूप धारण करके उत्पन्न होता है,मेरी यह महत्त प्रकृति उन सब को जन्म देने वाली तथा समान संरक्षण करने वाली माता है तथा मैं ही उन सबका कारण भूत अर्थात् जन्म का हेतु बीज स्थापित करने वाला पिता हूं । अपने रचना कर्म को प्रकट करते हुए श्रीरामचरितमानम मानस ग्रंथ में परम तत्व श्रीराम स्वयं कहते हैं -

"मम माया संभव संसारा ।

जीव चराचर विविध प्रकारा ॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए ।
सब ते अधिक मनुज मोहि भाए ॥''

(७/८६/३व४)

वह परम तत्व ही सभी मनुष्यों को मुक्ति प्रदान करने वाला है -
''सनमुख होहि जीवमोहि जबहि । जन्म कोटि अघ नाशहु तबहि ।' '

(श्रीरामचरितमानस - ५/४४/२)

वह परम तत्व ही सभी मनुष्यों का समान रूप से संरक्षण करने वाला तथा सभी की इच्छाओं की पूर्ति करने वाला है । -

''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।''

(श्रीमद्भगवद्गीता - ४/११)

अर्थात् जो मनुष्य जिस प्रकार मेरी शरण में आता है या जिस प्रकार मुझे भेजता है अर्थात् जितना समर्पण भाव अपनाता है उसके मेरी शरण में आने पर मैं भी उसी प्रकार आश्रय प्रदान करता हूं उसका संरक्षण करता हूं और उसके कष्टों को बांट लेता हूं उनका भंजन करता हूं ।'' इस प्रकार मानव मात्र के प्रति प्रेम का भाव ही परम तत्व का गुण है, वह किसी के प्रति भी भेदभाव या रागद्वेष नहीं रखता है । वह परम तत्व इस सृष्टि संरचना के क्रम में स्वयं ही मछुआरा है, स्वयं ही मछली है, स्वयं ही पानी है तथा स्वयं ही जाल भी है -''आपे माछी मछुली आपे पाणी जानु ।'' (श्रीगुरूग्रंथ साहिब पृष्ठ - २ ३) अर्थात् ''वह लीला पुरुष ही यह सृष्टि रूपी समस्त खेल स्वयं खेलता है वह परम तत्वनिर्वेर है और उसे सभी प्राणियों के प्रति निर्वेब होकर ही प्राप्त किया जा सकता है-

''निर्वैरः सर्व भुतेषु यः स मामेति पाण्डवः (११/५५)

वह परम तत्व खेलरत होकर सभी मनुष्यों के प्रति उनकी आराधना और समर्पण भाव के अनुरूप पृथक-पृथक स्नेह रखने वाला और आकांक्षा की पूर्ति करने वाला होकर भी-

अकालमूरति = अक्षर स्वरूप है । **''अक्षरं ब्रह्मं परमं ।''** (श्रीमद्भगवद् गीता -८/३) अर्थात् ''वह परम तत्व कभी क्षीण नहीं होने वाला परम परमात्मा है वह परम तत्व सनातन और शाश्वत स्वरुप धारण करने वाला है -

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २/१७)

अर्थात् तू नाश रहित तो उसको जान, जिससे यह संपूर्ण जगत दृश्य रूप में व्याप्त है। इस अविनाशी परम तत्व का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है । वह काल के द्वारा नष्ट नहीं होने वाला परमात्मा ही जानने योग्य, सबका आश्रय, धर्म को धारण करना वाला तथा सनातन पुरुष है जिसका वर्णन करते हुए अर्जुन द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

"त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो में । । (११/१८)

अर्थात् "आप जानने योग्य परम अक्षर परब्रह्म परमात्मा है, आप ही इस जगत के परम आश्रय स्थल है आप अविनाशी होकर धर्म को जानने वाले, धारण करने वाले और संरक्षण करने वाले हैं, आप सनातन पुरुष अर्थात् 'अकालमूरति' हैं ऐसा मेरा मत हैं ।"सनातन स्वरुप धारण करने वाला वह परम तत्व काल से परे होकर स्वयं काल स्वरुप है जिसका वर्णन करते हुए श्रीरामचरितमानस ग्रंथ में उसे - "भुवनेश्वर कालहु कर काला ।" (श्रीरामचरितमानस - ५/३९/१) अर्थात् इस समस्त जगत का स्वामी और काल का भी महाकाल कहा गया है । अपने इस अकाल स्वरुप को प्रगट करते हुए श्रीमद्भगवद् गीता में परम तत्व श्रीकृष्ण स्वयं कहते है **"कालः कलयतामहम्"** (१०/३०) गिनती करने वालों में गणना का आधार संयम में है । तथा कहा गया है - **"कालोअस्मि"** (११/३२) मैं स्वयं काल स्वरुप हूं । **"अहमेवाक्षयः कालो धाताहं ।"**(१/३३) अर्थात् मैं अक्षय स्वरुप होकर अर्थात् अविनाशी होकर मैं ही काल को धारण करने वाला हूं । सभी को धारण करने वाला यह अक्षय परमात्मा ही चेतनता को धारण कर लेने पर आत्मा कहा गया है जिसका वर्णन करते हुए परम तत्व श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं -

नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः
नचैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयंसनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योंऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

(श्रीमद्भगवद्गीता - २/२३ से २५)

अर्थात् "इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकतें, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और इसको वायु नहीं सुखा सकता है । यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य है और यह आत्मा अक्लेद्य तथा अशोष्य

है। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अत्यंत सूक्ष्म, अचल अर्थात् स्थिर रहने वाला और सनातन है। यह आत्मा अव्यक्त है। यह अचिंत्य है और यह आत्मा विकार रहित है, ऐसा कहा जाता है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

(श्रीमद्भगवद् गीता २/१९)

अर्थात् "जो इस आत्मा को मरने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है।"

वह परम तत्व परमात्मा अजर अमर है इसे ही प्रकट करते हुए आगे कहा गया है -

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

(श्रीमद्भगवद् गीता - ८/२२)

अर्थात् उत्पत्ति और लय भी परे, अव्यक्त से भी अति परे अन्य जो विलक्षण सनातन व्यक्त भाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है।

यह सभी को धारण करने वाला अजर, अमर, अविनाशी, सनातन पुरुष, परम तत्व परमात्मा ही सबसे श्रेष्ठ है और सबके द्वारा वंदनीय है।

"कस्माञ्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥"

(श्रीमद्भगवद् गीता - ११/३७)

अर्थात् "हे महात्मन्, आप ब्रह्मा के भी आदि कर्ता और सभी से श्रेष्ठ हैं, महान हैं, गरिमामय हैं, वे किस प्रकार आपको नमस्कार नहीं करें? अर्थात् आप सबसे बड़े हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवताओं द्वारा पूजन किये जाते हैं। हे अनंत रूप, हे देवताओं के स्वामी, हे संपूर्ण जगत के आश्रय स्थल आप अक्षर स्वरूप हैं, सत और असत से परे भी जो कुछ है वह अविनाशी परमात्मा "अकालमूरति" आप ही हैं।
वह परम तत्व अविनाशी अकाल मूरति परमात्मा - **अजूनी सैभं** = अजन्मा होकर भी सर्वरूप है। वह परम तत्व शाश्वत सनातन स्वरूप है -

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे ॥

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - २/२०)

अर्थात् "यह अविनाशी आत्मा (परमात्मा) किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता ही है। तथा न यह उत्पन्न होकर फिर मरने होने वाला ही है। अर्थात् न जन्म और पुनर्जन्म को धारण करने वाला ही है। यह आत्मा अजन्मा नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इस आत्मा का नाश नहीं होता है।" **"पुरुषं शाश्वत दिव्यभादिदेवभजं विभुम्"** ॥ (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - १०/१२) अर्थात् वह परम तत्व सनातन पुरुष स्वरुप, दिव्य रूप होकर देवों का भी आदि दैव है, अजन्मा और सर्व व्यापी है। यह अविनाशी, अजन्मा परम तत्व ही है -

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

(श्रीमद्‌भगवद् गीता - ४/६)

अर्थात् अजन्मा और अव्यय (अविनाशी) तथा चर और अचर समस्त भूत समुदाय का ईश्वर होने पर भी अपनी अष्टधा प्रकृति का अधिष्ठान करके मैं अपनी माया रूप में प्रगट होता हूं। यह परम तत्व ही सर्वरूप होकर सदैव ही इस जगत में बना रहता है -

"न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वेवयमतः परम् ॥"

(श्रीमद्‌भगवद् गीता - २/१२)

अर्थात् "न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तू नहीं था, अथवा ये समस्त जन समुदाय और राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।" इस प्रकार यह परम तत्व परमात्मा एक होकर भी अनेक रूप धारण कर लेता है। तथा उन सब रूपों में प्रगट होकर भी शाश्वत बना रहता है। तथा उन सबसे परे अर्थात् अजन्मा भी बना रहता है जिसका वर्णन करते हुए उपनिषद वाणी में कहा गया है -

"एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूप रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥"

(कठोपनिषद - २/२/९ व १०)

अर्थात् "सभी चर और अचर भूत समुदाय के हृदय में रहने वाला वह एक ही परमात्मा अलग-अलग रूप धारण करके रहता है और इन सब रूपों के बाहर भी बना रहता है।" इस प्रकार अजन्मा होकर भी यह परम तत्व सर्वरूप धारण किये होता है - **"सर्वम समाप्नोपि ततोअसि सर्वः ।"** (श्रीमदभगवद्‌गीता

- ११/४०) अर्थात् "वह (आप) परम पुरुष समस्त जगत में या समस्त भूत समुदाय में या सभी प्राणियों में व्याप्त है अतः सर्वरूप है।" यह परम तत्व सर्वरूप ही होता है, - **"ईश्वर सर्वभूतमय अहई"** (श्रीरामचरितमानस - ७/११०/१५) अर्थात् यह परम तत्व सभी मनुष्यों के हृदय में निवास करता है - **"सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टो"** (श्रीमद्भगवद्गीता -१५/१५) अर्थात् "मैं परम तत्व ही सभी प्राणियों के हृदय में अंतर्यामी रूप में स्थित होता हूँ।" उपनिषदवाणी में भी वर्णन करते हुए कहा गया है - **"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोंतरात्मा सदा जनानां हृदये सनिविष्टः"** कठोपनिषद - २/३/१७) अर्थात् "वह परम पुरुष (साकार रूप धारण करके) अंगुष्ठ प्रमाण होकर सभी मनुष्यों के हृदय में रहता है।" गुरूवाणी में भी इसे प्रगट करते हुए कहा गया है - **"घटि-घटि वसंत वासुदेवह परब्रह्म परमेसुरह"** (श्रीगुरूग्रंथ साहिब जी - पृष्ठ - १३५६) एवं

"अविगत नाथ अगोचर स्वामी। पूरि रहिआघट अंतरयामी॥
जत कत देयउ तेरा वासा। नानक कउ गुरि कीओ प्रकासा॥

(श्रीगुरूग्रंथ साहिब पृष्ठ - ११५७)

वह परम तत्व परम पुरूप परमात्मा, करता पुरखु - अजन्मा होकर भी सर्वत्र ही घट-घट में व्याप्त होता है - "अजूनी सैभं अर्थात् अजन्मा होकर सर्वरूप होता है जिसका वर्णन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं -

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

(श्रीमद्भगवद्गीता - १३/१३ व १४)

अर्थात् "वह परम तत्व सर्वत्र ही सिर और मुख वाला है, सर्वत्र ही उसकी आँख तथा हाथ और पैर है, इस लोक में सर्वत्र ही उसके सुनने वाले कान है, वह सभी को आवृत्त किये हुए अर्थात् सभी दूर और सभी पर छाया हुआ रहता है। वह परम तत्व सभी इंद्रियों से रहित भी है और समस्त गुणों को धारण करने वाला (आवास करने वाला) भी है। वह सबसे अलग और सबसे असक्त असंग भी है तथा सबका कर्ता भी है। वह निर्गुण भी है और गुणों का भोक्ता भी है।" वह परम तत्व ही इस समस्त जगत में सर्वत्र ही मणिमाला की तरह गुंथा होकर व्याप्त है -

"मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ७/७)

अर्थात् हे धनंजय, इस जगत में मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परतर कारण नहीं है यह समस्त जगत मुझसे ही परिपूर्ण होकर भाग्य में गूंथी हुई मणियों की भांति एक माला के सदृश्य है। इस प्रकार वह परम तत्व सर्वरूप होकर भी अजन्मा ही बना रहता है जिसे स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं -

"न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता - ९/५)

अर्थात् "मुझ निराकार परमात्मा से यह समस्त जगत परिपूर्ण है और सभी भूत मूर्तरूप होकर मेरे अंतर्गत संकल्प के आधार पर स्थित है किंतु वास्तव में मैं उन सभी भूत समुदाय में सभी प्राणियों में स्थित नहीं हूं।" अपने इस स्वरूप को प्रगट करते हुए ही विस्तार पूर्वक श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं -

"अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परामात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयतिभारत ॥

(श्रीमद्भगवद् गीता - १३/३१ से ३३)

अर्थात् "हे अर्जुन, अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशीपरमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश तत्व सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र ही देह में स्थित, या सर्वरूप धारण करके देह में स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता है।" और जिस प्रकार एक ही सूर्य इस संपूर्ण ब्रह्मांड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार हे भारत, (अर्जुन) यह एक ही आत्मा संपूर्ण क्षेत्र अर्थात् समस्त जगत को प्रकाशित करता है, प्रकाशित करके भी उससे अलग बना रहता है।" विज्ञजन इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पात्रों में भरे हुए जल में सभी पात्रों में सूर्य प्रतिछाया रूप दिखाई देता है किंतु सूर्य वहां नहीं होता है उसी प्रकार यह आत्मा सभी देहरूपों में भासता है यह वहाँ लिपायमान होकर

नहीं रहता है। अजन्मा ही बना रहता है। इस अवस्था को ही प्रकट करते हुए गुरूवाणी में कहा गया है -

"सो नरू जन्मे ना मरे, आवे ना जाइ" (श्रीगुरूग्रंथ साहिब पृष्ठ -१९)

और वह अजन्मा होकर भी सर्वरूप ही गाया गया है -

"तू दरीयाउ सभ तुझ ही माही। तुझ बिनु दूजा कोई नाहिं ॥"

(श्रीगुरूग्रंथ साहिब जी पृष्ठ - ११)

वह परम तत्व जो अजन्मा होकर सर्वरूप है वह -

गुर = (वह) परम तत्व ही मानवमात्र का गुरू होता है - जिसे व्यक्त करते हुए श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है :-

"पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरूर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमभाव ॥

(श्रीमद्भगवद् गीता - ११/४३)

अनुवाद - आप इस चराचर जगत के पिता और सबसे बड़े गुरू एवं अति पूजनीय है, तीनों लोको में आपके समान दूसरा कोई भी नहीं है। आप अप्रतिम प्रभाव वाले है।" तथा गुरूवाणी कहती है - **"गुरू मेरा पारब्रह्मु गुरू भगवंतु।"** (श्री गुरूग्रंथ साहिब जी पृष्ठ - ८६४) यह पार ब्रह्म परमात्मा गुरू तत्व होकर सभी मनुष्यों के हृदय में रहता है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है -

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरूषः परः ॥"

(१३/२२)

अर्थात् "इस देह में स्थित वह परमात्मा ही उपदेश देने वाला, राह दिखाने वाला और उसका पालन करने की अनुमति देने वाला अर्थात् गुरू स्वरूप होता है। यह परमात्मा ही सबका पोषण करने वाला और सबका स्वामी है।" इस परम तत्व के गुरूरूप होने का वर्णन करते हुए प्रार्थनारूप में, नमस्कार रूप में प्रकट किया गया है -

"गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूर्साक्षात् पर ब्रह्म तस्मैं श्री गुरवे नमः ॥"

अर्थात् "आप गुरू तत्व रूप ही ब्रह्मा है, आप गुरू तत्व रूप ही विष्णु हैं, आप गुरू तत्व रूप में ही देवता महेश्वर हैं अर्थात् शिवस्वरूप हैं। आप परम तत्व ही साक्षात् गुरू स्वरूप हैं अतः उन श्री गुरूदेव को नमस्कार है। यह आत्म

रूप गुरू ही सभी मनुष्यों को उनके द्वारा किये जा रहे कार्यो की पूर्णता तथा श्रेष्ठता का बोध कराता है, स्वयं ही । यह आत्मा अपने गुरूरूप में -

''अगम अगोचरु सुआमी अपुना गुरू किरपा तेसचु धिआई जीउ ॥''

(श्रीगुरूग्रंथ साहिब जी पृष्ठ - १०१)

अर्थात् यह आत्मरूप गुरू अपने स्वरूप में अगम तथा अगोचर है किंतु यह स्वयं अपनी ही कृपा से सच सिद्ध होता है, अर्थात् अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है । इसी आधार पर इसे गहर गंभीर कहा गया है - **''सतगुरू गहिरू गंभीरू है ।''** (श्रीगुरूग्रंथ साहिब पृष्ठ - ५०) अर्थात् गहर गंभीर होकर भी ये आत्मरूप गुरू सहज है सभी के प्रति समभाव रखने वाला है तथा सभी को मोक्षमार्ग प्रदान कर मुक्ति प्रदान करने वाला है । श्रीमद्‌भगवद् गीता में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं -

''मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(९/३२/३२)

अर्थात् हे पार्थ (अर्थात् परम तत्व के दिव्य स्वरूप को देखने वाली माता पृथा के पुत्र अर्जुन) मेरी शरण लेने पर पाप योनियों में जन्म लेने वाले भी तथा स्त्री वैश्य और शूद्र सभी परमगति को प्राप्त कर लेते हैं । ''यह गुरु रूप ही परम तत्व का बोध कराने वाला होता है, मानव देह धारी बनकर । जिसे प्रकट करते हुए गुरू वाणी में कहा गया है ।'' -

''बिनु गुरु महलु न पाईये नामु न परापति होइ ।
ऐसा सतगुरु लोड़ि लहु जिदु पाईए सचु सोइ ॥''

(श्रीगुरूग्रंथसाहिब पृष्ठ - ३०)

अर्थात् ''वह परम तत्व नवद्वार रूपी देह महल के भीतर रहता है, उसकी प्राप्ति सत्‌गुरु द्वारा बताई गई अध्यात्म विद्या या पराविद्या के बिना नहीं होती है । जो कोई मानव देहधारी होकर उस परम तत्व को खोज लेने का मार्ग बता देवे ऐसे सद्‌गुरु को खोजकर प्राप्त कर लेना चाहिये । यह परम तत्व जो स्वयं ही गुरु होता है स्वयं सामर्थ्यवान् होकर गुरुता को धारण करने वाला होकर सभी को सामर्थ्यवान् बनाता है वह अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिये निर्मल मन की अपेक्षा करता है -

''निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा । ।''

(श्रीरामचरितमानस ५/४४/५)

परम तत्व की गुरु रूप में की गई इस अपेक्षा को ही गुरू वाणी में गाया गया है -

"मनि मेले भगति न होवई, नामु न पाइआ जाई ॥"

(श्रीगुरुग्रंथसाहिब पृष्ठ - ३९)

निर्मल मन हो जाने पर यह परम तत्व गुरू प्रसादि - स्वयं प्रसाद रूप में प्राप्त होता है । यह परमात्म तत्व अपनी ही योग माया में छिपा हुआ रहता है, जिसे प्रकट करते हुए श्रीमद्‌भगवतगीता में कहा गया है -

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृत ।"

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता -)

अनुवाद - "अपनी योगमाया में छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूं । यह परम तत्व न तो वेदों से, न तप से और न दान से तथा न यज्ञ से ही प्राप्त किया जा सकता है । या देखा जा सकता है -

"नाहं वैदेर्न तपसा न दानेनन चेज्यया ।"

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - ११/५३)

उस एकमैव परम तत्व परमात्मा को प्राप्त कर लेने के संबंध में उपनिषद् वाणी में कहा गया है - "यह परमात्म तत्व न तो प्रवचन से, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से ही मिलता है और न यह बलहीन पुरुष को प्राप्त होता है न प्रमाद पूर्वक किये जाने वाले तप से और न विविध वेशभूषा धारण करने से ही प्राप्त होता है । यह परमात्म तत्व तो जिसको स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, उसके लिये यह परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को आवरण रहित करके प्रकट कर देता है ।" (मुण्डकोपनिषद् - ३/२,३ व ४)। इस तथ्यात्मक सत्य को प्रकट करते हुए ही श्रीरामचरितमानस में कहा गया है -

"सोइ जानत जेहि देहु जनाई ।" (२/१२७/३) तथा इसे ही गुरुवाणी में कहा गया है - **"जिसहि बुझाए सोई बूझे, बिनु बुझे किउ रहिए ।"** (श्रीगुरुग्रंथसाहिब पृष्ठ - १०१) ।

वह परमात्म तत्व प्रसाद रूप में ही अपना दर्शन कराता है । अर्थात् प्र - प्रभु, परमतत्व परमात्मा, सा - साक्षात् रूप में, द - दर्शन देता है, स्वयं ही अपना बोध कराता है कृपावृंत होकर । जिसका वर्णन करते हुए, आचार्य संत गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

"तुलसी जसि भवतव्यता तैसि मिलहि सहाई ।
आपनु आवई पाहि तहि, ताहि तहाँ ले जाई ॥"

श्रीरामचरितमानस - १/१५९ ख)।

इसे ही प्रकट करते हुए गुरूवाणी में कहा गया है -

तू बे अन्तु को बिरला जाणै गुरू प्रसादि को शबदि पछाणै ॥
दइ आल पुरख मेरे प्रभ दाते जिसहि जनावहु तिनहि तुम जाते ॥

अनुवाद - हे प्रभु ! तू बेअंत है, कोई बिरला ही इस बात को अनुभव करता है। कोई-कोई व्यक्ति गुरु कृपा से शब्द के माध्यम से तुम्हें पहचान लेता है। तुम दयालु हो, अकाल पुरुष हो, सबके दाता हो जिसे आप चाहते हो वही तुम्हें जान सकता है।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्

(श्रीमद्भगवद्गीता -१८/५६)

अनुवाद - मेरी कृपा से अविनाशी, शाश्वत सनातन परम पद को प्राप्त हो जाता है।

घट अंदरि सभु वपु है, बाहरि किछु नाही ।
गुर परसादी पाइए अंतरि कपट खुलाई ॥

वह परम पुरुष इस मानव देह के भीतर ही रहता है, बाहर कुछ भी नहीं है। गुरु कृपा से अन्तर हृदय के कपाट खुलवाकर उसे प्राप्त लेना चाहिये।

इस प्रकार - वह परम तत्व परमात्मा एक होकर अक्षर स्वरूप है, निराकार है, निर्विकार है, वह ही सबका ईश्वर है। नियंता है, ईशान् स्वरूप है। (प्रशासन कर्ता है)। वह ही ओंकार रूप में प्रकट होकर इस जगत् की उत्पत्ति, विकास और लय तथा इसे धारण करने का कारण "**धाताहं**" (श्रीमद् भगवतगीता - १०/३५) बनता है तथा ओंकाररूप में ही जाना जाता है अर्थात् प्रणवध्वनि रूप में ही प्राप्त किया जाता है। वह प्रकाश स्वरूप है, उसकी कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं है उसका तो केवल नाम ही एकमात्र यथार्थ स्वरूप है तथा यश प्रदान करने वाला हैं।

वह परम तत्व परमात्मा ही ब्रह्म अर्थात् कर्तापुरूप बनकर इस समस्त जगत का, संपूर्णसृष्टि का सृजन करता है। वह स्वयं निर्भयरूप है, अर्थात् स्वतंत्र है अपना कर्म करने के लिये वह ही सभी मनुष्यों को अभय प्रदान करने वाला है, मृत्यु के भय से छुटकारा देने वाला है। भय से मुक्त होने के लिये ही मनुष्य जन उसका स्मरण करते हैं - "**विभयाय जनाः स्मरंति**" (श्रीमद् भागवत्पुराण -७/९/७)। उसका कोई स्वामी नहीं है वह ही समस्त जगत् का स्वामी हैं। वह सभी का सहायक है, सभी का जन्मदाता है और सभी का पोषण करने वाला तथा

संरक्षण करने वाला है, इसका किसी के साथ कोई द्वेषभाव या वैरभाव नहीं हैं।

वह परमतत्व परमात्मा अजन्मा है । न तो वह जन्म लेता है और न मरता ही है, वह शाश्वत और सनातन स्वरूप है । वह ही सर्वरूपधारण करके इस जगत में रहता है, सर्वरूप में प्रकट होता है, सर्वरूप होकर भी इससे बाहर बना रहता है । वह परमात्मा ही सभी प्राणियों का, सभी मनुष्यों का मार्गदर्शक है सभी को राह दिखाने वाला और उन्नति के मार्ग पर ले जाने वाला है । वह परमतत्व परमात्मा स्वयं अपनी इच्छा से ही प्रसाद रूप में प्रकट होकर साक्षात् रूप में दर्शन देता है, उपलब्द्ध हो जाता है, अपना बोध करा देता है । उन सभी लोगों को जो उसका सच्चा नाम लेने वाले है और जो उसे गुरु रूप में स्वीकार कर लेने वाले हैं । वह परमात्म तत्व स्वयं सद्गुरु की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता हैं ।

इस प्रकार परावाक्रूप परमतत्व अक्षर ब्रह्म के कुल दस लक्षण या गुण हैं, जिनके आधार पर निराकार अक्षर तत्व की साकार अभिव्यक्ति को जाना जाता है । यह परम तत्व अक्षर रूप होकर इन दस गुणों को धारण करके साकार रूप में प्रकट हो जाता है । परावाक् रूप को अर्थात् प्रकाश स्वरूप को प्रकट करने का आधार बनता है । वह परम तत्व जो निराकार, निर्विकार, निरपेक्ष एवं स्वयं में पूर्ण है वह ही इन दस गुणों का धारणकर्ता होकर, स्वयं पूर्ण होकर, पूर्ण की ही उत्पत्ति का कारण बनता है, उत्पन्न होकर स्वयं पूर्ण होता है अर्थात् इन दस गुणों को धारण करने वाला बनता है और इन दस गुणों को धारण करते हुए सर्वरूप में प्रकट होकर भी परम तत्व पूर्ण ही बना रहता है । जिसका वर्णन करते हुए उपनिषद्वाणी में कहा गया है -

" ॐ पूर्णमदः पूर्णमिंद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण - मादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

अर्थात्, वह परम तत्व अक्षरब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है, यह जगत भी पूर्ण ही है, उस पूर्ण परम तत्व परमात्मा अक्षर ब्रह्म से यह पूर्ण जगत अर्थात् सर्ववाक्रूप उत्पन्न हुआ है । पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी परम तत्व परावाक् रूप में पूर्ण ही शेष बचा रहता है । " परम तत्व के यह दस गुण ही इस जगतमें" **एकं सद् विप्राः वहुधा वदन्ति** का आधार बनते है व्याख्या के लिये । यह ही है - परावाक् अक्षर ब्रह्म का अभिव्यक्त स्वरूप । परावाक् अक्षर ब्रह्म का अभिव्यक्त स्वरूप ।

॥ हरि ॐ तत् सत्॥

ॐ शान्तिः॥ ॐ शान्तिः॥ ॐ शान्तिः॥

परिशिष्ट - 'ग'

पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पिता की आज्ञा से शुकदेवजी का मिथिला में जाना और वहाँ उनका द्वारपाल, मन्त्री और युवती स्त्रियों के द्वारा सत्कृत होने के उपरान्त ध्यान में स्थित हो जाना

भीष्म उवाच

स मोक्षमनुचिन्त्यैव शुकः पितरमभ्यगात् ।
प्राहाभिवाद्य च गुरुं श्रेयोऽर्थी विनयान्वितः ॥१॥

भीष्म जी कहते हैं - युधिष्ठिर ! शुकदेवजी मोक्ष का विचार करते हुए ही अपने पिता एवं गुरु व्यास जी के पास गये और विनीत भाव से उनके चरणों में प्रणाम करके कल्याण-प्राप्ति की इच्छा रखकर उनसे इस प्रकार बोले - ।

मोक्षधर्मेषु कुशलो भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
यथा मे मनसः शान्तिः परमा सम्भवेत् प्रभो ॥२॥

'प्रभो ! आप मोक्षधर्म में कुशल है ; अतः मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मेरे चित्त को परम शान्ति मिलें' ।

श्रुत्वा पुत्रस्य तु वचः परमर्षिउवाच तम् ।
अधीष्ध पुत्र मोक्षं वे धर्मोश्च विविधानपि ॥३॥

पुत्र की यह बात सुनकर महर्षि व्यास ने कहा, 'बेटा ! तुम मोक्ष तथा अन्यान्य विविध धर्मो का अध्ययन करो' ।

पितुर्नियोगाज्जग्राह शुको धर्मभृतां वरः ।
योगशास्त्रं च निखिलं कापिलं चैव भारत ॥४॥

भारत ! पित्ता की आज्ञा से धर्मात्माओं में श्रेष्ठ शुक ने सम्पूर्ण योगशास्त्र तथा समस्त सांख्य का अध्ययन किया ।

स तं ब्राह्मया श्रिया युक्तं ब्रह्मतुल्यपराक्रमम् ।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्मविशारदम् ॥५॥
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम् ।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थे निखिलं मिथिलेश्वरः ॥६॥

जब व्यास जी ने यह समझ लिया कि मेरा पुत्र ब्रह्म तेज से सम्पन्न और मोक्षधर्म में कुशल हो गया है तथा समस्त शास्त्रों में इसकी ब्रह्मा के समान गति हो गयीहै, तब उन्होंने कहा - बेटा ! अब तुम मिथिला के राजा जनक के पास जाओ । वे मिथिलानरेश तुम्हें सम्पूर्ण मोक्षशास्त्र का सार सिद्धान्त बता देंगे' ।

पितुर्नियोगमादाय जगाम मिथिलां नृप ।
प्रष्टुं धर्मस्य निष्ठां वै मोक्षस्य च परायणम् ॥७॥

नरेश्वर ! पिता की आज्ञा पाकर शुकदेवजी धर्म की निष्ठा और मोक्ष का परम आश्रय पूछने के लिये मिथिला की ओर चल दिये ।

उक्तश्च मानुषेण त्वं पथा गच्छेत्यविस्मितः ।
न प्रभावेण गन्तव्यमन्तरिक्षचरेण वै ॥८॥

जाते समय व्यास जी ने फिर बिना किसी विस्मय के कहा - 'बेटा ! जिस मार्ग से साधारण मनुष्य चलते हों उसी से तुम भी जाना । अपनी योगशक्ति का आश्रय लेकर आकाश मार्ग से कदापि यात्रा न करना ।

आर्जवेणैव गन्तव्यं न सुखान्वेषिणा तथा ।
नान्वेष्टव्या विशेषास्तु विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥९॥

'सरल भाव से ही यात्रा करनी चाहिये । रास्ते में सुख और सुविधा की खोज नहीं करनी चाहिये । विशेष-विशेष व्यक्तियों अथवा स्थानों का अनुसंधान न करना ; क्योंकि इससे उनके प्रति आसक्ति हो जाती है' ।

अहंकारों न कर्तव्यो याज्ये तस्मिन् नराधिपे ।
स्थातव्यं च वशे तस्य स ते छेत्स्यति संशयम् ॥१०॥

'राजा जनक मेरे यजमान हैं, ऐसा समझकर उनके प्रति अहंकार न प्रकट करना तथा सब प्रकार से उनकी आज्ञा के अधीन रहना । वे तुम्हारी सब शंङ्काओं का समाधान कर देंगे ।

स धर्मकुशलो राजा मोक्षशास्त्रविशारदः ।
याज्यो मम स यद् ब्रूयात् तत् कार्यमविशङ्कया ॥११॥

'मेरे यजमान राजा जनक धर्मनिपुण तथा मोक्षशास्त्र में प्रवीण हैं । वे तुम्हें जो आज्ञा दें, उसी का निःशङ्क होकर पालन करना' ।

एवमुक्तः स धर्मात्मा जगाम मिथिलां मुनिः ।
पद्भ्यां शक्तोऽन्तरिक्षेण क्रान्तुं पृथ्वीं ससागराम् ॥१२॥

पिता के ऐसा कहने पर धर्मात्मा मुनि शुकदेवजी मिथिला की ओर चल दिये । यद्यपि वे आकाशमार्ग से सारी पृथ्वी को लाँघ जाने में समर्थ थे, तो भी पैदल ही चले ।

स गिरींश्चाप्यतिक्रम्य नदीतीर्थसरांसि च ।
बहुव्यालमृगाकीर्णा ह्यटवीश्च वनानि च ॥१३॥
मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षे हैमवतं ततः ।
क्रमेणैवं व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥१४॥

मार्ग में उन्हें अनेक पर्वत, नदी, तीर्थ और सरोवर पार करने पड़े । बहुत से सर्पो और वन्य पशुओं से भरे हुए कितने ही जंगलों में होकर जाना पड़ा । उन सबको लाँघकर क्रमशः मेरु (इलावृत) वर्ष, हरिवर्ष और हैमवत (किम्पुरुष) वर्ष को पार करते हुए वे भारतवर्ष में आये ।

स देशान् विधिधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान् ।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः ॥१५॥

चीन और हूण जाति के लोगों से सेवित नाना प्रकार के देशों का दर्शन करते हुए महामुनि शुकदेवजी इस आर्यावर्त देश में आ पहुँचे ।

पितुर्वचनमाशाय तमेवार्थे विचिन्तयन् ।
अध्यानं सोऽतिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥१६॥

पिता की आज्ञा मानकर उसी ज्ञातव्य विषय का चिन्तन करते हुए उन्होंने सारा मार्ग पैदल ही तै किया । जैसे आकाशचारी पक्षी आकाश में विचरता है, उसी प्रकार वे भूतल पर विचरण करते थे ।

पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगराणि च ।
रक्षानि च विचित्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥१७॥

रास्ते में बड़े सुन्दर-सुन्दर शहर और कस्बे तथा समृद्धिशाली नगर दिखायी पड़े । भाँति-भाँति के विचित्र रत्न दृष्टिगोचर हुए । किंतु शुकदेवजी उनकी ओर देखते हुए भी नहीं देखते थे ।

उद्यानानि च रम्याणि तथैवायतनानि च ।
पुण्यानि चैव रत्नानि सोऽत्यक्रामदथाध्वगः ॥१८॥

पथिक शुकदेवजी ने बहुत से मनोहर उद्यान तथा घर और मन्दिर देखकर उनकी उपेक्षा कर दी । कितने ही पवित्र रत्न उनके सामने पड़े परन्तु वे सबको लाँघकर आगे बढ़ गये ।

सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह ।
रक्षितान् धर्मराजेन जनकेन महात्मना । ॥१९॥

इस प्रकार यात्रा करते हुए वे थोड़े ही समय में धर्मराज महात्मा जनक द्वारा पालित विदेह प्रान्त में जा पहुँचे ।

तत्र ग्रामान् बहून् पश्यन् बह्वन्नरसभोजनान् ।
पल्लीघोषान् समृद्धांश्च बहुगोकुलसंकुलान् ॥२०॥

वहाँ बहुत से गाँव उनकी दृष्टि में आये, जहाँ अन्न, पानी तथा नाना प्रकार की खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में मौजूद थी । छोटी-छोटी टोलियाँ तथा गोष्ठ (गौओं के रहने के स्थान) भी दृष्टिगोचर हुए, जो बड़े समृद्धिशाली और बहुसंख्यक गोसमुदायों से भरे हुए थे ।

स्फीतांश्च शालियवसैर्हंससारससेवितान् ।
पद्मिनीभिश्च शतशः श्रीमतीभिरलङ्कृतान् ॥२१॥

सारे विदेह प्रान्त में सब ओर अगहनी धान की खेती लहलहा रही थी । वहाँ के निवासी धन-धान्य सम्पन्न थे । उस देश में चारों ओर हंस और सारस निवास करते थे । कमलों से अलंकृत सैकड़ों सुन्दर सरोवर विदेह राज्य की शोभा बढ़ा रहे थे ।

स विदेहानतिक्रम्य समृद्धजनसेवितान् ।
मिथिलोपवनं रम्यमाससाद समृद्धिमत् ॥२२॥

इस प्रकार समृद्धिशाली मनुष्यों द्वारा सेवित विदेह देश को लाँघकर वे मिथिला के समृद्धि सम्पन्न रमणीय उपवन के पास जा पहुँचे ।

हस्त्यश्वरथसंकीर्णं नरनारीसमाकुलम् ।
पश्यन्नपश्यन्निव तत् समतिक्रामदच्युतः ॥२३॥

वह स्थान हाथी, घोड़े और रथों से भरा था । असंख्य नर-नारी वहाँ आते-जाते दिखायी देते थे । अपनी मर्यादा से कभी च्युत न होने वाले शुकदेवजी वह सब देखकर भी नहीं देखते हुए - से वहाँ से आगे बढ़ गये ।

मनसा तं वहन् भारं तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
आत्मारामः प्रसन्नात्मा मिथिलामाससाद ह । ॥२४॥

मन से जिज्ञासा भार वहन करते और उस ज्ञेय वस्तु का ही चिन्तन करते हुए आत्माराम प्रसन्नचित्त शुकदेव ने मिथिला प्रवेश किया ।

तस्या द्वारं समासाद्य निःशङ्कः प्रविवेश ह ।
तत्रापि द्वारपालास्तमुग्रवा न्यषेधयन् ॥२५॥

नगर द्वार पर पहुँचकर वे निःशङ्कभाव से उसके भीतर प्रवेश करने लगे । तब वहाँ द्वारपालों ने कठोर वाणी द्वारा उन्हें डाँटकर भीतर जाने से रोक दिया ।

तथैव च शुकस्तत्र निर्मन्युः समतिष्ठत ।
न चातपाध्वसंतप्तः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ॥२६॥

शुकदेवजी वही खड़े हो गये किंतु उनके मन में किसी प्रकार का खेद या क्रोध नहीं हुआ । रास्ते की थकावट और सूर्य की धूप से उन्हें संताप नहीं पहुँचा था । भूख और प्यास उन्हें कष्ट नहीं दे सकी थी ।

प्रताम्यतिग्लायति वा नापैति च तथाऽऽतपात् ।
तेषां तु द्वारपालानामेकः शोकसमन्वितः ॥२७॥

वे उस धूप से न तो संतप्त होते थे, न ग्लानि का अनुभव करते थे और न धूप से हटकर छाया में ही जाते थे । उस समय उन द्वारपालों में से एक को अपने व्यवहार पर बड़ा दुःख हुआ ।

मध्यं गतमिवादित्यं दृष्ट्वा शुकमवस्थितम् ।
पूजयित्वा यथान्यायमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥२८॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां द्वितीयां राजवेश्मनः ।

उसने मध्याह्नकालीन तेजस्वी सूर्य की भाँति शुकदेवजी को चुपचाप खड़ा देख हाथ जोड़कर प्रणाम किया और शास्त्रीय विधि के अनुसार उनकी यथोचित पूजा करके उन्हें राजभवन की दूसरी कक्षा में पहुँचा दिया ।

तत्रासीनः शुकस्तात मोक्षमेवान्वचिन्तयत् ॥२९॥
छायायामातपे चैव समदर्शी महाद्युतिः ।

तात ! वहाँ एक जगह बैठकर महातेजस्वी शुकदेवजी मोक्ष का ही चिन्तन करने लगे । धूप हो या छाया, दोनों में उनकी समान दृष्टि थी ।

तं मुहूर्तादिवागम्य राज्ञो मन्त्री कृताञ्जलिः ॥३०॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां तृतीयां राजवेश्मनः ।

थोड़ी ही देर में राजमन्त्री हाथ जोड़े हुए वहाँ पधारे और उन्हें अपने साथ महल की तीसरी ड्योढ़ी में ले गये ।

तत्रान्तःपुरसम्बद्धं महच्चैत्ररथोपमम् ॥३१॥
सुविभक्तजलाक्रीडं रम्यं पुष्पितपादपम् ।
शुकं प्रावेशयन्मन्त्री प्रमदावनमुत्तमम् ॥३२॥

वहाँ अन्तःपुर से सटा हुआ एक बहुत सुन्दर विशाल बगीचा था, जो चैत्ररथ वन के समान मनोहर जान पड़ता था । उसमें पृथक - पृथक जल-क्रीड़ा के लिये अनेक सुन्दर जलाशय बने हुए थे । वहाँ रमणीय उपवन खिले हुए थे । वह रमणीय उपवन खिले हुए वृक्षों से सुशोभित होता था । उस उत्तम उद्यान का नाम था प्रमदावन । मन्त्री ने शुकदेवजीको उसके भीतर पहुँचा दिया है ।

स तस्यासनमादिश्य -निश्चकाम ततः पुनः ।
तं चारुवेषाः सुश्रोण्यस्तरुण्यः प्रियदर्शनाः ॥३३॥
सूक्ष्मरक्ताम्बरधरास्तप्तकाञ्चनभूषणाः
संलापोल्लापकुशला नृत्यगीतविशारदाः ॥३४॥
स्मितपूर्वाभिभाषिण्यो रुपेणाप्सरसां समाः ।
कामोपचारकुशला भावज्ञाः सर्वकोविदाः ॥३५॥
परं पञ्चाशतं नार्यो वारमुख्याः समाद्रवन् ।

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन बताकर राज्यमन्त्री पुनः प्रमादवन से बाहर निकल आये । मन्त्री के जाते ही पचास प्रमुख वाराङ्गनाएँ शुकदेवजी के पास दौड़ी आयी । उनकी वेशभूषा बड़ी मनोहारी थी । वे सब की सब देखने में परम सुन्दरी और नवयुवती थी । वे सुरम्य कटिप्रदेश से सुशोभित थी । उनके सुन्दर अङ्गों पर लाल रंग की महीन साड़ियाँ शोभा पा रही थी । तपाये हुए सुवर्ण आभूषण उनका सौन्दर्य बढ़ा रहे थे । वे बातचीत करने में कुशल और नाचने गाने की कला में बड़ी प्रवीण थी । उनका रुप अप्सराओं के समान था, वे मन्द मुस्कान के साथ बातें करती और दूसरों का मन का भाव समझ लेती थी । कामचर्या में कुशल और सम्पूर्ण कलाओं का विशेष ज्ञान रखने वाली थी ।

पाद्यादीनि प्रतिग्राह्य पूजया परयार्चयन् ॥३६॥
कालोपपन्नेन तदा स्वाद्वन्नेनाभ्यतर्पयन ।

उन्होनें पाद्य, अर्ध्य आदि निवेदन करके उत्तम विधि से शुकदेवजी का पूजन किया और उन्हें समयानुकूल स्वादिष्ट अन्न भोजन कराकर पूर्णतः तृप्त किया ।

तस्य भुक्तवतस्तात तदन्तःपुरकाननम ॥३७॥

सुरम्यं दर्शयामासुरेकैकश्येन भारत ।

तात ! भरतनन्दन ! जब वे भोजन कर चुके, तब वे वाराङ्गनाएँ उन्हें साथ लेकर अन्तःपुर के उस सुरम्य कानन - प्रमदावन की सैर कराने और वहाँ की एक-एक वस्तु को दिखाने लगी ।

क्रीडन्त्यश्च हसन्त्यश्च गायन्त्यश्चापिताःशुभम् ॥३८॥
उदारसत्त्वं सत्त्वशाः स्त्रियः पर्यचरंस्तथा ।

उस समय वे हँसती, गाती तथा नाना प्रकार की सुन्दर क्रीड़ाएँ करती थी । मन के भाव को समझने वाली वे सुन्दरियाँ उन उदार चित्त शुकदेवजी की सब प्रकार से सेवा करने लगी ।

आरणेयस्तु शुद्धात्मा निःसन्देहः स्वकर्मकृत् ॥३९॥
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो न हृष्यति न कुप्यति ।

परन्तु अरणिसम्भव शुकदेवजी का अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध था । वे इन्द्रियों और क्रोध पर विजय पा चुके थे । उन्हें न तो किसी बात पर हर्ष होता था और न वे किसी पर क्रोध ही करते थे । उनके मन में किसी प्रकार का संदेह नहीं था और वे सदा अपने कर्तव्य का पालन किया करते थे ।

तस्मै शय्यासनं दिव्यं देवार्ह रत्नभूषितम् ॥४०॥
स्पर्ध्यास्तरणसंकीर्णं ददुस्ताः परमस्त्रियः ।

उन सुन्दरी रमणियों ने देवताओं के बैठने योग्य एक दिव्य पलंग, जिसमें रत्न जड़े हुए थे और जिस पर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे, शुकदेवजी को सोने के लिये दिया ।

पादशौचं तु कृत्वैव शुकः संध्यामुपास्य च ॥४१॥
निषसादासने पुण्ये तमेवार्थे विचिन्तयन् ।
पूर्वरात्रे तु तत्रासौ भूत्वा ध्यानपरायणः ॥४२॥
मध्यरात्रे यथान्यायं निद्रामाहारयत् प्रभुः ।

परंतु शुकदेवजी ने पहले हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की । उसके बाद पवित्र आसन पर बैठकर वे मोक्षतत्व का ही विचार करने लगे । रात के पहले पहर में वे ध्यानस्थ होकर बैठे रहे । फिर रात्रि के मध्य भाग (दूसरे और तीसरे पहर) में प्रभावशाली शुक ने यथोचित निद्रा को स्वीकार किया ॥

ततो मुहूर्तादुत्थाय कृत्वा शौचमनन्तरम् ॥४३॥
स्त्रीभिः परिवृतो धीमान् ध्यानमेवान्वपद्यत ॥४४॥

तदनन्तर जब दो घड़ी रात बाकी रह गयी, उस समय ब्रह्मवेला में वे पुनः उठ गये और शौच स्नान करने के अनन्तर बुद्धिमान् शुकदेव फिर परमात्मा के ध्यान में ही निमग्न हो गये । उस समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थी ।

अनेन विधिना कार्ष्णिस्तदहःशेषमच्युतः ।
तां च रात्रिं नृपकुले वर्तयामास भारत ॥४५॥

भरतनन्दन ! इस विधि से अपनी मर्यादा से च्युत न होने वाले व्यासनन्दन शुक ने दिन का शेष भाग और समूची रात उस राज भवन में रहकर व्यतीत की ।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३२५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व में शुक की उत्पत्ति विषयक तीन सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२५॥

षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनक के द्वारा शुकदेवजी का पूजन तथा उनके प्रश्न का समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम में परमात्मा की प्राप्ति होने के बाद अन्य तीनों आश्रमों की अनावश्यकता का प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुष के लक्षणों का वर्णन-

भीष्म उवाच

ततः स राजा जनको मन्त्रिभिः सह भारत ।
पुरः पुरोहितं कृत्वा सर्वाण्यन्तःपुराणि च ॥१॥
आसनं च पुरस्कृत्य रत्नानि विविधानि च ।
शिरसा चार्घ्यमादाय गुरुपुत्रं समभ्यागात् ॥२॥

भीष्म जी कहते हैं - भारत ! तदनन्तर मन्त्रियों सहित राजा जनक अन्तःपुर की सम्पूर्ण स्त्रियों और पुरोहित को आगे करके आसन तथा नाना प्रकार के रत्नों की भेंट लिये मस्तक पर अर्घ्यपात्र रखकर गुरुपुत्र शुकदेवजी के पास आये ।

स तदाऽऽसनमादाय बहुरत्नविभूषितम् ।
स्पर्द्ध्यास्तरणसंस्तीर्णे सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥३॥

पुरोधसा संगृहीतं हस्तेनालभ्य पार्थिवः ।
प्रददौ गुरुपुत्राय शुकाय परमार्चितम् ॥४॥

उस समय जिसे पुरोहित ने ले रखा था, वह सर्वतोभद्र नामक बहुरत्नजटित आसन, जिस पर मूल्यवान बिछौने बिछे हुए थे, उनके हाथ से अपने हाथ में लेकर राजा जनक ने गुरुपुत्र शुकदेव को समर्पित किया। वह आसन समृद्धि से सम्पन्न था।

तत्रोपविष्टं तं कार्ष्णि शास्त्रतः प्रत्यपूजयत् ।
पाद्यं निवेद्य प्रथममेर्घ्यं गां च न्यवेदयत् ॥५॥

व्यासपुत्र शुकदेव जब उस आसन पर विराजमान हुए, तब राजा जनक ने शास्त्र के अनुसार उनका पूजन आरम्भ किया। पहले पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके राजा ने उन्हें एक गौ प्रदान की।

स च तां मन्त्रवत्पूजां प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकाद् द्विजसत्तमः ॥६॥
गां चैव समनुज्ञाय राजानमनुमान्य च ।
पर्यपृच्छन्महातेजा राज्ञः कुशलमव्ययम् ॥७॥

द्विजश्रेष्ठ शुकदेवजी ने राजा जनक की ओर से प्राप्त हुई वह मन्त्र युक्त सविधि पूजा स्वीकार की। पूजा ग्रहण करने के पश्चात् गोदान स्वीकार करके राजा को आदर देते हुए महातेजस्वी शुक ने उनका सदा बना रहने वाला कुशल-समाचार पूछा।

अनामयं च राजेन्द्र शुकः सानुचरस्य ह ।
अनुशिष्टस्तु तेनासौ निषसाद सहानुगः ॥८॥
उदारसत्त्वाभिजनो भूमौ राजा कृताञ्जलिः ।
कुशलं चाव्ययं चैव पृष्ट्वा वैयासकिं नृपः ।
किमागमनमित्येवं पर्यपृच्छत पार्थिवः ॥९॥

राजेन्द्र ! सेवकों सहित राजा के आरोग्य का समाचार भी उन्होंने पूछा। फिर उनकी आज्ञा ले राजा अपने अनुचर वर्ग के साथ वहाँ हाथ जोड़े हुए भूमि पर ही बैठ गये। राजा का हृदय तो उदार था ही, उनका कुल भी परम उदार था। उन पृथ्वीपति नरेश ने व्यास नन्दन शुक से उनके कुशल मङ्गल की जिज्ञासा करके पूछा - ब्रह्मन् ! किस निमित्त से यहाँ आपका शुभागमन हुआ है ?।

शुक उवाच

पित्राहमुक्तो भद्रं ते मोक्षधर्मार्थकोविदः ।
विदेहराजो याज्यो मे जनको नाम विश्रुतः ॥१०॥
तत्र गच्छस्व वै तूर्णं यदि ते हृदि संशयः ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा स तेच्छेत्स्यति संशयम् ॥११॥

शुकदेवजी ने कहा - राजन् ! आपका कल्याण हो । मेरे पिताजी ने मुझसे कहा है कि मेरे यजमान लोक प्रसिद्ध विदेहराज जनक मोक्ष धर्म के विशेषज्ञ हैं । यदि प्रवृत्ति या निवृत्ति-धर्म के विषय में तुम्हारे हृदय में कोई संदेह हो तो तुरंत ही उनके पास चले जाओ । वे तुम्हारी सारी शङ्काओं का समाधान कर देंगे ।

सोऽहं पितुर्नियोगात् त्वामुपप्रष्टुमिहागतः ।
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ यथावद् वक्तुमर्हसि ॥१२॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ नरेश ! पिता की इस आज्ञा से मैं यहाँ आपके पास कुछ पूछने कें लिये आया हूँ । आप मेरे प्रश्नों का यथावत् उत्तर दें ।

किं कार्यं ब्राह्मणेनेह मोक्षार्थश्च किं त्मकः ।
कथं च मोक्षः प्राप्तव्यो ज्ञानेन तपऽथवा ॥१३॥

ब्राह्मण का कर्तव्य क्या है ? मोक्ष नामक पुरुषार्थ का क्या स्वरुप है ? उस मोक्ष को ज्ञान से अथवा तपस्या से किस साधन से प्राप्त किया जा सकता हैं ?

जनक उवाच

यत् कार्यं ब्राह्मणेनेह जन्मप्रभृति तच्छृणु ।
कृतोपनयनस्तात भवेद् वेदपरायणः ॥१४॥

जनक ने कहा - तात् ! ब्राह्मण को जन्म से लेकर जो-जो कर्म करने चाहिये, उनको सुनिये - यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने के बाद ब्राह्मण-बालकों को वेदाध्ययन में तत्पर होने चाहिये ।

तपसा गुरुवृत्त्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो ।
देवतानां पितृणां चाप्यनृणो ह्यनसूयकः ॥१५॥
वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च ।

अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः ॥१६॥

प्रभो ! तपस्या, गुरु की सेवा तथा ब्रह्मचर्य का पालन - इन तीन कर्मो के साथ-साथ वेदाध्ययन का कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हवन कर्म द्वारा देवताओं के और तर्पण द्वारा वह पितरौं के ऋण से मुक्त होने का यत्न करें। किसी के दोष न देखें और संयमपूर्वक रहकर वेदाध्ययन समाप्त करने के पश्चात् गुरु को दक्षिणा दे और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन-संस्कार के पश्चात् घर को लौटे ॥

समावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदारनिरतो वसेत् ।
अनसूयुर्यथान्यायमाहिताग्निस्तथैव च ॥१७॥

घर आने पर विवाह करके गार्हस्थ धर्म का पालन करें और अपनी ही स्त्री के प्रति अनुराग रखें। दूसरों के दोष न देखकर सबके साथ यथोचित बर्ताव करें और अग्नि की स्थापना के पश्चात् प्रतिदिन अग्निहोत्र करता रहें ॥१७॥

उत्पाद्य पुत्रपौत्रं तु वन्याश्रमपदे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् यथाशास्त्रमर्चयन्नतिथिप्रियः ॥१८॥

वहाँ पुत्रपौत्र उत्पन्न करके पुत्र को गार्हस्थ्य धर्म का भार सौंपकर वन में जा वानप्रस्थ आश्रम में रहें। उस समय भी शास्त्र विधि के अनुसार उन्हीं गार्हपत्य आदि अग्नियों की आराधना करते हुए अतिथियों का प्रेमपूर्वक सत्कार करें।

सवनेऽग्नीन् यथान्यायमात्मन्यारोप्य धर्मवित् ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा ब्रह्माश्रमपदे वसेत् ॥१९॥

इसके बाद धर्मज्ञ पुरुष शास्त्रीय विधि के अनुसार अग्निहोत्र की अग्नियों का आत्मा में आरोप करके निर्द्वन्द एवं वीतराग होकर ब्रह्मचिन्तन से सम्बन्ध रखने वाले संन्यास-आश्रम में प्रवेश करें।

शुक उवाच

उत्पन्ने ज्ञानविज्ञाने निर्द्वन्द्वदे हृदि शाश्वते ।
किमवश्यं निवस्तव्यमाश्रमेषु भवेत् त्रिषु ॥२०॥

शुकदेवजी ने पूछा - राजन् ! यदि किसी के हृदय में ब्रह्मचर्य आश्रम मे ही सनातन ज्ञान-विज्ञान प्रकट हो जाय और हृदय के राग-द्वेष आदि द्वन्द्व दूर हो जाये तो भी क्या उसके लिये शेष तीन आश्रमों में रहना आवश्यक है ? ।

एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ।
यथा वेदार्थतत्त्वेन ब्रूहि मे त्वं जनाधिप ॥२१॥

नरेश्वर ! मैं यही बात आप से पूछता हूँ । आप मुझे यह बताने की कृपा करें । वेद के वास्तविक सिद्धान्त के अनुसार क्या करना उचित है ? यह आप मुझे बताइये ।

जनक उवाच

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् ।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्पाधिगमः स्मृतः ॥२२॥

जनक ने कहा - ब्रह्मन् ! जैसे ज्ञान-विज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सद्गुरु से सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं लव इहोच्यते ।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं स्यजेत् ॥२३॥

गुरु इस संसार-सागर से पार उतारने वाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान यहाँ नौका के समान बताया जाता है । मनुष्य उस ज्ञान को पाकर भवसागर से पार और कृतकृत्य हो जाता है । जैसे नदी को पार कर लेने पर मनुष्य नाव और नाविक दोनों को छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त हुआ पुरुष गुरु और ज्ञान दोनों को छोड़ दे ।

अनुच्छेदाय लोकानामनुच्छेदाय कर्मणाम् ।
पूर्वैराचरितो धर्मश्चातुराश्रम्यसंकटः ॥२४॥

पहले के विद्वान् लोकमर्यादा की तथा कर्म परम्परा की रक्षा करने के लिये चारों आश्रमों सहित वर्णधर्मो का पालन करते थे ॥

अनेन क्रमयोगेन बहुजातिषु कर्मणाम् ।
हित्वा शुभाशुभं कर्म मोक्षो नामेह लभ्यते ॥२५॥

इस तरह क्रमशः नाना प्रकार के कर्मो का अनुष्ठान करते हुए शुभाशुभ कर्मो की आसक्ति का परित्याग करने से यहाँ मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥

भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु ।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥२६॥

अनेक जन्मों से कर्म करते – करते जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती

है, तब शुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य पहले ही आश्रम में अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में मोक्ष रुप ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः ।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत् परमभीप्सतः ॥२७॥

उसे पाकर जब ब्रह्मचर्य - आश्रम में ही तत्व का साक्षात्कार हो जाय तो परमात्मा को चाहने वाले जीवन्मुक्त विद्वान के लिये शेष तीन आश्रमों में जाने की क्या आवश्यकता हैं ? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है ।

राजसांस्तामसांश्चैव नित्यं दोषान् विवर्जयेत् ।
सात्त्विकं मार्गमास्थाय पश्येदात्मानमात्मना ॥२८॥

विद्वान को चाहिये कि वह राजस और तामस दोषों का सदा ही परित्याग कर दे और सात्विक मार्ग का आश्रय ले कर बुद्धि के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करे ।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन्नोपलिप्येत जले वरिचरो यथा ॥२९॥

जो सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को और आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को देखता है, वह संसार में उसी तरह कहीं भी आसक्त नहीं होता जैसे जलचर पक्षी जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता ।

पक्षिवत् प्रणवादूर्ध्वममुत्रानन्त्यमश्नुते ।
विहाय देहान्निर्मुक्तो निर्द्वन्द्वः प्रशमं गतः॥३०॥

वह तो घोंसले को छोड़कर उड़ जाने वाले पक्षी की भांति इस देह से पृथक हो निर्द्वन्द्व एवं शान्त होकर परलोक अक्षयपद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ।

अत्र गाथाः पुरा गीताः श्रणु राज्ञा ययातिना ।
धार्यन्ते या द्विजैस्तात मोक्षशास्त्रविशारदैः ॥३१॥

तात! इस विषय में पूर्वकाल में राजा ययाति के द्वारा गायी हुई गाथाएँ सुनिये, जिन्हें मोक्ष शास्त्र के ज्ञाता द्विज सदा याद रखतें हैं ।

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम् ।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥३२॥

अपने भीतर ही आत्मज्योति का प्रकाश है, अन्य नहीं । वह ज्योति सम्पूर्ण

प्राणियों के भीतर समान रुप से स्थित है । अपने चित्त को भली-भाँति एकाग्र करनेवाला उसको स्वयं देख सकता है ।

न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराश्च यः ।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३३॥

जिससे दूसरा कोई प्राणी नही डरता, जो स्वयं दूसरे किसी प्राणी से भयभीत नही होता तथा जो न किसी वस्तु की इच्छा करता है और न किसी से द्वेष ही रखता है वह तत्काल ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ।

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३४॥

जब मनुष्य मन, वाणी तथा क्रिया के द्वारा किसी भी प्राणी के प्रति पापभाव नहीं करता अर्थात् समस्त प्राणियों में द्वेषरहित है, उस समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ।

संयोज्य मनसाऽऽत्मा नमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम् ।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ॥३५॥

जब मोह में डालनेवाली ईर्ष्या, काम एवं मोह का त्याग करके साधक अपने मन को आत्मा में लगा देता हैं, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम् ।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३६॥

जब यह साधक सुनने और देखने योग्य पदार्थो में तथा सम्पूर्ण प्राणियों में समान भाव वाला हो जाता है एवं सुख दुःख आदि द्वन्दों से रहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है ।

यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति ।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥३७॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थे प्रियमप्रियम् ।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३८॥

जिस समय मनुष्य निन्दा और स्तुति को समान भाव से समझता है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय, तथा जीवन-मरण में भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस समय वह साक्षात् ब्रह्म को प्राप्त हो जाता

है ।

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तथेन्द्रियाणि मनसा संयन्तव्यानि भिक्षुणा ॥ ३९॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासी को मन के द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये ॥

तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते ।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ॥४०॥

जैसे अन्धकार से आच्छादित हुआ घर दीपक के प्रकाश से देखा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकार से आवृत हुए आत्मा का विशुद्ध बुद्धि रूपी दीपक के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है ।

एतत् सर्व च पश्यामि त्वयि बुद्धिमतां वर ।
यश्चान्यदपि वेत्तव्यं तत्त्वतो वेद तद् भवान् ॥४१॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ शुकदेवजी ! उपर्युक्त सारी बातें मुझे आपके भीतर दिखाई देती हैं । इनके अतिरिक्त भी जो कुछ जानने योग्य तत्व है, उसे आप ठीक-ठीक जानते हैं ।

ब्रह्मर्षे विदितश्चासि विषयान्तमुपागतः ।
गुरोस्तव प्रसादेन तव चैवोपशिक्षया ॥४२॥

ब्रह्मर्षे ! मैं आपको अच्छी तरह जान गया । आप अपने पिताजी की कृपा और उन्हीं से मिली हुई शिक्षा द्वारा विषयों से परे हो चुके हैं ।

तस्यैव च प्रसादेन प्रादुर्भूतं महामुने ।
ज्ञानं दिव्यं ममापीदं तेनासि विदितो मम ॥४३॥

महामुने ! उन्हीं गुरुदेव की कृपा से मुझे भी यह दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिससे मैं आपकी स्थिति को ठीक-ठीक समझ गया हूँ ।

अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव ।
अधिकं तव चैश्वर्यं तच्च त्वं नावबुध्य से ॥४४॥

आपका विज्ञान, आपकी गति और आपका ऐश्वर्य - ये सभी अधिक हैं; परंतु आपको इस बात का पता नहीं हैं ।

बाल्याद् वा संशयाद् वापि भयाद् वाप्यविमोक्षजात् ।
उत्पन्ने चापि विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् ॥४५॥

बाल स्वभाव के कारण, संशय से अथवा मोक्ष न मिलने के काल्पनिक भय से मनुष्य को विज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः।
विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम्॥४६॥

मेरे जैसे लोगों द्वारा जिसका संशय नष्ट हो गया है, वह साधक विशुद्ध निश्चय के द्वारा हृदय की गाँठे खोलकर उस परमगति को प्राप्त कर लेता है॥

भवांश्चोत्पन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः।
व्यवसायादृते ब्रह्मन्नासादयति तत्परम्॥४७॥

ब्रह्मन्! आपको ज्ञान प्राप्त हो चुका है। आपकी बुद्धि भी स्थिर है तथा आप में विषय लोलुपता का भी सर्वथा अभाव हो गया है, परंतु विशुद्ध निश्चय के बिना कोई परमात्म भाव को नहीं प्राप्त होता है।

नास्ति ते सुखदुःखेषु विशेषो नासि लोलुपः।
गौत्सुक्यं नृत्यगीतेषु न राग उपजायते॥४८॥

आप सुख-दुःख में कोई अन्तर नहीं समझते। आपके मन में लोभ नहीं है। आपको न तो नाच देखने की उत्कण्ठा होती है और न गीत सुनने की। किसी विषय के प्रति आपके मन में राग नहीं उत्पन्न होता है।

न बन्धुष्वनुबन्धस्ते न भयेष्वस्ति ते भयम्।
पश्यामि त्वां महाभाग तुल्यलोष्टाश्मकाञ्चनम्॥४९॥

महाभाग! न तो भाई-बन्धु में आपकी आसक्ति है, न ही भयदायक पदार्थों से आपको भय ही होता है। मैं देखता हूँ, आपके लिये मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक समान हैं।

अहं त्वामनुपश्यामि ये चाप्यन्थे मनीषिणः।
आस्थितं परमं मार्गमक्षयं तमनामयम्॥५०॥

मैं तथा दूसरे मनीषी पुरुष भी आपको अक्षय एवं अनामय परम मार्ग (मोक्ष) में स्थित मानते हैं।

यत् फलं ब्राह्मणस्येह मोक्षर्थश्चयदात्मकः।
तस्मिन्वैवर्तसे ब्रह्मन् कियमन्त् परिपृच्छसि॥५१॥

ब्रह्मन! इस जगत् में ब्राह्मण होने का फल है और मोक्षका जो स्वरूप है, उसी में आपकी स्थिति है। अब और क्या पूछना चाहते हैं? इति।

परिशिष्ट - "घ"

आत्म तत्व की बोध यात्रा में आने वाले प्रलोभन एवं बाधाओं का वर्णन जिन्हें ईशावास्योपनिषद् में - "**हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्**" द्वारा प्रकट किया गया है, तथा जिनका वर्णन भगवति श्रुति देवी द्वारा कठोपनिषद् में किया गया निम्नानुसार हैं -

आत्म तत्व के जिज्ञासु नचिकेता को आत्मतत्व का रहस्य बताया जाने के पूर्व मृत्यु के देवता यमराज द्वारा बताये गये प्रलोभन ही इस यात्रा के मार्ग में प्राप्त होने वाली उपलब्धियां होती है, इन उपलब्धियों को आत्म तत्व के जिज्ञासु को अपने लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में अर्थात् आत्म रूप का बोध प्राप्त करने या ईश्वर तत्व का साक्षात्कार कर लेने के मार्ग मे बाधा ही मानना चाहिये। मन के विज्ञानमय कोष में प्रवेश करने के बाद उपलब्ध होने वाली सिद्धियाँ ही लौकिक उपयोग के आधार पर इस मार्ग की बाधा है, इन्हें ही प्रकट करते हुए मृत्यु के देवता यमराज कहते हैं -

शतायुषः पुत्रपौत्रान् बृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।

(१/२३)

अनुवाद - सैकड़ों वर्षो की आयु वाले बेटे और पोतों तथा बहुत से गो, हाथी स्वर्ण और घोड़ों को मांगलो, भूमि का बड़े विस्तार वाले साम्राज्य को मांगलो, तुम स्वयं भी जितने वर्षो तल चाहो जीवित रहो ।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं बृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि, कामानां त्वा कामभाजं करोमि ।

(कठोपनिषद - १/१/२४)

अनुवाद - हे नचिकेता धन, सम्पत्ति और अनन्त काल का जीने के साधनों को यदि तुम इस आत्म ज्ञान विषयक वरदान के समान वर मानते हो तो मांगलो, और तुम इस पृथ्वी लोक में बड़े भारी सम्राट बन जाओ, मैं तुम्हे सम्पूर्ण भोगो में अति उत्तम भोगों को भोगने वाला बना देता हूँ ।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदशा लभ्भनीया मुनष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।।

(कठोपनिषद-१/१/२५)

अनुवाद - जो जो भोग मनुष्य लोक में दुर्लभ है उन सम्पूर्ण भोगों को इच्छानुसार मांगलो रथ और नाना प्रकार के बाजों के सहित इन स्वर्ग की अप्सराओं को अपने साथ ले जाओ, मनुष्यों को ऐसी स्त्रियाँ निःसदेह अलभ्य है। मेरे द्वारा दी हुई इन स्त्रियों से तुम अपनी सेवा कराओ। हे नचिकेता मरने के बाद आत्मा का क्या होता है, इस बात को मत पूछों।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

(कठोपनिपद-१/१/२६)

अनुवाद - हे यमराज, जिन भोगों का आपने वर्णन किया हैं वे क्षणभंगुर भोग और उनसे प्राप्त होने वाले सुःख मनुष्य के अन्तःकरण सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों का जो तेज है उसको क्षीण कर डालते है, इसके सिवाय समस्त आयु चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो अल्प ही होती है, इसलिए ये आपके रथ आदि वाहन और वे अप्सराओं के नाच गान तथा सेवा आदि आपके ही पास रहें यह मुझे नहीं चाहिये।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥

(कठोपनिपद-१/१/२७)

अनुवाद - मनुष्य धन से कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता है। जबकि हमने आपके दर्शन पा लिये है, तब धन को तो हम् प्राप्त कर ही लेगें, और आप जब तक शासन करते रहेगें तब तक तो हम जीवित रहेगें ही। इन सबको भी क्या मांगना ? अतः मेरे मांगने लायक वर तो आत्मज्ञान ही हैं।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्, मर्त्यः क्धःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा नतिदीर्धे जीविते को रमेत॥

(१/१/२८)

अनुवाद - यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणधर्मा है, इस तत्व को भलिभांति समझने वाला मनुष्य लोक का निवासी ऐसा कौन मनुष्य है, जोकि वुढ़ापे से रहित न मरने वाले आप सदृष्य महात्माओं का संग पाकर भी स्त्रियों की, सौन्दर्य क्रीड़ा और आमोद प्रमोद का बार - बार चिंतन करता हुआ बहुत काल तक जीवित रहने में प्रेम करेगा।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥

(१/१/२९)

अनुवाद - हे यमराज जिस महान आश्चर्यमय परलोक सम्वंधी आत्म ज्ञान के विपय में लोग यह शंका करते है कि यह आत्मा मरने के बाद रहता है या नहीं उसमें जो निर्णय है वह आप हमें बतलाईये, जो यह अत्यन्त गंभीरता को प्राप्त किया हुआ वर है, इससे दूसरा वर नचिकेता तहीं मांगता ।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उथे नानार्थे पुरूष॰ सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।।
(१/२/१)

अनुवाद - कल्याण का साधन अलग है, और प्रिय लगने वाले भोगों का साधन अलग ही है, वे भिन्न - भिन्न फल देने वाले दोनों साधन बांधते है - अपनी - अपनी ओर आकर्पित करते है उन दोनों में से कल्याण के साधन को ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है, परन्तु जो सांसारिक भोगों के साधन को स्वीकार करता है, वह यथार्थ लाभ से भ्रष्ट हो जाता हैं ।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।
(१/२/२)

अनुवाद - श्रेय और प्रेय ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते है, बुद्धिमान मनुष्य उन दोनों के स्वरूप पर भलीभांति विचार करके उनको पृथक - पृथक समझ लेता है, और वह श्रेष्ठ बुद्धि मनुष्य परमं कल्याण के साधन को ही भोग साधन की अपेक्षा श्रेष्ठ समझ कर ग्रहण करता है, परंतु मन्द बुद्धि वाला मनुष्य लौकिक योगक्षेम की इच्छा से भोगों के साधनरूप प्रेय को अपनाता है ।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपा॰श्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नेता॰सृंङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ।।
(१/२/३)

अनुवाद - हे नचिकेता उन्हीं मनुष्यों में से तुम ही ऐसे निःस्पृह हो कि प्रिय लगने वाले और अत्यन्त सुन्दर रूप वाले इस लोक और परलोक के समस्त भोगों को भलीभांति सोच - समझकर तुमने इन्हें छोड़ दिया, इस सम्पत्ति रूप श्रृंखला अर्थात् वेड़ी को तुम प्राप्त नहीं हुए, इनके बंधन में नहीं फँसे, जिसमें बहुत से मनुष्य फँस जाते है ।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।
(१/२/४)

अनुवाद - जो कि अविद्या और विद्या नाम से विख्यात है, यह दोनों परस्पर अत्यन्त विपरित और भिन्न-भिन्न फल देने वाली है । तुम नचिकेता को में विद्या का अभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि तुमको बहुत से भोग किसी प्रकार भी लुभा नहीं सकें हैं ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।

(१/२/५)

अनुवाद - अविद्या के भीतर रहते हुए भी अपने आपको बुद्धिमान और विद्वान मानने वाले, भोगों की इच्छा करने वाले वे मूर्ख लोग नाना योनियों में चारों और भटकते हुए ठीक वैसे ही ठोकरें खाते रहते हैं, जैसे अन्धे मनुष्य के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे मनुष्य अपने लक्ष्य तक न पहुंचकर इधर-उधर भटकते हैं और कष्ट भोगते है ।

"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥"

(१/२/६)

अनुवाद - इस प्रकार संपत्ति के मोह से मोहित निरंतर प्रमाद करने वाले अज्ञानी को परलोक नहीं सूझता है, वह समझता है कि यह प्रत्यक्ष दिखने वाला लोक ही सत्य है, इसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है अर्थात् स्वर्ग या नरक आदि लोक नहीं है । इस प्रकार मानने वाला अभिमानी मनुष्य बार-बार मेरे (यमराज के अर्थात् मृत्यु के) वश में आता है । (कठोपनिषद् - १/१/२३ से १/२/६ तक का उद्धरण)

कठोपनिषद् में मृत्यु के देवता यमराज द्वारा जो प्रलोभन आत्म तत्व के जिज्ञासु नचिकेता को प्रत्यक्ष रूप में दिये गये हैं, वह ही समस्त प्रलोभन प्रत्येक साधक के समक्ष उपस्थित होते हैं, साधना के मार्ग में आगे बढ़ने के साथ-साथ ही, संपत्ति तथा अन्य भोग सभी सुविधायें परम तत्व द्वारा उपलब्ध करा दी जाती हैं, साधक को अपने स्वयं का बोध प्राप्त करा देने के पहले ही । यदि साधक सन्त या महर्षि/महात्मा बनकर इन्हीं से जुड़ जाता है, तो वह इनका लौकिक प्रबन्धनकर्ता ही बन जाता है, वह लौकिक सम्पत्ति का अधिपति बन जाता है, जिसे मठाधीश होना कहा गया है । यह एक अन्धे द्वारा दूसरे अन्धे को मार्ग दिखाने जैसा ही होता है, इन लौकिक सम्पत्ति के प्रबन्धन कर्ता मठाधीशों द्वारा उपदेश दिया जाना । आत्म तत्व के जिज्ञासु के लिये आवश्यक है कि वह इन भोगों से

तथा सुख-सुविधाओं से विरत रहकर अपने स्वरूप को ही जान लेवें और इसके लिये आवश्यक होता है कर्म को अपना लेना, कर्म को करते हुए जीवन यापन करना स्वयं को परम तत्व का अंग मानकर उसके सृष्टि कर्म को पूर्णता की ओर ले जाने में सौपे गये या कि स्वयं के द्वारा धारण किये गये कार्य को अपनाकर उसमें पूर्णता को प्राप्त करना या कि श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेना ।

हरि ॐ

अविनयमपनय विष्णोदमय मनःशमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥
दिव्यधुनामकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे ।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥

अनुवाद -

हे परम तत्व परमेश्वर, मेरे अविनय को दूर कीजिये, मेरे मन की स्वेच्छाचारिता का दमन कीजिये और विषयों की मृगतृष्णा को शांत कर दीजिये । सभी प्राणियों के प्रति मेरा दया भाव अर्थात् करूणा का विस्तार कीजिये और मुझे इस संसार-सागर से पार लगाइये । मैं परमेश्वर लक्ष्मीपति के उन चरण कमलों की वंदना करता हूं, जिनका मकरंद और सौरभ सच्चिदानन्द है तथा जो संसार के भय और दुःखों को छेदन करने वाले अर्थात् नष्ट करने वाले हैं ।